संवर्ग – 1

इकाई – 1

पुनर्जागरण

1.0 पुनर्जागरण
1.1 पुनर्जागरण का अर्थ
1.1.1 विभिन्न इतिहासकारों की दृष्टि में पुनर्जागरण
1.1.2 पुनर्जागरण की विशेषताएं
1.3 पुनर्जागरण के कारण :
1.3.1. प्राचीन साहित्य का अध्ययन
1.3.2. धर्म–युद्ध
1.3.3. व्यापारिक यात्राएं और विदेशों से सम्पर्क
1.3.4. सामन्तों को चर्च का सहयोग
1.3.5. साहित्यकारों और विद्वानों का योग
1.3.6. छापेखाने का आविष्कार
1.3.7. मानववाद का प्रचार
1.3.8 कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार
1.3.9 शिक्षा का विकास
1.3.10 स्कालिष्टि विचारधारा
1.3.11 नगरों में वृद्धि
1.4 पुनर्जागरण का जन्मस्थल : इटली
1.5 विविध क्षेत्रों में पुनर्जागरण का विकास और प्रभाव
1.5.1 साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण
1.5.2 कला के क्षेत्र में
1.6 पुनर्जागरण के परिणाम
1.7 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.0 पुनर्जागरण :

यूरोप के इतिहास में कुछ विशेष घटनाचक्र और आन्दोलन ऐसे है जो उसके प्राचीन युग, मध्य–युग और आधुनिक युग को एक–दूसरे से पृथक् करते है। प्रायः 15वीं शताब्दी के साथ यूरोप के मध्य–युग का अन्त और 16वीं शताब्दी से नवीन, अर्थात् आधुनिक युग का सूत्रपात समझा जाता है। इस युग के पहले और इस काल में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटित हुई जिन्हे नवीन युग की प्रगति का सन्देशवाहक माना जाता है। इसमें से कुछ प्रमुख है – पुनर्जागरण, भौगोलिक अनुसन्धान, धर्म सुधार आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति आदि। यहां हमारा मन्तव्य पुनर्जागरण को समझाना है।

1.1 पुनर्जागरण का अर्थ :

जेमस एडगर स्वेन ने लिखा है कि ''पुनर्जागरण से ऐसे सामूहिक शब्द का बोध होता है जिसमे मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक काल के प्रारम्भ तक के बौद्धिक परिवर्तन का समावेश हो।'' साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है 'नूतन जन्म' किन्तु

व्यावहारिक दृष्टि से यह वह आन्दोलन था जिसने यूरोप के जीवन और उसकी विचारधारा में महान् परिवर्तन ला दिए। पर यह कोई राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन नहीं था। यह तो मानव मस्तिष्क की एक अनोखी जिज्ञासापूर्ण स्थिति थी जिसके फलस्वरूप मध्यकालीन अन्धविश्वासपूर्ण विचारों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई और अधिकांशतः उन सभी बातों का बीजारोपण हुआ जिनकी झलक हमें आधुनिक युग में दिखलाई पड़ती है।

पुनर्जागरण कोई ऐसी सीमा रेखा नहीं थी जिसने मध्यकाल और आधुनिककाल का विभाजन कर दिया हो। पुनर्जागरण की स्थिति किसी एक व्यक्ति, एक स्थान अथवा एक विचारधारा के कारण भी नहीं आई। यह तो वास्तव में उन सब महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवर्तनों का सामूहिक संकेत है जो 1300 ई. के बाद से 1600 ई. तक यूरोप मे जारी रहे। इस आन्दोलन को प्रायः शिक्षा की चेतना कहा जाता है। मुख्यतः इटली में 1300 ई. के बाद बौद्धिक और सांस्कृतिक पुनर्जागृति हुई और 1600 ई. तक वह यूरोप के अन्य भागों में फैल गई। इन शताब्दियों में धीरे–धीरे वे सभी बातें, जिनका सम्बन्ध मध्यकाल से था, मिटती चली गई तथा वे सभी बातें जो आधुनिक काल से सम्बद्ध थी, अंकुरित और विकसित होती गई। महान् बौद्धिक जागृति ने लोगों में आलोचनात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की। लोग प्रचलित विश्वासों और प्रथाओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। जीवन के बारे में लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और उनमें इतना साहस पैदा हो गया कि वे तत्कालीन संस्थाओं को चुनौती देने लगे। इन शताब्दियों में सामन्तवाद का प्रभाव धीमा पड़ कर समाप्त हो गया। कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा घटते–घटते नष्ट हो गई। संघ व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई, धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया और जिज्ञासा, खोज, आविष्कार आलोचना तथा सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जागृत हुई। ये सभी परिवर्तन धीरे–धीरे हुए और उन सबका परिणाम यह हुआ कि इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे का सूत्रपात हुआ।

1.1.1 विभिन्न इतिहासकारों की दृष्टि में पुनर्जागरण :

लार्ड एक्टन – ''नई दुनिया के प्रकाश में आने के उपरान्त प्राचीन सभ्यता की पुनः खोज मध्य युग के इतिहास को अन्त करने वाली तथा आधुनिक युग के आरम्भ को सूचित करने वाली दूसरी सीमा की प्रतीक है। पुनर्जागरण यूनानी साहित्य के पुनः अध्ययन एवं उससे उत्पन्न परिणामों को सूचित करता है।''

सीमोण्ड – 'रेनेसां' एक ऐसा आन्दोलन है जिसके फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्र मध्य युग से निकलकर वर्तमान युग के विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे।

चैनलून – ''रेनेसां (पुनर्जागरण) राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन न होकर मानस की एक विशिष्ट स्थिति को उजागर करता है।''

डेविस – ''पुनर्जागरण शब्द मानव के स्वातन्त्र्य प्रिय साहसी विचारों को, जो मध्य–युग में धर्माधिकारियों द्वारा जकड़े व बन्दी बना दिए गये थे, व्यक्त करता है।''

उपर्युक्त तथ्यों व इसके स्वरूप से यह स्पष्ट है कि पुनर्जागरण एक आकस्मिक घटना नहीं वरन् यह एक वह आन्दोलन था जिसकी प्रक्रिया चौदहवीं सदी से सोलहवीं सदी के अन्तिम वर्षों तक चलती रही।

1.1.2 पुनर्जागरण की विशेषताएं :

पुनर्जागरण की मुख्य विशेषता स्वतन्त्र चिन्तन है। मध्य युग में व्यक्ति के चिन्तन एवं मनन पर धर्म का कठोर अंकुश लगा हुआ था। पुनर्जागरण ने आलोचना को नई गति एवं विचारधारा को नवीन निडरता प्रदान की। पुनरूत्थान का लक्ष्य परम्परागत विचारधाराओं को स्वतन्त्र आलोचना की कसौटी पर कसना था। वैज्ञानिक ढंग से किसी बात की व्याख्या करना था। पुनर्जागरण की दूसरी विशेषता मनुष्य को अन्धविश्वास, रूढ़ियों तथा चर्च के बन्धनों से मुक्त करा कर उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास करना था। पुनर्जागरण की तीसरी विशेषता मानववादी विचारधारा थी। मध्ययुग में चर्च ने लोगों को बतलाया था कि इस दुनिया में जन्म लेना ही घोर पाप है। अतः प्रयास करना चाहिए। अर्थात् मध्ययुग ने मनुष्य को इस जीवन का आनन्द उठाने से मना किया और परलोक को सुधारने पर बल दिया। इसके विपरीत पुनर्जागरण नेमनुष्य को इस जीवन का पूरा–पूरा आनन्द उठाने को कहा। मानव जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा दी। धर्म और मोक्ष के स्थान पर मानवता के उद्धार का सन्देश दिया। पुनर्जागरण ने मनुष्य को इस पृथ्वी का श्रेष्ठ अभिमत माना और मानव जीवन को और अधिक सुखी, सुन्दर तथा आनन्दमय बनाने का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः पुनर्जागरण ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कशमकश करती हुई मानव जाति का यथार्थवादी संसार की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कियां यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। पुनर्जागरण की एक अन्य विशेषता देशज भाषाओं का विकास थी। अब तक केवल यूनानी तथा लेटिन भाषाओं में लखे गये ग्रन्थ को ही महत्वपूर्ण समझा जाता था। पुनर्जागरण ने लोगो की बोलचाल की भाषाओ को गरिमा एवं सम्मान दिया। क्योकि इन भाषाओं के माध्यम से सामान्य लोग बहुत जल्दी ज्ञानार्जन कर सकते थे। अपनी व्यक्तित्व का विकास कर सकते थे। अपने विचारों को सुगमता के साथ अभिव्यक्त कर सकते थे। देशज भाषा का प्रयोग रेनेसा का एक मुख्य लक्षण था। चित्रकला के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेषता थी यथार्थ का चित्रण। वास्तविक सौन्दर्य का अंकन। विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेषता थी – निरीक्षण, अन्वेषण, जांच और परीक्षण। इस वैज्ञानिक भावना ने मध्ययुगीन अन्य विश्वासों और मिथ्या विश्वासों को अस्वीकार कर दिया।

1.3 पुनर्जागरण के कारण :

1.3.1. प्राचीन साहित्य का अध्ययन :

लगभग 13वी सदी से ही प्राचीन साहित्य के अध्ययन के प्रति लोगों मे रूचि जागृत हो गई थी। यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। यूनानी भाषा के पुनः अध्ययन से लोगों की – विशेषकर बौद्धिक वर्ग को एक नई संस्कृति, नए विचार और जीवन की नई पद्धति का ज्ञान हुआ। उनके ह्रदय में जिज्ञासा–प्रवृति विकसित हुई, स्वतन्त्र दृष्टिकोण पनपने लगा, मस्तिष्क में उदारता का संचार हुआ और वे चर्च तथा सत्ता की आज्ञाओं को तर्क की तराजू पर तोलने पर बोलने लगे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन ने मस्तिष्क के महत्व में वृद्धि की।

1.3.2. धर्म–युद्ध :

पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण वे धर्म–युद्ध थे जो यूरोप के ईसाइयों और मध्य–एशिया के तुर्कों के बीच, ईसाइयों के तीर्थ–स्थान जेरूसलम आदि के अधिकार के लिए लड़े गये। इन युद्धों में सभी प्रकार के लोग विभिन्न प्रेरणावश शामिल हुए। यद्यपि इस्लाम के विजय अभियान को नहीं रोका जा सका, तथापि ईसाइयों को इन युद्धों के फलस्वरूप कई नवीन बातों का पता चला। इन युद्धों ने यूरोप के हजारो व्यक्तियों को नए विचारों और अजनबी लोगों के सम्पर्क में ला दिया, और वे जब अपने देशों को वापस लौटे तो उन्होंने अपने अनुभव की चर्चा की। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियों में नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उनका सुप्त शौर्य जाग उठा और उन्होंने प्रगति की तरफ कदम बढ़ाने का फैसला कर लिया।

1.3.3. व्यापारिक यात्राएं और विदेशों से सम्पर्क :

धर्म–युद्धों से यूरोपीय व्यापार को बड़ा नुकसान पहुंचा क्योंकि इससे मुस्लिम व्यापारियों का माल आना बन्द हो गया। अतः यूरोपियों ने भूध्यसागर की लहरों को चीर कर व्यापार की खोज में, दूर–दूर के देशों की यात्रा शुरू की। वेनिस और मिलन, लूका और फ्लोरेंस व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए। बाहर की दुनिया से सम्पर्क होने से यूरोप के लोगों में एक नए दृष्टिकोण का संचार हुआ और उन्होंने पूर्व की प्रगतिशील सभ्यता से बहुत कुछ सीखा। उनके बौद्धिक जीवन पर धर्म का नियन्त्रण कुछ ढीला हुआ, पुराने विचारों की जंजीरे टूटने लगी और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना का उदय हुआ।

1.3.4. सामन्तों को चर्च का सहयोग :

वाणिज्य व्यापार के विकास से व्यापारियों का प्रभाव बढ़ने लगा और वे शासन के क्षेत्र में अग्रसर हुए, लेकिन सामन्तों ने उनकी बढ़ती शक्ति को चुनौती दी और चर्च ने भी उन्हीं को सहयोग दिया। परिणाम यह हुआ कि व्यापारी और उनसे सम्बन्धित जन–साधारण चर्च को शंका की दृष्टि से देखने लगे। वे लोग चर्च की सभी बातों पर विश्वास करते थे, किन्तु अब वे विश्वासों को तर्क की कसौटी पर कसने लगे जिससे उन सिद्धान्तों का खोखलापन प्रकट होने लगा और सम्पूर्ण यूरोप में ज्ञान–विज्ञान की लहर फैली।

1.3.5. साहित्यकारों और विद्वानों का योग :

अनेक साहित्यकारों और विद्वानों ने अपनी प्रखर लेखनी से नव–जागरण का प्रसार किया। उदाहरणार्थ, तेरहवीं शताब्दी मे ब्रिटेन के बेकन नामक विचारक ने तर्क और प्रयोग पर बहुत बल देते हुए विज्ञान की उन्नति में अपना विश्वास प्रकट किया। उसके ज्ञान से जगमगाते लेखों का प्रभाव लोगो के विचारों में परिवर्तन लाता गया। इस्लामी आक्रमणो के फलस्वरूप यूनानी विद्वान् पश्चिम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में आकर बसने लगे। उनके द्वारा गौरवपूर्ण प्राचीन यूनान के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ।

1.3.6. छापेखाने का आविष्कार :

पुनर्जागरण के विकास में छापेखाने के आविष्कार ने भारी योग दिया। साहित्य प्रकाशन न केवल सस्ताहोगया बल्कि पुस्तकें भारी संख्या में छपने लगीं और सर्वसाधारण को सुलभ हो गई। अब शिक्षा केवल धर्माधिकारियों तक ही सीमित नहीं रही, अपितु जन–साधारण ने धर्म के महत्व को समझा और उसकी बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की। लेटिन के स्थान पर स्थानीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी जाने लगी जिससे लोगों के विचारों में तेजी से परिवर्तन आने लगा।

1.3.7. मानववाद का प्रचार :

मानववाद शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'ह्यूमनिटीज' से हुई, जिसका अर्थ है 'विकसित ज्ञान'। इस विचारधारा के अनुयायी धर्म की संकुचित विचारधारा को नहीं मानते थें उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। पेट्रार्क और उसके अनुयायियों ने मानववाद का प्रसार किया। प्रारम्भ में तो धर्माधिकारियों नेइसका विरोध किया, परन्तु धीरे–धीरे यह विचारधारा विकसित हो गई, जिसके धार्मिक आडम्बारों की समाप्ति हुई और स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसार हुआ।

1.3.8 कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार :

1453 ई. मे तुर्कों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया। इससे पूर्वी रोमन साम्राज्य का सदैव के लिए पतन हो गया किन्तु इसके फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप मे जो ज्ञानोदय हुआ उसके प्रभाव एवं प्रसार ने नवयुग के आगमन की सूचना दी। तुर्कों के कुस्तुनतुनिया पर अधिकार, उनके अत्याचारों और पूर्वी रोमन साम्राज्य के अवशेषों को खत्म कर देने से कई महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए –

1. कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने से यूरोप से पूर्वी देशों को जाने वाले स्थल मार्ग पर अब तुर्कों का अधिकार हो गया। चूंकि तुर्क लोग व्यापारियों को लूट लिया करते थे, अतः यूरोप का पूर्वी देशों के साथ व्यापार बन्द हो गया। यूरोप में पूर्वी देशों की विलासिता की सामग्री तथा गर्म मसालों की जबरदस्त मांग थी। अतः पश्चिम दक्षिण यूरोप के लोग किसी नए व्यापार मार्ग, सम्भवतः जल मार्ग, खोज निकालने के लिए व्यग्र हो उठे। इस व्यग्रता नेही अमेरिका की खोज की, भारत एवं पूर्वी द्वीपों का जल मार्ग ढूंढ निकाला।

2. कुस्तुनतुनिया पिछले दो सौ वर्षों से ज्ञान, दर्शन तथा कला का महान् केन्द्र था। इस्लाम में नव–दीक्षित तथा बगैर तुर्कों के लिए इनकी न कोई उपयोगिता थी और न महत्व। फलतः यहां से आजीविका की खोज में हजारों युनानी विद्वान, दार्शनिक एवं कलाकार इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में चले गए। वे जाते समय प्राचीन रोम एंव यूनान का ज्ञान–विज्ञान तथा नयी चिन्तन पद्धति अपने साथ ले गये। अकेले कार्डिनल बेसारिओन 800 पांडुलिपियो के साथ इटली पहुंचा था।

1.3.9 शिक्षा का विकास :

मध्य युग के अन्त में शिक्षा की बहुत अधिक उन्नति हुई। इस समय यूरोप के बड़े–बड़े नगरों में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। वे धार्मिक नियन्त्रण से मुक्त थे। इनमें विद्यार्थी किसी भी विषय का अध्ययन करने के लिए स्वतन्त्र थे। शिक्षा की उन्नति के कारण मनुष्य प्राचीन ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसने लगे, जिससे अन्ध विश्वास की समाप्ति हुई और मनुष्य प्रत्येक विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार एवं मनन करने लगा।

1.3.10 स्कालिष्टि विचारधारा :

मध्य युग यूरोप के दर्शन मे एक नई विचाराधारा चल पड़ी थी, जो स्कालिष्टिक विचारधारा के नाम से प्रसिद्ध है। इस विचारधारा का आधार अरस्तु का तर्क शास्त्र और सेन्ट आगस्टाइन का तत्वज्ञान था। इसमें तर्क तथा धर्म दोनों का समन्वय था। तेरहवी शताब्दी में इस विचारधारा का बहुत अधिक प्रचार हुआ। इसी समय माहन विचारक रोजर बेकन ने इस विचारधारा का विरोध करते हुए वैज्ञानिक प्रयोगों पर जोर दिया। वह मशीन से चलने वाली ट्रेन, बस और हवाई जहाज की कल्पना करता था। इस वैज्ञानिक चिन्तन ने यूरोपवासियों की तर्क शक्ति को जाग्रत कर दिया, जिससे लोगों की स्वतंत्र चिन्तन शक्ति का विकास हुआ। इस घटना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने पुनर्जागरण में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

1.3.11 नगरों में वृद्धि :

व्यापार का विकास तथा सामन्तवाद के कारण यूरोप में अनेक बड़े–बड़े नगर स्थापित हुए। व्यापार के विकसित होने के कारण व्यापारी वर्ग धनवान बनता चला गया। यह वर्ग नगरों में निवास करने लगा। धन की प्रचुरता के कारण यह वर्ग विलासिता की और उन्मुख होने लगा। अत: इसने कठोर नियमो का उल्लंघन कर स्वतंत्र रूप से विचार करना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त व्यापारियों ने अपने रहने के प्रासादों को सुन्दर चित्रों एवं मूर्तियों से अलंकृत करवाया। इस प्रकार नगरों के विकास ने नवीन कला के सृजन में योग दिया।

इसके अतिरिक्त सामन्तों के नेतृत्व में जिन नगरों का विकास हुआ था, उनका स्वरूप यूनान के नगर राज्यों के जैसा बन चुका था। इन नगरों में सामंत ही प्रधान थे, इसलिएवहां सांस्कृतिक विकास भी स्वतंत्र रूप से होता रहा। ये नगर एक दूसरे से पूर्णरूपेण स्वतंत्र थे। इटली के फ्लोरेंश नामक नगर में सांस्कृतिक विकास स्वतंत्र रूप से हो रहा था। इस प्रकार नगरों के विकास के कारण पुनर्जागरण की स्थिति उत्पन्न हुई।

1.4 पुनर्जागरण का जन्मस्थल : इटली

पहले पहल पुनर्जागरण की अरूणिमा इटली मे फैली फिर वहां कैसे उसका प्रकाश जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि अन्य यूरोपीय राष्ट्रों में विस्तारित हुआ। प्रश्न उठता है कि इटली में ही पुनर्जागरण की शुरूआत क्यों हुई ?

1. इटली एक समृद्ध देश था। समृद्धि का कारण था – विदेशी व्यापार। भूमध्यसागरीय देशों में सबसे अनुकूल स्थिति इटली की ही थी जिससे मध्यकाल के अरब व्यापारियों द्वारा एशियाई देशों से लाया गया सामान अधिकांशत: इटली में ही बिकता था। यही से एशियाइ वस्तुएं अन्य यूरोपीय देशों में जाती थी।
2. व्यापारिक गतिविधियों के कारण मिलान, नेपल्स, फ्लोरेंस, वेनिस आदि नगरों की स्थापना हुई। इटली के अन्य नगरों के व्यापारी बाल्कान प्रायद्वीप, पश्चिमी ऐशिय, बाइजैन्टाइन, तथा मिश्र की यात्रा करते रहते थे। अरब तथा इरानी व्यापारी इन देशों में आते रहते थे।
3. इटली की समृद्धि से व्यापारिक मध्यम वर्ग का उदय हुआ। वहां का व्यापारी वर्ग इतना प्रभावशाली हो गया कि उसने सामंतों एवं पोप की परवाह करना बन्द कर दिया। इस वर्ग ने काफी हद तक मध्यकालीन मान्यताओं का उल्लघंन किया। इससे इटली में पुनर्जागरण की भावना को बल मिला।
4. व्यापार एवं उद्योग के कारण इटली यूरोप का एक धनी एवं समृद्ध देश बन गया था। वहां के व्यापारियों के प्रसाद एवं रहन–सहन का दर्जा यूरोप के किसी सम्राट की अपेक्षा अधिक वैभवशाली था। समृद्धि उस चमर बिन्दु पर पहुंच गई थी जहां व्यापारी अधिकाधिक खर्च करके भी उस सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर पा रहे थे। ऐसी स्थिति में इस विचारध ारा को पनपने में सहायता मिली कि उन्हें राजा महाराजाओं की भांति साहित्यकारों एवं कलाकारों को प्रश्रय एवं उत्साह प्रदान कर धन का उपयोग करना चाहिए।
3. इटली मे पुनर्जागरण का एक कारण यह भी था कि यह प्राचीन रोमन सभ्यता का जन्म स्थल रहा था। इतावली नगरों मे मौजूद प्राचीन रोमन सभ्यता के बहुत से स्मारक अब भी लोगों को उसकी याद दिलाते है। प्राचीन रोम जैसी महता एवं अपनेदेश को गौरवशाली बनाने का विचार उनके दिलों दिमाग पर छाया हुआ था। यह ज्ञातव्य है कि प्राचीनरोमन संस्कृति पुनर्जागरण के लिए प्रेरणा का केन्द्र रही। सर्वप्रथम दांते की रचनाओं मे इस प्रेरणा के चिन्ह दिखाई देते है।
4. रोम, जहां पोप निवास करता था, अब भी सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोपीय ईसाई जगत का केन्द्र बना हुआ था। कुछ पोप पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित हो बड़े विद्वानो और कलावन्तो को रोम लाए और उनसे यूनानी पांडुलिपियो का लैटिन भाषा में अनुवाद कराया। उनमें से एक पोप निकालस पंचम ने वैटिकन पुस्तकालय की स्थापना की और संत पीटर के गिरजे को बनाया। उसके अधीन लगभग समूचा रोम निर्मित हुआ। पोप के इन कार्यों का प्रभाव अन्यत्र भी हुआ।
4. राजनीतिक दृष्टि से इटली पुनर्जागरण के लिए उपयुक्त क्षेत्र था। पवित्र रोमन साम्राज्य समाप्त हो चला था और उत्तरी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इटली मे अनेक स्वतन्त्र नगर राज्यों का विकास हो गया था। इसके अलावा इटली में सामंत प्रथा दृढ़ नही थी। इननगर राज्यों में स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्दता का वातावरण था जिसमें वहां के नागरिकों में उत्साह एवं आवेग था।

5. मध्ययुगीन यूरोप में शिक्षा धर्म से विशेष प्रभावित एवं केन्द्रित थी किन्तु इटली में व्यापार के विकास के साथ एक नये प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता हुई जिसमें व्यावसायिक ज्ञान, भौगोलिक ज्ञानआदि को समुचित स्थान दिया।

1.5 विविध क्षेत्रों में पुनर्जागरण का विकास और प्रभाव :

पुनर्जागरण ने साहित्य, कला, भौगोलिक खोज आदि विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया। पुनर्जागरण की इन सभी प्रवृत्तियों को पृथक्–पृथक शीर्षकों में वर्णित करना अधिक उपयुक्त होगा।

1.5.1 साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण :

साहित्य में नवीन प्रवृत्ति का आरम्भ इटली से हुआ और शीघ्र ही इसने यूरोप के अन्य देशों को भी प्रभावित किया, पहले साहित्य मध्यकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों को शृंखला में जकड़ा हुआ था पर अब उसने सम्पूर्ण मानव जीवन और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के विशाल क्षितिज में पंख पसारे। यूनानी और लेटिन भाषाओं के प्राचीन साहित्य के साथ ही प्राचीन भाषाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया गया। नई भाषाओं के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा। 16वी सदी के मध्य तक यूरोप के सभी प्रमुख देशो की भाषाओं मे एक सशक्त गद्य शैली का विकास होने लगा और सृजनात्मक साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। नाटकों ने विशेष प्रगति की। प्राचीन यूनानी नाटककारो की सुखान्त और दुखान्त रचनाओ का अध्ययन और अनुकरण किया जाने लगा, पर साथ ही मौलिक शैलियों का भी विकास हुआ। पहला आधुनिक नाटक इंग्लैण्ड में तैयार किया गया। लाली (1564–1593) ने मुक्त छन्दो का आविष्कार किया जिससे शेक्सपियर की महान् रचनाओं का मार्ग सुगम हो गया।

बौद्धिक पुनर्जागृति इटली से आरम्भ हुई। 13वीं शताब्दी मे महाकवि दांते ने इटली की बोल–चाल की भाषा मे विचार प्रकट करना और लिखना शुरू किया। वह वास्तव में पुनर्जागरण का अग्रदूत था। 14वीं शताब्दी में पेट्रार्क और बोकेकिओ ने नवीन विचारों को प्रोत्साहित किया। पेट्राक प्रथम विद्वान् था जिसने मध्ययुग की शिक्षा का परित्याग कर अपने समकालीन लोगों को यूनानी और रोमन साहित्य की ओर आकर्षित किया। उसने दुर्लभ और विस्मृत पुस्तकों की खोज के अथक प्रयत्न किए, जिसके फलस्वरूप लोगों में पुस्तकालय स्थापित करने का नया उत्साह उत्पन्न हुआ। पेडुवा–विश्वविद्यालय में यूनानी साहित्य की कक्षाएं खुली और यूनानी विद्वान् बेसारिप्रोन नेवेनिस के एक चर्च को अपना पुस्तकालय भेंट कर दिया। बौद्धिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप साहित्य में मानववाद का नया दृष्टिकोण विकसित हुआ और इसका प्रथम प्रचारक पेट्रार्क ही था। उसके मित्र बेकोकिओं ने आधुनिक इटली के गद्य का जन्मदाता होने का श्रेय अर्जित किया। कुस्तुनतुनिया के विद्वान् क्रसोलोरस (1415 ई.) ने एक राजदूत के रूप में इटली मे अपनी विद्वता और शिक्षा की धाक जमाई।

इटली के पुनर्जागरण की लहर अन्य देशों में भी व्याप्त हो गई। इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम रोजर बेकन ने अज्ञान के विरूद्ध लम्बे–चौड़े लेख लिखे। उसने घोषणा की कि "सिद्धान्तों और धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो का सहारा छोड़कर अब संसार की ओर देखो।" फ्रांस के निबन्ध लेखक माण्टेन ने अपने निबन्धों में मानव जीवन की दिन–प्रतिदिन की घटनाओं का समावेश किया और व्यक्तिगत बातों की चर्चा की एक अन्य लेखक रेबीलेस ने अपने उपन्यासों द्वारा मानव के स्वतन्त्र चिन्तन के महत्व पर प्रकाश डाला। स्पेन के सर्वाण्टीज ने डान क्यिकजोट' नामक पुस्तक लिखी। इटली के मेकियावली ने अपने महान् ग्रन्थ 'दी प्रिन्स' में राजनीति और समाज का एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उसने पूरी तरह वैज्ञानिक तटस्थता अपनाकर समकालीन परिस्थितियों और समस्याओं को समझा और फिर अपने निष्कर्षो का प्रतिपादन किया। वह धार्मिकता, परम्परावादिता, रूढ़िवादिता और पाण्डित्य प्रदर्शन का घोर विरोधी था। उसने ये निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि नीति शास्त्र और राजनीति एक न होकर अलग–अलग है तथा शासन–कला का आचार शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं हे। जर्मनी में रूडोल्फ एग्रीकोला, क्रोटस रूबिप्रानस, वान हटन आदि ने समीक्षात्मक और धर्म–निरपेक्ष विचारो को प्रोत्साहन ऐरेसमस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मूर्खता की प्रशंसा' में तत्कालीन रूढ़िवादी सिद्धान्तो और मानव दुर्बलताओं पर प्रहार किया।

सारांशत: विभिन्न यूरोपीय देशों के सैकड़ों विद्वानों और लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारानवयुग के सिद्धान्तों और सन्देश का प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि विद्या और संस्कृति को चर्च की अधनीता से मुक्ति मिली। जहां पहले ईसाई धर्म और धार्मिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साहित्य का ही अध्ययन होता था वहां अब इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदि विषयों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन होने लगा। देवत्व और आध्यात्मिकता के स्थान पर मानव को प्रमुखता दी जाने लगी तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विकास हुआ।

1.5.2 कला के क्षेत्र में :

प्राचीनता के प्रति यूरोपवासियों का मोह केवल दर्शन और साहित्य तक ही सीमित नहीं था बल्कि कला को भी नया रूप प्रदान करने में उन्होंने पहल की। इस युग की कला का उद्देश्य जीवन एवं प्रकृति से तारतम्य स्थापित करना था किन्तु मध्यकाल में जीवन तथा प्रकृति के सौन्दर्य में लोगों की विशष अभिरूचि नहीं थी। कला का सार्वजनिक जीवन में घनिष्ठ संबंध नहीं था और उस पर धर्म का विशेष प्रभाव था लेकिन पुनर्जागरण काल में कला धार्मिक बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थवादी बन गयी। कला एवं सौन्दर्य के प्रदर्शन में कलाकार की रूचि बढ़ने लगी। कला का क्षेत्र व्यापक हो गया और सर्वसाधारण को भी उसमें स्थान मिला। इसको सन्देह नहीं कि कला के लए अभी भी धार्मिक विषयों का चयन किया जाता था। परन्तु अब सौन्दर्य, सजावट तथा प्रेम की उपेक्षा नहीं की गयी और मानवीयता पर अधिक ध्यान दिया गया। इस काल के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कला का अधिक विकास हुआ और एक नयी कला का जन्म हुआ।

चित्रकला — पुनर्जागरण काल में सबसे अधिक विकास चित्रकला के क्षेत्र मे हुआ। पन्द्रहवी शताब्दी तक चित्रकला न केवल धार्मिक विषयों तक सीमित थी वरन् रंगों एवं विषयों का चयन भी सीमित था। उस काल के चित्रों मे उदासी एवं एकरसता दृष्टिगोचर होती है। उनके विषय ईसा और मरियम ही थे किन्तु वे आदमी को भी चित्रित करने लगे। अब चटख रंग वर्जित नही रहे। चित्रकला की शैली चित्तकर्षक, ह्रदयग्राही, बुद्धिग्राही और अत्यन्त लावण्यमय बनकर चरमोत्कर्ष की तरफ बढ़ रही थी।

सर्वप्रथम इटली के जियटो ने परम्परागत बाइजेन्टाइन शैली से हटकर मानव एवं प्रकृति पर अनेक चित्र चित्रित किये। जियेटो को चित्रकला का जन्मदाता माना जाता है। यद्यपि जियटो की चित्रकला में कमियां थी किन्तु उनके चित्रों ने अनेक चित्रकारों को प्रेरणा दी। बाद के चित्रकारों ने उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया औरप्रकाश व छाया के रंगों का समन्वय तथा आकृति का सही अंकन पर अधिक जोर दिया गया। पुनर्जागरण काल के चित्रकारों ने मानव शरीर का सूक्ष्म अध्ययन किया और यह ज्ञान प्राप्त किया कि मनुष्य के शरीर की पेशियां और जोड़ किसी विशिष्ट स्थिति में कैसे उभरते है। इसीलिए वे अपनी कलाकृतियों को अधिक जीवंत बना सके।

नई शैली के प्रारम्भिक चित्रकारो में इटली के फ्रान्जेलिको और मेशेशियों का नाम गिना जाता है परन्तु इटली के तीन कलाकरों ने चित्रकला के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान दिया तथा पुनर्जागरण की भावना को पूर्ण अभिव्यक्त किया। वे चित्रकार है — लिओनादों का विन्ची माइकेल एंजेलो तथा राफेल।

फ्लोरेन्स निवासी लिओनादो की प्रतिभा अद्वितीय एवं बहुमुखी थीं वह वैज्ञानिक, गणितज्ञ, इंजीनियर, संगीतकार, दार्शनिक और चित्रकार संघ एक साथ था। चित्रकला जगत में उसका नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाता है। उसकी चित्रकला की विशेषताएं है — ''सादगी तथा भावाभिव्यक्ति, प्रकाश और छाया रंगों का उपयुक्त चयन और शरीर के प्रत्येक अंगों का स्वाभाविक एवं सुन्दर प्रदर्शन। उसके चित्रों में लास्ट सुपर और मोनालिसा प्रमुख और अनुपम समझे जाते है। लास्ट सपर में ईसा को अपने अनुयायियों के साथ आखिरी भोजन के समय बैठा दिखाया गया है। ईसा के चेहरे पर शान्ति का भाव है परन्तु उसके शिष्य हतप्रभ दिखाई देती है। मोनालिसा किसी सुन्दरी का चित्र नहीं है लेकिन उस साधारण सी दिखाई पड़ने वाली महिला की रहस्यमय मुस्कान का अर्थ आज भी दर्शक के लिए रहस्य बना हुआ है।

माइकल एंजेलो की गिनती अद्वितीय चित्रकारों में की जाती है। वह कलाकार के साथ मूर्तिकार, स्थापत्यकार, इंजीनियर और कवि भी था। वह मनुष्य को सृष्टि को सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति मानता था। उसके बनाए लगभग 145 चित्रों में सौन्दर्य भावना, कौशल और प्रतिभा का स्पष्ट प्रमाण मिलता है सिस्टाइन गिरजाघर की भीतरी छत पर उसने जो चित्रांकन किया वह आज भी कला मर्मज्ञों के लिए विस्मय की वस्तु है। उसका एक चित्र लास्ट जजमेन्ट जिसे पूरा करने में एंजेलो को लगभग आठ वर्ष लगे, सर्वश्रेष्ठ है। अनेक आकृतियों वाले इस विशाल चित्र में जीवन के अनेक रूप विद्यमान है।

पुनर्जागरण के कला के इतिहास के क्षेत्र में राफेल का नाम भी अत्यन्त उल्लेखनीय है। उस पर एंजेलों और लिओनादों दोनों का प्रभाव पड़ा। इसलिए उसके चित्रों में दोनों की चित्र शैलियों का समन्वय दिखाई देता है। राफेल के चित्र भी सजीवता एंव सुन्दरता

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के कारण आज भी विश्व प्रसिद्ध है। उसने वात्सल्य और मातृत्व का मनोहर चित्रण किया है। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना जीसस क्राइस्ट की मेडोना का चित्र है। मेडोना का दिव्य नारीत्व आज भी दार्शनिकों का मनमोह लेता है। उसके द्वारा बनाए भित्ति चित्र और समकालीन लोगों के चित्र अद्वितीय है।

इटली की चित्रकला का प्रभाव अन्य यूरोपीय देशों पर भी पडा। इस काल में जर्मनी में लूकस, ड्योरार, हैन्स दालवीन, स्पेन में डीगोवेलेस कैथ हालैण्ड में वान आइक बन्धु आदि प्रसिद्ध चित्रकार हुए।

स्थापत्य — पुनर्जागरण काल में स्थापत्य के क्षेत्र मे भी प्रगति हुई। मध्यमयुग में गोथिक शैली पुनर्जागरण में जंगली शैली का करार दिया गया, की प्रधानता थी। मध्यकाल में इसी शैली के आधार पर अधिकांश भवनों का निर्माण हुआ था किन्तु पुनर्जागरण युग में एक नई शैली का जन्म हुआ। नवीन शैली के यूनानी, रोमन तथा अरबी शैलियों का समन्वय हुआ। इसमें डिजाइन तथा सजावट पर विशेष महत्व दिया गया। गोल मेहराबों का उपयोग किया जाने लगा। इस नवीनशैली की शुरूआत इटली से हुई और बाद में अन्य देशों में इसका प्रसार हुआ। फ्लोरेन्स निवासी ब्रूनेलेस्की इस नवीन शैली क प्रवर्तक था। इस शैली में मेहराबों, गुम्बजों और स्तम्भों को प्रधानता दी गयी। उसने नुकीले महराबों के स्थान पर गोल मेहराबों का निर्माण किया।

सोलहवी शताब्दी मे इस नवीन शैली का पूर्ण विकास हो चुका था। इस शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध स्थापत्यकार माइकेल एंजेलो था। उसने तथा राफेल ने मिलकर रोम में सेट पीटर के गिरजाघर का निर्माण किया। इस गिरजाघर का विशाल और भव्य गुम्बज पुनर्जागरण स्थापत्य की अन्यतम देन है। इटली के पुनर्जागरण से प्रभावित स्थापत्यशैली का भी पश्चिम यूरोप पर प्रभाव पड़ा। पेरिस का लूवे प्रसाद, लन्दन का सन्तपाल का गिरजाघर, स्पेन का इस्कोरियल का प्रसाद आदि इस युग के अद्वितीय नमूने है।

मूर्तिकला — स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास समवेत रूप से हुआ। इस काल में लोरेंजो गिबेर्ती, दोनातेल्लो और माइकेल एंजेलों जैसे महान् मूर्तिकार हुए। इन्होंने केवल ईसा या मरियम का ही नहीं वरन् समकालीन प्रमुख व्यक्तियो की भी मूर्तियां बनाई। इस का मूर्तिकार जितना शौर्य को मूर्त करने में सक्षम था उतना ही करूणा का। इस काल में मूर्तिकला भी अन्य कलाओं की तरह धर्म के बन्धन से मुक्त हुई।

गिबेर्ती एक महान् मूर्तिकार था। उसने फ्लोरेन्स के गिरजाघर के लिए सुन्दर दरवाजों को निर्मित किया। ये कांसे के बने हुए है और इन पर प्राचीन टेस्टामेंट में वर्णित दृश्यों को अंकन किया गया है। माइकेल एंजेलों ने इनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि ये स्वर्ग में रखे जाने योग्य है। दोनातेललो के द्वारा निर्मित मूर्तियों का विषय मानव जीवन था। दोनातेललों द्वारा निर्मित वेनिस की संतमार्क की आमदकद मूर्ति श्रेष्ठ कलाकृति मानी जाती है दोनातेल्लो ने बच्चों की अनेक सज्जी मूर्तियां बनाई। एंजेलों द्वारा अनेक सून्दर मूर्तियों का निर्माण किया गया। उसकी बनाई गई मूर्तियां मेडिची के गिरजाघर में रखी गयी। उसके द्वारा बनाई गयी मूर्तियों में दो अति प्रसिद्ध है। एक, पेंता जिसका निर्माण रोम में किया गया था और उसे सेंट पीटर के गिरजाघर के मुख्य द्वार पर रखा गया। दूसरी, डेविड की मूर्ति है जिसे फ्लोरेन्स के नागरिकों ने बनवाया था। उसने डेविड को वीर पुरूष के रूप में तो प्रस्तुत किया ही साथ ही उसके व्यक्तित्व में कोमलता की भी प्रस्तुत किया।

इटली की मूर्तिकला से इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और स्पेन की कला भी प्रभावित हुई। स्पेन में ईसाबेला और सम्राट फर्डिनेट की समाधियों मं नई शैली के दर्शन होते है। इंग्लैण्ड में हेनरी सप्तम् और फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम ने इस शैली को विकसित किया। दोनों शासकों ने अपने-अपने दशो में इटली के मूर्तिकारों को आमंत्रित किया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में मूर्तिकला की नवीन शैली का प्रसार हो गया।

विज्ञान के क्षेत्र में — पुनर्जागरण काल में विज्ञान के क्षेत्र मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। पुनर्जागरण काल के विद्वान प्राचीन विद्वानों के कथन में अन्धविश्वास रखकर उस पर आचरण करने के पुरानेढंग से सन्तुष्ट न हुए। वे संसार की समस्याओं को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे और प्रत्येक तर्क को कसौटी पर कसना चाहते थे। इससे विज्ञान की उन्नति सम्भव हुई। फ्रांसिस बेकन ने इस काल के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वर्णन करते हुए लिखा है कि ज्ञान की प्राप्ति केवल प्रेक्षण और प्रयोग करने से ही हो सकती है। बेकन के अनुसार जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। उसे पहले घटनाओं का अध्ययनकरना चाहिए जो संसार में उसके चारो और हो रही है। फिर उसे स्वयं से प्रश्न करना चाहिए कि यह घटनाएं किस कारण से होती है। जब वह किसी घटना के सम्भावित करण के विषय में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक सिद्धान्त बना ले या उसका विश्वास हो जाये तो उसकी प्रयोगात्मक ढंग से जांच करें। इसी प्रकार की वैज्ञानिक विधि का इस युग में प्रारम्भ किया गया।

दूसरी शताब्दी ई. में मिश्र के यूनानी खगोल शास्त्री टॉलमी ने यह प्रतिपादित किया था कि पृथ्वी विश्व के केन्द्र में स्थित है किन्तु सोलहवी शताब्दी में पोलैण्ड के वैज्ञानिक कोपर्निकस ने इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध कर दिखाया। उसने बताया कि पृथ्वी एक उपग्रह है तथा यह सूर्य के चारों और घूमती है। प्रेक्षण और गणना के पश्चात ही कोपर्निकस ने यह निष्कर्ष निकाला। किन्तु विश्वविद्यालय के प्राध्यापक अब भी प्राचीन सिद्धान्त में आस्था रखते थे। धार्मिक विद्वानों ने भी कोपर्निकस का घोर विरोध किया। उन्होंने उसके नये सिद्धान्त को इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योकि यह बाइबिल के वक्तव्य के अनुकूल न था। पोप के आदेश से कोपर्निकस को अपनेनये विचारो का प्रचार बन्द करना पड़ा। परन्तु जब इटली के वैज्ञानिक जाइडिनी ब्रूनों ने कोपर्निकस के सिद्धान्त का अनुमोदन कर उसके विचारों का प्रसार किया तो रोम के धर्माधिकारियों ने उसे जिंदा जला दिया। जर्मन खगोल शास्त्री जॉन केपलर कोपर्निकस के सिद्धान्तों की गणित के प्रमाणों से पुष्टि की। उसने बताया कि ग्रह सूर्य के चारों और चक्कर लगाते है और उनका पथ वर्तुल नहीं अपितु दीर्घवृतीय होता है। इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियों ने भी कोपर्निकस के सिद्धान्त को स्वीकार किया और एक दूरबीन के द्वारा, जो उसने स्वयं बनाया था, सूर्य, तारों और ग्रहों को देखा गैलिलियों को उसके विचारों के कारण चर्च का कोपभाजन बनाना पड़ा। गैलिलियो ने अरस्तु के सिद्धान्त के विपरीत यह भी सिद्ध किया कि गिरते हुए पिण्डो की गति उनके भार पर नहीं अपितु दूरी पर निर्भर करती है, जहां से वे गिरती है।

इसी युग में इंग्लैण्ड के महान् वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ आइजजक, न्यूटन ने गुरूत्वाकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसने खगोल विज्ञान को काफी प्रभावित किया। उसने सिद्ध किया कि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की आकर्षक शक्ति के कारण ऊपर से पृथ्वी की और खीचती है। न्यूटन के अन्वेषण का व्यापक प्रभाव पड़ा। अब यह स्पष्ट होने लगा कि विश्व कोई देव योग या आकस्मिक घटना नहीं, जैसे कि बहुत लोग साचते थे, अपितु एक ऐसी वस्तु है जो प्रकृति के सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार चल रही है।

उस युग में खगोल विज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सा, रसायन, भौतिक एवं गणितशास्त्र के क्षेत्र में भी अपूर्व उन्नति हुई। नीदरलैण्ड के वेसेलियस ने औषधि तथा शल्य प्रणाली का गहन अध्ययन किया और मानव शरीर की बनावट नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी और शरीर के विभिन्न अंगों का समुचित विवरण प्रस्तुत किया। इंग्लैण्डवासी विलियम हार्वे ने पशुओं का सावधानी से प्रेक्षण और प्रयोग करके रक्त प्रवाह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस ज्ञान के कारण प्राचीन काल की अनेक भूलें ठीक हो गयी और स्वास्थ्य तथा रोग की समस्याओं का अध्ययन नये ढंग से हुआ।

रसायन शास्त्र के क्षेत्र में पैरासेल्सस, हैलमौट आदि ने विशेष योगदान दिया। पैरासेल्सस ने रसायन तथा चिकित्सा शास्त्र का निकट सम्बन्ध सिद्ध किया। हैलमौट ने कार्बन डाई ऑक्साइड नामक गैस की खोज की।

डकार्ते एक फ्रासीसी गणितज्ञ एवं दार्शनिक था। उसने सर्वप्रथम यह बताया कि बीजगणित का उपयोग जयातिकत मे कैसे किया जाता है। उसने विज्ञान में सन्देहवाद को जन्म दिया। इससे विज्ञान की प्रगति में काफी सहायता मिली।

गैलिलियों ने भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसने पेण्डुलम के सिद्धान्त का आविष्कार किया जिससे आजकल की घड़ियों का निर्माण सम्भव हुआ। उसी ने वायु माप सयंत्र का आविष्कार किया।

1.6 पुनर्जागरण के परिणाम :

पुनर्जागरण काल में विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई, विकास और जागृति की जो लहर आई, उसके बहुत ही महत्वपूर्ण परिणाम निकले –

1. चर्च के नियन्त्रण से मुक्त हो कर विद्या और संस्कृति का स्वतन्त्र रूप से विकास होने लगा तथा यह इच्छा पैदा हुई कि ज्ञान–प्राप्ति का सरल माध्यम होना चाहिए, अतः लोक–भाषाओं का विकास हुआ।

2. जीवन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदल गया। वे जीवन को नई दृष्टि से देखने लगे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विकास हुआ जिसे मानवता कहते है। देवत्व और आध्यात्मिकता के स्थान पर मानव को प्रमुखता दी जाने लगी। आत्मनिग्रह और वैराग्य के आदर्श प्रभावहीन हो गए।

3. यूरोपवासियों में अतिप्राचीन विश्व की और जिज्ञासा उत्पन्न हुई तथा मध्यकालीन संस्कृति का बहिष्कार हुआ। प्राचीन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

काल का अध्ययन प्रतिक्रियात्मक ढंग से हुआ, अतः कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में अतिप्राचीन यूनान और रोम का अनुसरण किया गया, न कि निकट प्राचीन काल का।

4. धार्मिक अन्धविश्वासों के स्थान पर तर्क और बुद्धि की प्रधानता स्थापित होने के कारण ईसाई धर्म का महत्व क्षीण हुआ तथा सर्वसाधारण धर्म के ठेकेदारों के चंगुल से निकलने में सफल हो गए। कैथोलिक धर्म के विरूद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और वह कुछ ही अर्से में अनेक उप–शाखाओं में फैल गया।

5. राजनीतिक दृष्टि से यूरोप में सामन्तवाद का ह्रास तथा उसके स्थान पर शक्तिशाली राष्ट्रों का उदय हुआ। संयुक्त यूरोप कई राष्ट्रीय राज्यों में विभक्त हो गया। राजनीतिक कार्यों में पोप का हस्तक्षेप समाप्त हो गया तथा जनसाधारण में राष्ट्रीय भावनाएं विकसित हुई। इस विचार की स्थापना हुई कि राज्य ईश्वरकृत न होकर मानवकृत है।

6. व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ी, जनता शिक्षित होने लगी और कुलीनवंशीय लोगों की शक्ति, महत्ता और सम्मान में भारी कमी आई।

7. भौगोलिक खोजों को बहुत प्रेरणा मिली। यूरोप वालों ने पूर्व की ओर जाने के लिएनए मार्ग ढूंढ निकाले और ऐसे भू–खण्डों का पता लगाया जो अभी तक अज्ञात थ। एक 'नई दुनिया' का उन्हें ज्ञान हुआ। वास्को–डी–गामा ने 1498 ई. में भारत के जल–मार्ग की खोज की। कोलम्बस ने सन् 1442 में नई दुनिया (अमेरिका) का पता लगाया। 1447 ई. में वेनिस का मांझी कैबट पहली बार अमेरिका के मुख्य महाद्वीप पर उतरा। पुर्तगाली मैगलन ने पहली बार दुनिया का चक्कर लगाया। इटली के मल्लाह अमेरिगो वस्पूच्ची ने एटलाण्टिक महासागर पार कर उस भू–खण्ड के दर्शन किए जहां पहले कोलम्बस और कैबट पहुंच चुके थे। उसने पहली बार इस सत्य का पता लगाया कि वह भू–खण्ड (जिसे कोलम्बस और कैबट भारत समझ रहे थे) एक दूसरा महाद्वीप है और इस तथ्य का पता चलने पर ही इस भू–खण्ड का नाम अमेरिकगो के नाम पर अमेरिका पड़ा।

8. पुनर्जागरण के फलस्वरूप धार्मिक क्रान्ति हुई और भौगोलिक खोजों के कारण व्यापारिक क्रांति हुई तथा उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार पुनर्जागरण आन्दोलन प्रभाव और परिणाम की दृष्टि से हर खेत्र में महान् सिद्ध हुआ।

1.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों ने कब अधिकार किया ?

(अ) 1450 ई. (ब) 1453 ई.

(स) 1452 ई. (द) 1456 ई.

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – 'पुनर्जागरण की विशेषताएं बताइएं? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – पुनर्जागरण का अर्थ बताते हुए इसके कारण और परिणामों को विवेचित किजिए?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तर – .....

इकाई – 2

धर्म सुधार आन्दोलन

2.0 धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ

2.0.1. रोबर्ट इरगैग के अनुसार

2.0.2. इतिहासकार फिशर लिखते है

2.0.3. डी.जे. हिल के शब्दों में

2.1 धर्म सुधार के उद्देश्य

2.2 धर्म–सुधार आन्दोलन के कारण

2.2.1. पुनर्जागरण

2.2.2. प्रारम्भिक सुधारकों द्वारा धर्म सुधार की लहर पैदा करना

2.2.3. पोप की सांसारिकता और भ्रष्टाचार

2.2.4. राजनीतिक क्षेत्र में पोप का हस्तक्षेप

2.2.5. व्यापारियों और शासकों में मेल–मिलाप

2.2.6. धार्मिक न्यायालयों का अन्याय

2.2.7. तात्कालिक कारण : क्षमा पत्रों का विक्रय

2.3 विभिन्न धर्म सुधारकों का आविर्भाव

2.4 धर्म सुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर का योगदान

2.4.1 लूथर के सिद्धान्त

2.5 धर्म सुधार आन्दोलन का प्रसार

2.6 धर्म–सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्व

2.7 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.0 धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ :

यह एक धार्मिक आन्दोलन था। यूरोप का मानव समाज सोलहवीं सदी के प्रारम्भ तक पर्याप्त रूप से शिक्षित हो गया था। वह अब पोप व उसके अधीनस्थ धर्माधिकारियों का जीवन विलासिता में व्यतीत होता देखने को उद्यत नहीं था। अतः लोग चर्च की बुराइयों कानिवारण कर उनमें सुधार लाना चाहते थे। पोप के जीवन को वे केवल धार्मिक–कार्यों का सम्पादन करते देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि धर्माधिकारी चरित्रहीन एवं भ्रष्ट जीवन व्यतीत करें। धर्माधिकारियों की चारित्रिक बुराइयों को दूर करने हेतु

कुछ प्रतिभा सम्पन्न एवं आध्यात्मिक पुरूषों के नेतृत्व में यूरोप के जन–समाज ने जो सामूहिक आन्दोलन किया, वही आन्दोलन इतिहास में धर्म–सुधार आन्दोलन के नाम से विख्यात है। यह आन्दोलन भी पुनर्जागरण की भांति विश्व का एक महान् एवं युगान्तकारी आन्दोलन था। वारनर व मार्टिन ने इस आन्दोलन की संक्षेप में परिभाषा इसप्रकार बताई है – ''धर्म सुधार पोप–पद की सांसारिकता व भ्रष्टाचार के विरूद्ध एक नैतिक विद्रोह था'' परन्तु इस आन्दोलन से मानव का केवल धार्मिक जीवन ही प्रभावित नहीं हुआ वरन् उसके जीवन के अन्य पहलू भी प्रभावित हुए। इसलिए अन्य विद्वानों ने इस आन्दोलन की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी है –

2.0.1. रोबर्ट इरगैंग के अनुसार :

''धर्म सुधार आन्दोलन एक जटिल एवं सुदूरगामी आन्दोलन था। सांस्कृतिक पुनरूत्थान की भांति ही धर्म सुधार आन्दोलन मध्ययुगीन सभ्यता के विरूद्ध एक साधारण प्रतिक्रिया मात्र नहीं था, वरन् राष्ट्रों के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने वाला था, क्योंकि सभी मनुष्य कला एवं साहित्य की अपेक्षा धर्म में अधिक अभिरूचि रखते थे। मूलतः यह आन्दोलन धार्मिक था। साथ ही इसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं बौद्धिक पहले भी सन्निहित थे, जिनका धर्म से बहुत दूर का सम्बन्ध था।

2.0.2. इतिहासकार फिशर लिखते हैं :

''प्रोटैस्टेट धर्म सुधार आन्दोलन पोप की धार्मिक निरंकुश या सत्ता, पुरोहित के विशेष अधिकारों व भूमध्यसागरीय जातियों के वंशानुगत असहिष्णु धर्म (कैथोलिक धर्म) के विरूद्ध एक विद्रोह था। एक ओर इसने पुरोहितों के अधिकारों और स्वत्वों के विरूद्ध लौकिक विद्रोह का रूप धारण किया तो दूसरी ओर इसने धार्मिक पुनरूत्थान व ईसाई धर्म की पवित्रता तथा मौलिकता की पुनः स्थापना करने की चेष्टा की।''

2.0.3. डी.जे. हिल के शब्दों में :

''धर्म सुधार आन्दोलन, धार्मिक भ्रष्टाचारों की उपस्थिति के कारण जो अब अधिक सहन नहीं किये जा सकते थे, जर्मन मस्तिष्क एवं प्रकृति के संविधान की तर्कसंगत व आवश्यक उपज थी।''

2.1 धर्म सुधार के उद्देश्य :

1. पोप व उसके अधीनस्थ धर्माधिकारियों के जीवन में नैतिक सुधार करना।
2. पोप के असीमित अधिकारों पर अंकुश लगाना।
3. धर्माधिकारियों को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना।
4. जनसाधारण को मोक्ष–प्राप्ति के लिए पोप के आश्रित न रखकर परमात्मा पर अवलंबित बनाना।
5. चर्चों में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करना।
6. कैथोलिक धर्म के मिथ्याडम्बरों का निवारण कर जन–साधारण के समक्ष धर्म का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करना।

2.2 धर्म–सुधार आन्दोलन के कारण :

2.2.1. पुनर्जागरण :

बौद्धिक पुनर्जागरण ने धार्मिक अन्धविश्वासों और प्राचीन मान्यताओं पर कुठाराघत कर यूरोपवासियों में एक नई चेतना जागृत की। स्वतन्त्र और निर्भिक विचारों को बल मिला जिसके फलस्वरूप वे धर्म का सही रूप समझने में सफल हुए। पुनर्जागरण ने व्यक्ति का महत्व स्थापित करने वाली शिक्षा का प्रचार किया और आलोचना तथा जांच की आवश्यकता पर जोर दिया। अतः अन्धविश्वास की जगह तर्क को प्रोत्साहन मिला। सुधारकों ने रोमनचर्च के सिद्धान्तों और अनुशासन के बारे में सोचने विचारने की आवश्यकता महसूस कराई और प्राचीन धार्मिक पद्धति के आधार पर दी जाने वाली शिक्षा पर घातक प्रहार किया। वास्तव में पुनर्जागरण आन्दोलन ने धर्म–सुधार को बहुत प्रेरणा दी।

2.2.2. प्रारम्भिक सुधारकों द्वारा धर्म सुधार की लहर पैदा करना :

पोप और चर्च के दूषित आचरण को सुधारने तथा ईसाई धर्म के आदर्शों को पुनः स्थापित करने के लिए समय–समय पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनेक सुधारकों ने प्रयत्न किए और अपना बलिदान दिया। वाल्डेनसीयन और एलबीगेनसीयन आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, किन्तु पोपों ने उन्हे दबा दिया। जान वाइक्लिफ ने चर्च की बुराइयों का भाण्डा फोड़ किया। ऑक्सफोर्ड के इस प्रोफेसर ने चर्च से राजनीति को दूर करना चाहा और भ्रष्ट चर्च को आर्थिक सहायता देने का विरोध किया। बोहेमिया के जान हस ने एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना जिसका सिद्धान्त प्रतिपादित किया और पोप की आज्ञाओं का कड़ा विरोध किया। फलस्वरूप सन् 1412 में उसे विश्वविद्यालय का पद त्यागना पड़ा और जान 1414 ई. में वह कॉसेटेंस सम्मेलन में भाग लेने पहुंचा तो पादरियो ने उसे और उसके साथियो को जीवित ही जला दिया। टली मे ने पुरातनवादी सन्तों के खोखले वचारों का उपहास करते हुए चर्च में सुधार के लिए प्रयत्न किए। उसने लेटिन में एक नवीन बाइबिल की रचना की जिसमें परम्परागत लेटिन बाइबिल की कई गलतियों को सुधारा गया। इरेसमस ने शुद्ध आचरण और सरल जीवन पर जोर दिया। उसके विचारों ने मार्टिन लूथर को बहुत प्रभावित किया जिसने यूरोप में धर्म सुधार का व्यापक आन्दोलन चलाया। इरेसमस ने अपने ग्रन्थ में पादिरियों के दैनिक जीवन पर व्यंग करते हुए चर्च की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया। 1516 ई. में प्रकाशित उसके ग्रन्थ नेईसाई समाज की आंखे खोल दी।

2.2.3. पोप की सांसारिकता और भ्रष्टाचार :

रोमन चर्च की आन्तरिक कमजोरियां सुधारवादी आन्दोलन की प्रमुख आधारशिला थी। पोप और पादरी नैतिक आचरण से हटकर भोगविलास और स्वार्थपरता का जीवन व्यतीत करने लगे। वे पदो के लिए आपस में लड़ने झगड़ने लगे। उनके भ्रष्ट और विलासी जीवन के साथ ही उनके और चर्च के विरूद्ध असन्तोष बढ़ता गया। वास्तव में पोप और पादरीगण सांसारिकता तथा भ्रष्टाचार के प्रतीक बन गए। वे शादी तो नहीं कर सकते थे, किन्तु उनके केथेड्रल (मुख्य गिरजाघर) में भिक्षुणियां अधिक संख्या में होती थी। यथार्थ में वे पापमय अनैतिक कार्यों में सिर से पैर तक डूबे थे और आंतक के प्रतीक थे। धर्माधिकारियों की अवैध सन्तानों की समस्या ने सम्पूर्ण यूरोप में अशान्त वातावरण पैदा कर दिया। अनैतिकता के अतिरिक्त बहुत से धर्माधिकारी अशिक्षित थे। धर्म के गूढ़ तत्वों का उनहे कुछ भी ज्ञान नहीं था। दूसरी और सर्वसाधारण अब शिक्षित हो चले थे और अपनी धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उत्सुक थे। जब लोगों को उनसे झूठे प्रपंच और अज्ञान का भली प्रकार अनुभव होने लगा तो उनमें से बहुत से चर्च के प्रति निष्ठावान नहीं रहे। चर्च के पास अपार सम्पत्ति थी जिसका खुलकर दुरूपयोग किया जाता था। किसी देश की तो चौथाई सम्पत्ति तक चर्च के अधीन थी। दान–दक्षिणा लेने में चर्च सदैव आगे रहता था। जनता की इस कमाई पर पोप और उनके साथी पादरीगण शाहंशाहों की तरह रहते थे। पोप और चर्च की इन बुराइयों से जनता के बड़े भाग में, बौद्धिक वर्ग में और कुछ प्रबुद्ध पादरियों में असन्तोष की ज्वाला सुलगने लगी।

2.2.4. राजनीतिक क्षेत्र में पोप का हस्तक्षेप :

धर्म सुधार आन्दोलन का एक प्रमुख कारण पोप का राजनीतिक प्रभाव था। पोप स्वयं को धार्मिक प्रमुखता का अधिकारी समझने के साथ ही राजनीतिक प्रमुखता का अधिकारी भी मानता था। यूरोप के राजवंशों के शासकों का राज्याभिषेक भी पोप द्वारा या उनकी स्वीकृति से होता था। वह राज्यों के घरेलू और वैदेशिक मामलों में भी हस्तक्षेप करता था। पोप विभिन्न देशों में स्थित पादरियों से कर वसूल करता था और देशों के गिरजाघरो के पदों पर प्रायः अपने ही आदमियों को नियुक्त करता था। यूरोप के राजाओं को पोप पर प्रायः अपने ही आदमियों को नियुक्त करता था। यूरोप के राजाओं को पोप का यह हस्तक्षेप कष्टकर था। अनेक बार कुछ महत्वाकांक्षी राजाओं और पोप में खुला संघर्ष भी हो चुका था। अतः जब धर्म सुधार आन्दोलन की लहर फैली तो शासकों ने पोप के विरोधियों को सहायता देना शुरू कर दिया। वास्तव में बिना शासकों की सहायता के सुधारवादी आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता था। डी.जे. हिल के अनुसार "यदि प्रोटेस्टेट आन्दोलन केवल धार्मिक जिन तत्त्वो ने इसे विजयी बनाया थे इसके राजनतिक उद्देश्य तथा प्रभाव और कूटनीति।"

2.2.5. व्यापारियों और शासकों में मेल–मिलाप :

व्यापारी लोग भारी खतरें उठाकर भी दूर–दूर के देशों की यात्रा करते थे, किन्तु जब वे पूंजी कमाकर स्वदेश लौटते थे तो उनकी अधिकांश पूंजी पोप और पादरियो को भेट हो जाती थी। इस शोषण से तंग आकर व्यापारियों ने शासकों से मेल बढ़ाया और उन्हें आर्थिक सहायता देकर सबल बनाया। अब शासक व्यापारियों के रक्षक बन गए और उन्हें यह भी विश्वास हो गया कि व्यापारी वर्ग की सहायता से न केवल देश की आर्थिक उन्नति होगी बल्कि उनकी स्वयं की सत्ता और शक्ति भी दृढ़ होगी। शासकों और व्यापारियों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गठबंधन से पोप के विरूद्ध असन्तोष को बल मिला, पोप की सत्ता को धक्का पहुंचा और धर्म सुधार की लहर व्याप्त होती गई।

2.2.6. धार्मिक न्यायालयों का अन्याय :

रोम के धार्मिक न्यायालयों में अपीलो और उनके निर्णयों का क्रय–विक्रय भी धर्म सुधार आन्दोलन का प्रमुख कारण था। निर्धन लोगों को न्याय नहीं मिल पाता था जबकि अमीर व्यक्ति धनके बल पर अपने अनुकूल न्याय प्राप्त करने मे सफल हो जाते थे। पादरी लोग अपने यजमानों को मनमाना धर्म सिखाते थे और अपनी इच्छानुसार धन वसूल करते थे। ये सब बातें जनसाधारण को खटकती थी।

2.2.7. तात्कालिक कारण : क्षमा पत्रों का विक्रय :

धर्म सुधार आन्दोलन के लिए सारी परिस्थितियां विद्यमान थी और शीघ्र ही वह तात्कालिक कारण भी उपस्थिति हो गया जिससे आन्दोलन का प्रारम्भ होकर ही रहा। उन दिनों पोप को रोम के गिरजे के लिए धन की जरूरत थी। उसने धन एकत्रित करने के लिए पाप–मोचन पत्र अथवा क्षमा–पत्र जारी किए जिसके अनुसार कोई भी पापी चर्च को कुछ धन देकर अपने पापो का शमनकरा सकता था और मोक्ष–प्राप्ति का अधिकारी बन सकता था। जब टेटजेल नामक एक पादरी इन पत्रों को बेचता हुआ और खरीदारों को पापों से मुक्त कराता हुआ सन् 1517 में ब्रिटेनबुर्ग पहुंचा तो वहां के विश्वविद्यालय का प्राध्यापक मार्टिंग लूथर चुप न रह सका। उसके हृदय में चर्च और पोप की अनैतिकता के विरूद्ध पहले ही आग जल रही थी। उसने इन क्षमा–पत्रों के विरूद्ध जेहाद घोल दिया और यह घटना ही धर्म सुधार आन्दोलन का शुभारम्भ बनी।

2.3 विभिन्न धर्म सुधारकों का आविर्भाव :

यूरोप के विभिन्न देशों में विभिन्न समय पर विभिन्न धर्म सुधारकों का आविर्भाव हुआ। हालांकि उस समय पोप की आलोचना करने वालों को या तो जाति के बाहर निकाल दिया जाता था या फिर उसे जीवित अग्नि देवता को भेंट चढ़ा दिया जाता था। इन अत्याचारों के बावजूद भी धर्म सुधारकों करने चर्च में व्याप्त बुराईयों पर प्रकाश डाला तथा पोप की विलासिता का विरोध किया। यद्यपि इस कार्य में कई धर्म सुधारकों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। फिर भी, जनसाधारण ने धर्म सुधार आन्दोलन की मांग को प्रबल बना दिया। उन धर्म सुधारकों में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन हम यहा करेंगे।

आल्विग — 12 वीं शताब्दी मे पोप इन्नोसेन्ट तृतीय के समय में पहला धार्मिक विद्रोह दक्षिणी फ्रांस में हुआ, इसका नेता था — आल्विग। उसने सर्वप्रथम चर्च में व्याप्त बुराइयों पर प्रकाश डाला तथा पोप की विलासिता की आलोचना की। उसने सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाले धर्माधिकारियों की भी कटु आलोचना की तथा संस्कारों का महत्व मानने से इन्कार कर दिया। उसने एक अलग चर्च की भी स्थापना की। पोप ने आल्विग तथा उनके समर्थकों को धर्मद्रोही घोषित कर कुचल दिया।

वाल्दैन्स — इसी समय दक्षिण फ्रांस में दूसरा धार्मिक विद्रोह हो गया। इसका नेतृत्व वाल्दैन्स ने किया। उसने कहा था कि मनुष्य को सिर्फ बाईबिल में लिखी हुई बातों का पालन करना चाहिए। पोप के आदशों का नहीं। उसने पोप के प्रति निष्ठा न रखने के लिए कहा और युद्ध करना अच्छा नहीं माना। पोप ने वादैन्स को धर्मद्रोही घोषित कर जिन्दा जला दिया। प्रत्यक्ष रूप से तो यह आन्दोलन समाप्त हो चुका था, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस क्रांति के बीज धीरे–धीरे विकसित होते जा रहे थे। इस बलिदान ने धर्म सुधार आन्दोलन को बल प्रदान किया।

जॉन हस — जॉन हस बोहेमिया निवासी था। यह प्राग विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक था। वह बाइक्लिफ के विचारों से बहुत प्रभावित था। इसलिए उसने उसके विचारों का प्रसार बोहेमिया में किया। इस पर पोप ने उसे पाखण्डी करार दिया और नास्तिकता का आरोप लगाकर 1415 ई. में उसे जिन्दा जला दिया गया। उसके शहीद हो जाने पर भी उसके धार्मिक विचार नहीं मरे। प्लेट, जीन एवं ड्रमण्ड ने लिखा है — "अपने अनुयाइयों के लिए प्रोफेसर हस एक जातीय वीर और साथ ही धार्मिक शहीद भी बन गये।

सेवोनारोला — सेवोनारोला फ्लोरेंस नगर का निवासी था। वह एक विद्वान पादरी तथा कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने चर्च में व्याप्त बुराइयो पर प्रकाश डाला तथा पोप के राजसी ठाठ की आलोचना की। पोप अलेक्जेण्डर षष्ठम ने उसे आदेश दिया कि वह अपने विचारों का प्रसार बन्द कर दे, परन्तु सेवोनारेला ने उस आदेश का पालन नहीं किया। इस पर उसे चर्च की महान परिषद के सन्मुख स्पष्टीकरण के लिए बुलाया गया और 23 मई, 1498 ई. को पैजा नामक स्थान पर इसे धर्मद्रोही घोषित कर जिन्दा जला दिया।

2.4 धर्म सुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर का योगदान :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

धर्म सुधार आंदोलन का प्रवर्तक मार्टिन लूथर था। शीघ्र ही इस आंदोलन का प्रसार समस्त यूरोप में हो गया। हालांकि इससे पूर्व जॉन वाइक्लिफ, जॉन हास, वाल्दैन्स, सोवोनारोला, इरेस्मस आदि धर्म सुधारक हो चुके थे, जिन्होंने क्रांति को अवश्यम्भावी बना दिया था। परंतु उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। पोप ने इनके विचारों को कुचलने के लिए इन्हें जिन्दा जला दिया, परन्तु जिन लोगों को पोप के विरूद्ध क्रांति करने में सफलता प्राप्त हुई, उनमें मार्टिन लूथर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है इसलिए मार्टिन लूथर को धर्म सुधार आन्दोलन का अग्रदूत माना जाता है।

मार्टिन लूथर — जर्मनी में धर्म सुधार आन्दोलन का नेतृत्व मार्टिन लूथर ने किया और उसे सफलता भी प्राप्त हुई। लूथर का जन्म 10 नवम्बर, 1483 ई. को जर्मनी में सैक्सनी के अइबेन नामक एक छोटे से ग्राम में एक साधारण परिवार में हुआ था। इसके पिता का नाम हान्स तथा माता का नाम मारगारेथी नी जैगलर था। उसके पिता खान में मजदूर थे। वे चाहते थे कि उनका लड़का बड़ा होकर वकील बने, परन्तु उसने अपने माता पिता की इच्छा के विरूद्ध इरेफर्ट विश्वविद्यालय से 1505 ई. में धर्मशास्त्र में एम.ए. किया। इसके बाद 1508 ई में विटनबर्ग के विश्वविद्यालय मे वह धर्मशास्त्र का प्राध्यापक बन गया था। वहां उसने महातम पाल और आगस्टाइन की रचनाओं का अध्ययन किया। उससे उसे ज्ञान हुआ कि मनुष्य किसी भी पुण्य को करने में समर्थ नहीं है, उसकी मुक्ति केवल ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति करने से ही हो सकती है। आरम्भ में लूथर रोमन कैथोलिक चर्च का अनुयायी था। जब कभी उसे पोप व पादरियों के सांसारिक जीवन के बारे में कोई व्यक्ति कुछ कहता था, तो उसे उस पर विश्वास नहीं होता था।

1511 ई. में लूथर को रोम जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहां वह पोप के विलासमय जीवन को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। रोम में उसने देखा कि किस प्रकार धार्मिक अधिकारी अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर अनुचित उपायो से धन कमाकर सांसारिक जीवन बिना रहे है। अब लूथर को रोमन कैथोलिक चर्च से घृणा हो गई एवं उसने बाईबिल का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उसने पवित्र संस्कारों को आवश्यक बताया। जब 1517 ई. में पोप लियो प्रथम में आदेश से जॉन टेटजेल विटनबर्ग में पोप मोचन पत्र बेचने लगा तो लूथर इन पत्रों की आलोचना की। उसका मानना था कि यदि कोई मनुष्य अपने पापों के लिए प्रायश्चित कर ले और ईश्वर में विश्वास रखे तो वह उसके पाप क्षमा कर देगा। पापों की क्षमा के लिए पोप के क्षमापत्रो की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दो में लूथर ने कैथोलिक विचारधारा के विरूद्ध इस मत का प्रतिपादन किया कि व्यक्ति को ईश्वर की भक्ति से क्षमा मिल सकती है पादरियों की कृपा एवं क्षमापत्रों से नहीं प्रकार लूथर ने पोप के विरूद्ध धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया।

लूथर ने 1517 ई. मे विटनबर्ग के गिरजाघर के दरवाजे पर 95 सिद्वान्तों का एक वक्तव्य कील से लगा दिया। इस पत्र में पाप मोचनपत्र का विरोध किया गया था तथा धर्म से व्याप्त बुराइयो पर प्रकाश डाला गया था। लूथर ने इन सिद्धान्तो को लैटिन भाषा मे लिखा, परन्तु किसी ने जर्मन भाषा में अनुवाद करके इनका जर्मनी में व्यापक पैमाने पर वितरण किया। इससे लूथर के विचार जनसाधारण के समझ में आ गये। उसने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। कुछ ही समय में जर्मनी में उसके अनुयाइयों की संख्या बढ़ने लगी। लूथर जर्मनी का धार्मिक नेता बन गया। कुछ शासकों तथा सामन्तो ने लूथर के विचारो का विरोध किया, जबकि कुछ ने समर्थन । इस प्रकार लूथर के आंदोलन को बल मिला।

1520 ई. में लूथर ने एन ओपन लेटर टू दी क्रिश्चियन स्टेट जगत को खोला जिसमें चर्च की अपार धन सम्पत्ति, धर्माधिकारियों के सांसारिक जीवन बिताने का विरोध किया गया था। उसनेजर्मनी की जनता को पोप से सम्बन्ध त्याग ने के लिए कहा। लूथर ने राजा से कहा कि इन बुराइयों को दूर करने के लिए एक धर्म सभा का आयोजन करे। वह धर्माधिकारियों को उनके कर्त्तव्यों का पालन करने का आदेश दे। जर्मन शासक लूथर के अनुयायी बन गये और उन्होंने पोप से सम्बन्ध तोड़ लिए। राजाओं ने चर्च की भूमि और धन सम्पत्ति पर भी अधिकार कर लिया, परन्तु लूथर विरोधी जर्मन शासकों ने लूथरवाद को नहीं माना। पोप के प्रति निष्ठावान बने रहे। कैथोलिक चर्च के अनुयाइयों तथा लूथर समर्थको ने अपने अपने अलग—अलग संघ बनाये इस प्रकार जर्मनी में चर्च का विभाजन हो गया। दोनों के संघ एक—दूसरे पर दोषारोपण करने लगे। इससे जर्मनी में गृहयुद्ध का वातावरण बन गया। लूथर के विचारों से प्रभावित होकर किसानों ने सामन्तो के विरूद्ध विद्रोह कर दिया और अपनी छीनी हुई भूमि पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया।

लूथर ने अपनी पुस्तक चर्च का बेबीलोनिया का कैदी में संस्कारों का विरोध किया। उसने अपनी एक अन्य कृति ईसाई स्वतन्त्रता मेंपोप को चुनौती देते हुए यह कहा था कि वह धर्म की बुराइयों के विरूद्ध आंदोलन करता रहेगा।

टिटजेल नामक पाादरी ने आर्क विशप अलबर्ट तथा पोप से लूथर की शिकायत की। इस पर पोप ने एक धर्म सभा का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आयोजन किया। उसमें लूथर को आमन्त्रित किया गया। सैक्सोनी का शासक लूथर का समर्थक था। उसने लूथर की रक्षा का भार अपने कन्धों पर ले लिया। लूथर ने धर्मसभा में भाग लिया और बिना किसी संशोधन के अपने सिद्धान्तो को सभी के सम्मुख पुनः दोहरा दिया। इस पर 1520 ई. में पोप ने उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया। उसने सम्पूर्ण ईसाई समाज को लूथर से सम्बन्ध तोड़ने का आदेश दिया। इस समय तक लूथर के समर्थकों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी, इसीलिए उसने पोप के आदेश पत्र को विटनबर्ग के भरे बाजार में जला दिया।

उस समय का पवित्र रोमन सम्राट चार्ल्स पंचम पोप का कट्टर समर्थक था। उसने इस समस्या पर विचार करने के लिए वर्म्स की राज्य परिषद् की एक बैठक बुलवाई। सभा मे लूथर को धर्म विरोधी विचारों को त्यागने की चेतावनी दी गई। इसके उत्तर में लूथर ने कहा, ''जब तक मुझे बाईबिल या तर्क द्वारा गलत प्रमाणित न कर दे.....मै किसी चीज का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता और न करूंगा क्योंकि अन्तःकरण के विरूद्ध आचरण करना न पवित्र है और न सुरक्षाजनक।'' इस वर्म्स की राज्य परिषद् ने लूथर को विधि ा बहिष्कृत कर दिया। राज्य परिषद् ने लूथर को समस्त रचनाओं को जलाने का भी आदेश दे दिया। इस पर लूथर अपने स्थार्थ सैक्सोनी के सामन्त फ्रेडरिक की शरण में चला गया। विटनवर्ग की गढ़ी में रहते हुए उसने बाईबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। यह अनुवादित ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। पोप ने 1529 ई. मे दूसरी धर्म सभा में लूथर की आलोचना की और सम्राटों को उसका दमन करने का आदेश दिया। जर्मनी के सामन्तों ने पोप के आदेश का प्रतिवाद किया इसलिए लूथर के विचार तथा उसके समर्थक प्रोटेस्टेन्ट के नाम से प्रसिद्ध हुए। लूथर की मृत्यु के पश्चात भी उसके अनुयायी उसके सिद्धान्तो का प्रसार करते रहे। धीरे–धीरे प्रोटेस्टेन्ट धर्म सम्पूर्ण यूरोप ईश्वर में फैल गया।

2.4.1 लूथर के सिद्धान्त :

लूथर के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित थे –

1. क्षमा केवल ईश्वर की भक्ति तथा श्रद्धा के द्वारा ही मिल सकती है। पोप की कृपा से या क्षमा याचना पत्रों से व्यक्ति को क्षमा प्राप्त नहीं हो सकती है। यदि व्यक्ति पाप करने के पश्चात् पश्चात्ताप कर ले और ईश्वर की भक्ति करे तो ईश्वर उसके पापों को माफ कर देता है।
2. पोप सर्वोच्च धार्मिक शक्ति नहीं है। मध्य युग में पोप ने जन साधारण की अज्ञानता से लाभ उठाकर अपनी शक्ति में वृद्धि कर ली है।
3. रोम के चर्च के प्रभुत्व का अन्त करके राष्ट्रीय चर्च की शक्ति को सबल बनायाजाना चाहिए क्योंकि पोप की अहंकारी भावना ने धर्म को पंगु बना दिया है। लूथर के अनुसार धर्म ग्रन्थ सबके लिए खुले हुए है। वे किसी की भी बपौती नही है।
4. मनुष्य केवल ईश्वर की असीम दया, ईश्वर में श्रद्धा तथा भक्ति के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है, पोप की कृपा से नहीं।
5. यदि कोई भी धर्माधिकारी अपराध करता है, तो उसे साधारण लोगों की भांति सजा मिलनी चाहिए क्योंकि न्याय के सन्मुख सभी समान होते है।
6. चर्च में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पादरी लोगों को विवाह करके सभ्य नागरिकों की भांति सांसारिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी पादरी लोग धार्मिक कार्य कर सके है।
7. लूथर अरस्तु को पाखंडी और विधर्मी मानता था, इसलिए उसने विश्व विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पर्याप्त सुधार करने पर जोर दिया। पाठ्यक्रम धर्म पर आधारित होना चाहिए।
8. ईसाई धर्म के सात संस्कारों में से चार अभिषेक, विाह, अनुमोदन एवं अवलेपन को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। केवल तीन संस्कारों नामकरण प्रायश्चित एवं यूख्रेस्ट को ही लागू रखना चाहिए।
9. पादरियों से न्याय सम्बन्धी अधिकार छीन लेने चाहिए।
10. पादरी का एक मात्र कार्य धार्मिक उपदेश देना होना चाहिए।

लूथर के इन सिद्धान्तों के कारण जर्मनी मे प्रोटेस्टेन्ट एवं रोमन कैथोलिक चर्च के सदस्यों के बीच भयंकर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। सम्पूर्ण जर्मनी गृह युद्ध की ज्वाला में जलने लगे आग, जिसकी समाप्ति 1555 ई. की आग्सबर्ग की धार्मिक सन्धि से हुई। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सन्धि की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थी –

1. साम्राज्य परिषद में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्टों को एक समान प्रतिनिधित्व दिया जायेगा।
2. चर्च का जितनी सम्पत्ति पर अधिकार है, उसे मान्यता दी जायेगी, परन्तु अब राज्य चर्च को किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं देगा।
3. जो राजा का धर्म होगा, वही उसकी जनता का धर्म होगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया।

2.5 धर्म सुधार आन्दोलन का प्रसार :

धर्म सुधार आन्दोलन, जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, जर्मनी तक ही सीमित नहीं रहा। इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, स्केडीनेविया, नीदरलैण्डस – इन सभी देशों में रोमन चर्च के विरूद्ध विद्रोह हुआ जिसका रूप सर्वत्र एक–सा नहीं था। कही विद्रोह का नेतृत्व राजा ने किया तो कहीं किसी जन नेता ने। पर सबका यह समान लक्ष्य था कि पृथक् चर्च की स्थापना की जाए। राजनीतिक लक्ष्य भी था कि पृथक् चर्च की स्थापना की जाए। राजनीतिक लक्ष्य भी था कि पोप की सत्ता में मुक्ति पाकर राजकीय शक्ति मे वृद्धि हो। इन सब दोनो के धर्म सुधारो के विवरण में न जाकर हमें इतना ही जान लेना चाहिए कि इन देशो मे नवीन प्रोटेस्टेन्ट चर्चो की स्थापना हुई। पर इंग्लैण्ड में, जिसने सन् 1529 में रोमन कैथोलिक चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, ऐंग्लिकन चर्च की स्थापना हुई जो न लूथरवादी था और न काल्विनवादी। अपने सिद्धान्त और संगठन में यह चर्च कैथोलिक चर्च के अनुरूप रहा, मूल अन्तर केवल यही था कि पोप से सम्बन्ध हमेशा के लिए अटूट हो गए। इंग्लैण्ड का तत्कालीन शासक हैनरी अष्टम् न तो क्रामवैल के प्रोटेस्टेण्टवाद के पक्ष मे था, न पोप के पक्ष में।

2.6 धर्म–सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्व :

1. धर्म–सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की सर्वोच्च प्रभुता को चुनौती देकर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को छिन्न–भिन्न कर दिया। अब रोमनकैथोलिक चर्च के विरोध में अनेक राष्ट्रीय चर्चो की स्थापना हो गई। धार्मिक एकता का प्रोटेस्टेन्टों और कैथोलिकों में विभाजन हो गया।

2. सुधारवादी आन्दोलन ने चर्च को राज्य के नियन्त्रण में लाकर मध्ययुगीन विश्व–साम्राज्य की धारण में क्रांतिकारी एवं मौलिक परिवर्तन किया। इसके कारण राष्ट्रीयता के विचार को प्रोत्साहन मिला, सर्वत्र पोप का विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और साम्राज्य का स्थान प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया।

3. सुधार आन्दोलन का एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि राज्य सत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि हुई और यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र ने सामान्य रूप ग्रहण किया, साथ ही व्यक्तिगत एवं धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास हुआ।

4. धर्म सुधार आन्दोलन ने रोमन कैथोलिक धर्म को पराभूत अवश्य कर दिया, किन्तु उसका पूर्ण अन्त नहीं हुआ, अतः वह प्रोटेस्टेंट धर्म को गतिरूद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हुआ जिसके फलस्वरूप 'प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। रोमन कैथोलिक धर्म ने नए सिरे से अपना सुधार किया और नूतन कैथोलिक धर्म का प्रचार आरम्भ हो गया।

5. धर्म सुधार आन्दोलन ने कालान्तर में जहां सहिष्णुता का विकास किया वहां मतभेदों की भी सृष्टि की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप ईसाई धर्म की एकता छिन्न–भिन्न हो गई, अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ और धर्म के गूढ़ तत्वों को लेकर उन सम्प्रदायो में भी आन्तरिक मतभेद उत्पन्न हो गया। रोमन कैथोलिक धर्म के जैसुइट सम्प्रदाय के आन्तरिक मतभेद उत्पन्न हो गया। रोमनकैथोलिक धर्म के जैसुइट सम्प्रदाय के आनतरिक सुधार द्वारा भी मतभेदों का अन्त नहीं हुआ। चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी तीव्र मतभेद उत्पन्न हुए। प्रोटेस्टेट सम्प्रदाय मे भी मतभेद बढ़ते ही एक क्योकि इस सम्प्रदाय ने बाइबिल को ही एकमात्र सत्य का प्रतीक मानते हुए अपने अनुयायियों को शिक्षा दी थी कि वे किसी भी ढंग से बाइबिल के सिद्धान्तों का पालन करे इस स्थिति में भिन्न–भिन्न मार्गो का उदय हुआ। जैसुइट सम्प्रदाय के संगठन को लेकर भी मतभेद बढ़ गए। कालान्तर में मैथोडिजम बैपटिज्म और कोंग्रिगेशनलिज्म आदि विभिन्न मत–मतान्तरों के प्रचलन से ये मतभेद और भी उग्र हो गए।

6. मतभेदों की उग्रता के फलस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता और कट्टरता पनपी जिसका परिणाम बहुत ही भंयकर हुआ और धर्म–युद्धों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। धर्म के नाम पर हजारों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा गया। यदि बिटिश साम्राज्ञी मेरी ट्यूडर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने सैकड़ों प्रोटेस्टोटो को जीवित जलवा दिया तो क्रामवैल ने हजारों कैथोलिकों की जीवन लीला समाप्त कर दी। जर्मनी में प्रोटेस्टेंटों और रोमन कैथोलिकों के बीच लगभग 30 वर्ष तक भंयकर संघर्ष चला। फ्रांस में भी प्रोटेस्टेटों पर अमानवीय अत्याचार किए गए। लगभग दो शताब्दियों तक असहिष्णुता ने यूरोप की शान्ति को भंग किया।

7. लगभग 200 वर्षों की असहिष्णुता के बाद यूरोप में धार्मिक सहिष्णुता का विकास हुआ। धार्मिक संघर्ष का अन्ततः एकमात्र निराकरण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेंट राजा कैथेलिक प्रजा का तथा कैथोलिक शासन प्रोटेस्टैट प्रजा का दमन करने में असफल रहे। शनैःशनै एवं परिस्थितिवश यह विचार बल पकड़ता गया कि सुख और समृद्धि केवल तभी सम्भव है जब राज्य धर्म–निरपेक्ष वातावरण पैदा करे।

8. धर्म सुधार आन्दोलन के प्रारम्भ में धर्मशास्त्रों पर बल देने की प्रवृत्तियां प्रबल रही, किन्तु अन्त में लोकतन्त्र की समर्थक और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा। प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचारों का विकास हुआ जिनसे 17वीं, 18वीं, 19वीं शताब्दियों के महान् राजनीतिक विवादों का सूत्रपात हुआ।

2.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – मार्टिन लुथर का जन्म कहां हुआ ?

(अ) फ्रांस (ब) इटली

(स) इंग्लैण्ड (द) जर्मनी

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – 'मार्टिन लूथर के सिद्धान्तों को स्पष्ट किजिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – धर्म सुधार आन्दोलन के कारण और परिणामों को विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 3
प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन

3.0 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन
3.0.1. पोप के व्यक्तिगत जीवन में सुधार
3.0.2. ट्रेन्ट की कौसिल
3.0.3. जैसुइट संस्था
3.0.4. इनक्वीजिशन
3.1 धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम
3.1.1. ईसाई एकता की समाप्ति
3.1.2. कैथोलिक धर्म में आन्तरिक सुधार
3.1.3. मतभेदों की उत्पत्ति
3.1.4. असहिष्णुता की भावना का विकास
3.1.5. धार्मिक सहिष्णुता का विकास
3.1.6. राजाओं की शक्ति में वृद्धि
3.1.7 राष्ट्रीय भावनाओं का विकास
3.1.8. कैथोलिक धर्म का प्रसार
3.1.9. जन साहित्य का विकास
3.1.10 शिक्षा का विकास
3.1.11. नैतिक जीवन में सुधार
3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की सफलता के कारण
3.2.1. यूरोप के अधिकांश लोग कैथोलिक चर्च के विरूद्ध विद्रोह करना नहीं चाहते थे
3.2.2. ट्रेंट की सभा के सुधार
3.2.3. जैसुई लोगों का सहयोग
3.2.4. शासकों का सहयोग
3.2.5. मिशनेरी स्कूल व कॉलेजों की स्थापना
3.2.6. प्रोटैस्टेंट धर्म में दुर्बलता का आना
3.2.7. पोप का सादा व सदाचारी जीवन
3.3 बोध प्रश्न

3.0 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन :

आरम्भ मे तो पोप नेधर्म सुधार आन्दोलन को कुचलने का हर सम्भव प्रयास किया, परन्तु उसे सफलता नही मिली। प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन की सफलता से कैथोलिक धर्म को आघात पहंचा था। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यह आवश्यक था कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पोप कैथोलिक धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास करे। उस समय रोमन कैथोलिक धर्म के समर्थकों ने कहा था कि यदि धर्म में सुधार नहीं किये गये तो यह धर्म समाप्त हो जायेगा। इसलिए 16वीं शताब्दी में पोप ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए स्वयं में और कैथोलिक धर्म में जो सुधार किये, उसे इतिहास में प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति अवरूद्ध हो गई और कैथोलिक धर्म अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करने लगा। कैथोलिक धर्म में सुधार के लिए निम्न चार तरीके अपनाये गये –

3.0.1. पोप के व्यक्तिगत जीवन में सुधार :

पोप की विलासिता, सांसारिक जीवन और तानाशाही के विरूद्ध धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। अत: पोप तथा पादरियों ने अब सादा, सदाचारी एवं त्याग का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। पोप सदाचारी, कर्तव्यपरायण और धर्म के प्रति निष्ठावान होने लगे। पुनर्जागरणकालीन पोपों ने साहित्य एवं कला का विकास करने के लिए अनेक कलाकारों एवं साहित्यकारों को अपने दरबार मे आश्रय दिया। इस प्रकार फिर से वही तरीका अपनाया गया। इन नूतन परिवर्तनों का श्रीगणेश पोप क्लीमेन्ट, पॉल तृतीय एवं चतुर्थ ने किया। पोप ने अपने व्यक्तिगत जीवन और दृष्टिकोण में परिवर्तन किया, जिसके परिणामस्वरूप कैथोलिक धर्म मे नवीन शक्ति व स्फूर्ति उत्पन्न हुई और जन साधारण में उसके प्रति श्रद्धा पुन: जाग्रत गई।

3.0.2. ट्रेन्ट की कौंसिल :

कैथोलिक धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करने व धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने हेतु 1545 ई. में इटली के ट्रेन्ट नामक स्थान पर एक धर्म सम्मेलन का अयोजन किया गया। इस नगर में अगले 18 वर्षों में 25 धार्मिक सम्मेलन बुलाये गये। प्रत्येक सम्मेलन में 200 से अधिक कैथोलिक पादरी भाग लेते थे। इन अधिवेशनों मे चर्च के पुनर्गठन, अनुशासन और व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक नियमों का निर्माण किया गया। ट्रेन्ट सभा के कार्य द्विमुखी थे, प्रथम सैद्धान्तिक एवं द्वितीय सुधारात्मक।

सैद्धान्तिक कार्य – ट्रेन्ट के सम्मेलन में मध्यकालीन चर्च के निम्न मुख्य सिद्धान्तों की भी पुष्टि की गई –

1. पोप कैथोलिक धर्म का सर्वोच्च अधिकारी है और सभी सिद्धान्तों का अन्तिम व्याख्याता है।
2. केवल चर्च ही धर्म ग्रन्थ का अर्थ ला सकता है।
3. कैथोलिक के लिए लैटिन भाषा में एक नई बाइबल तैयार की जायेगी, जिसका नाम वल्गेट संस्करण रहेगा।

सुधारात्मक कार्य – ट्रेन्ट सम्मेलन में निम्न सुधारों की भी घोषणा की गई –

1. धर्माधिकारियों के जीवन को सदाचारी, नैतिक, अनुशासन युक्त तथा पवित्र बनाने हेतु कई नियम बनाये गये।
2. चर्च के किसी भी पद को बेचा नहीं जायेगा। योग्यता के आधार पर नियुक्तियां की जायेगी।
3. विशप अपने क्षेत्र में कर्तव्यों का पालन करते रहेंगे।
4. पादरियों को शिक्षित होना अनिवार्य कर दिया गया।
5. पाप मोचन पत्रों की बिक्री को बन्द कर दिया जायेगा।
6. धर्म के उपदेश सरल भाषा में दिये जायेंगे।
7. कैथोलिक चर्चों में पूजा की एक सी विधि व एक सी प्रार्थना पुस्तक रखी गई।
8. कुछ पुस्तकों को कैथोलिक को पढ़ने के लिए मना कर दिया गया।

इस प्रकार कैथोलिक चर्च को संगठित और शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया। इतिहासकार हेग ने ट्रेन्ट सम्मेलन की सफलता के बारे में लिखा है, "ट्रेन्ट की कौसिल ने कैथोलिक चर्च मे महान् सुधार कर मुख्य रूप से कैथोलिक धर्म के अस्तित्व की रक्षा में बड़ा योग दिया। साउथगेट ने लिखा है, "ट्रेन्ट की कौसिल की मुख्य सफलता कैथोलिक चर्च सिद्धान्तों की स्पष्ट परिभाषा थी। इसने कैथोलिक चर्च को सुदृढ़ एवं निश्चित स्थिति प्रदान की।"

3.0.3. जैसुइट संस्था :

कैथोलिक सम्प्रदाय को सुधारनेके लिए जिन नये संगठनों की स्थापना की गई थी, उनमे सबसे महत्वपूर्ण थी, जैसुइट संस्था। जिन लोगों ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकार कर लिया था, उनको पवित्र कर पुन: कैथोलिक धर्म ग्रहण करवाना इस संस्था का कार्य था। इसके संस्थापक इग्नेशिया लायला थे। उसने 1534 ई. में इस संस्था की स्थापना की थी। बाद में इसकी शाखाएं यूरोप के अनेक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देशो मे कायम की गई। पोप पाल तृतीय ने 1534 ई. में इसे मान्यता प्रदान की।

इग्नेशियस लायला स्पेन का रहने वाला था। प्रारम्भ में वह एक सैनिक था। उसने 1491 से 1556 ई. तक एक सैनिक के रूप में कार्य किया था। चार्ल्स पंचम के समय उसने फ्रांस के विरूद्ध युद्ध में भाग लिया था। इस युद्ध में घायल हो जाने के कारण उसे अस्पताल में भर्ती करवाया गया। जहां उसने ईसा मसीह एवं अन्य धार्मिक महात्माओं की जीवनियां पढ़ी। इनसे वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने कैथोलिक धर्म की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझा। इसी समय उसने पोप की स्वीकृति लेकर एक संस्था की स्थापना की, जो जैसुइट संस्था के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस संस्था के सदस्य जेसुइट कहलाते थे। इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे –

1. कैथोलिक धर्म के विरोधियों को कुचलना,
2. कैथोलिक धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करना एवं
3. विदेशों में कैथोलिक धर्म का प्रचार करना। इसका गठन स्वरूप एक सैनिक संस्था की भांति था। इस संस्था का काम ईसा के आदेशों का पालन करवाना था।

जैसुइट संस्था के सदस्यों को पादरी के पद पर नियुक्त करने से पूर्व दो वर्ष का कठोर प्रशिक्षण दिया जाता था। इस अवधि में उन्हें धर्म, विज्ञान एवं मानवतावादी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रधान जनरल कहलाता था जिसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। उसकी नियुक्ति पोप के द्वारा आजन्म के लिए की जाती थी और उसे पोप के प्रति सदैव वफादर रहने की शपथ लेनी पड़ती थी। वह रोम में ही रहता था। संस्था के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। प्रत्येक सदस्य को पोप की आज्ञापालन, दरिद्रता तथा ब्रह्मचर्य के प्रति अनुराग व पोप भक्ति की शपथ लेनी पडती थी। इसके सदस्यों को धर्म का प्रचार करने के लिए विश्व के किसी भी कोने मे भेजा जा सकता था। इस संस्था के द्वारा अनेक स्थानों पर स्कूल स्थापित किये गये। इसके सदस्य स्कूलों में छोटे बच्चों के दिल में कैथोलिक धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा करते थे। संस्था के सदस्यों का प्रमुख कार्य कैथोलिक धर्म का प्रसार करना एवं गैर ईसाई लोगों को रोमन कैथोलिक धर्म प्रचार का कार्य किया। इस प्रकार वे कैथोलिक धर्म की रक्षा करने में सफल हुए। इस संगठन ने पोप तथा पादरियों को सदाचारमय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया। जैसुइटों का स्वयं अपना जीवन अत्यन्त तप और सादगी का था।

जैसुइट पादरियों के जोश और उनकी सक्रियता के फलस्वरूप इटली, स्पेन, पोलैण्ड, हंगरी एवं दक्षिणी जर्मनी आदि देशों में कैथोलिक धर्म पुनः प्रबल एवं सुप्रतिष्ठित हो गया। भारत, चीन, अफ्रीका एवं अमेरिका आदि देशो में इन पादरियों ने बड़े उत्साह के साथ कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। इंग्लैण्ड की शासिका एलिजाबेथ प्रथम जैसुइट संस्था के सदस्यो से परेशान रही क्योंकि इन्हीं के प्रयासों से प्रोटैस्टेन्ट धर्म की प्रगति मे बाधा उपस्थिति हो गई थी। इस संस्था के बहादुर सदस्य जेक्युअस मार्क्वेत ने उत्तरी अमेरिका के मिसीसिपी घाटी के ऊपरी भाग की खोज की थी और वहां के आदिवासी लोगो को ईसाई बनाया। इसी प्रकार फ्रांसिस जेवियर जापान गया और वहां कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। अपने प्रचार कार्य के सिलने मे इस संगठन ने स्कूलो, चिकित्सालयों तथा सेवा केन्द्रो की स्थापना के माध्यम से मानवता की सेवा का काम भी किया था। इस प्रकार इस संस्था ने कैथोलिक धर्म को प्रबल बनाने में सराहनीय योगदान दिया।

3.0.4. इनक्वीजिशन :

यह रोमन कैथोलिक चर्च का न्यायालय था, जिसका उद्देश्य धर्म विरोधियो को दण्डित करना था। पोप पॉल तृतीय ने1542 ई. में रोम में इनक्वीजिशन की स्थापना की थी। उसने जैसुइट संस्था को मान्यता देने के बाद इस न्यायालय में छः 'इनक्वीजिटर जनरल' नियुक्त किये। ये धर्म के पाखण्डियों को कठोर से कठोर दण्ड देते थे सन्देहजनक व्यक्तियों को गिरफ्तार करते थे। धर्म विरोधी पुस्तकों को जलवा देते थे। धर्म विरोधियों को शारीरिक यातयाएं देते थे। इस न्यायालय ने स्पेन, हालैण्ड, इटली, बेल्जियम आदि देशों में धर्म विरोधियों का बड़ी निर्ममतापूर्व दमन किया। इसके आदेश से स्पेन में हजारों व्यक्तियों को जिन्दा अग्निदेव को भेंट कर दिया गया और लगभग एक लाख लोगो को विभिन्न सजाएं दी गई। नीदरलैण्ड में दमनकारी नीति के कारण राष्ट्रीय भावनाएं भड़क उठी। इस प्रकार हम देखते है कि प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन कैथोलिक धर्म की रक्षा करने में सफल हुआ। उस समय कैथोलिक धर्म निरन्तर प्रगति के पथ की और बढ़ता रहा।

3.1 धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम :

यद्यपि धर्म सुधार आन्दोलन एक धार्मिक आन्दोलन था, तथापि इसके प्रभाव व्यापक थे। इस आन्दोलन ने शासन के स्वरूप तथा मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो को प्रभावित किया। धर्म सुधार आन्दोलन का निम्नलिखित क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.1.1. ईसाई एकता की समाप्ति :

धर्म सुधार आन्दोलन ने ईसाई धर्म की एकता को समाप्त कर दिया। इसके पूर्व रूस और बाल्कन क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप पर कैथोलिक धर्म की धाक जमी हुई थी, परन्तु प्रोसटेन्ट धर्म ने पोप की सर्वोच्च सत्ता को मानने से इंकार कर दिया। इस आन्दोलन के कारण ईसाई धर्म दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। इस प्रकार ईसाई धर्म की एकता समाप्त हो गई।

3.1.2. कैथोलिक धर्म में आन्तरिक सुधार :

पोप ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति में बाधा उपस्थित करने के लिए कैथोलिक धर्म में कुछ सुधार किए, ताकि यह अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त कर सके। 1545 से 1569 ई. तक ट्रेन्ट नामक नगर में धार्मिक सम्मेलन आयोजित किये जाते रहे, जिनमें अनेक पादरियों ने भाग लिया। इन अधिवेशनों में कैथोलिक धर्म में सुधार हेतु अनेक निर्णय लिये गये। पोप ने इनको क्रियान्वित करने का आवश्वासन दिया। इन सम्मेलनों के निर्णय के अनुसार पोप ने सादा जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। अब चरित्रवान व्यक्ति को ही पोप के पद पर नियुक्त किया जाने लगा। क्षमापत्रों की बिक्री बन्द कर दी गई। स्कूलों में विद्यार्थियों को बाईबिल पढ़ाई जाने लगी। चर्च में इन सुधारों के कारण प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति का मार्ग अवरूद्ध हो गया। लायला ने जैसुइट नामक संस्था की स्थापना की जिसका प्रमुख उद्देश्य कैथोलिक धर्म एवं पोप के जीवन में व्याप्त बुराइयों को दूर करना था। इतिहास में रोमन कैथोलिक धर्म के आन्तरिक सुधार को प्रतिवादात्मक सुधार आन्दोलन के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन ने जहाँ एक ओर प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति धीमी कर दी, वहां दूसरी ओर जनता को पुनः रोमन कैथोलिक धर्म की ओर आकर्षित किया।

3.1.3. मतभेदों की उत्पत्ति :

धर्म सुधार आन्दोलन के कारण ईसाई धर्म की एकता छिन्न–भिन्न हो गई और अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। धर्म के गूढ़ तत्वो को लेकर उन सम्प्रदायों मे आन्तरिक मतभेद उत्पन्न हो गये। चर्च और राज्य के आपसी सम्बन्धों को लेकर भी उनमे भारी मतभेद था। कोई चर्च की स्वतन्त्रता का समर्थक था, तो कोई चर्च पर राज्य के नियंत्रण का पक्षपाती था। प्रोटेस्टेन्ट धर्म में भी अनेक सम्प्रदाय बन गये क्योंकि इस सम्प्रदाय के लोग बाईबिल को ही धर्म का आधार मानते थे औरप्रत्येक विद्वान बाईबिल का अलग अलग अर्थ लगाते थे। कालान्तर में मैथेडिज्म, बैपटिज्म, और कोंग्रिगेशनलिज्म आदि विभिन्न मत–मतान्तरों के प्रचलन से ये मतभेद और भी तीव्र हो गये।

3.1.4. असहिष्णुता की भावना का विकास :

धर्म सुधार आन्दोलन के कारण धार्मिक सहिष्णुता का लोप हो गया और उसके स्थान पर असहिष्णुता तथा कट्टरता की भावनाएं विकसित हुई। उस समय प्रत्येक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्त का प्रचार करने हेतु दूसरे सम्प्रदाय की आलोचना कर रहा था। इस प्रकार एक सम्प्रदाय दूसरे संप्रदाय कोसमाप्त करने के लिए प्रयास कर रहा था। इसके कारण 30 वर्ष तक यूरोप में संघर्ष चलता रहा। 1555 ई. में आंग्स बर्ग की सन्धि से इस संघर्ष की समाप्ति हुई। धर्म के नाम पर हजारों लाखों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा गया। प्रोटेस्टेन्ट राजाओं ने कैथोलिक प्रजा पर तथा कैथोलिक राजाओं ने प्रोटेस्टेन्ट प्रजा पर भयंकर अत्याचार किये। इंग्लैण्ड की शासिक मेरी ट्यूडर ने सैकड़ों प्रोटैस्टैन्टों को जीवित जलवा दिया। इसके पश्चात् कामवैल ने हजारों कैथोलिकों को मौत के घाट उतार दिया। जर्मनी मे प्रोटेस्टेन्टों को जीवित जलवा दिया। इसके पश्चात् कामवैल ने हजारों कैथोलिकों को मौत के घाट उतार दिया। जर्मनी में प्रोटेस्टेन्टों और रोमन कैथोलिकों के बीच 30 वर्ष तक भयकर संघर्ष चला। फ्रांस के शासकों ने प्रोटेस्टेन्टों पर अमानवीय अत्याचार किये। इस प्रकार धार्मिक असहिष्णुता ने एक लम्बे समय तक यूरोप की शांति को नष्ट कर दिया।

3.1.5. धार्मिक सहिष्णुता का विकास :

लगभग दो शताब्दियों की असहिष्णुता ने धार्मिक सहिष्णुता के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। धार्मिक संघर्ष का एकमात्र हल सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेन्ट शासक कैथोलिक समर्थकों का नया कैथोलिक शासक प्रोटैस्टेन्ट समर्थको को कुलचने मे असफल रहे क्योकि ये दोनों ही विचारधाराएं मजबूती के साथ अपनेपैर जमा चुकी थी। अतः धीरे–धीरे यह विचार जोर पकड़ता गया कि धर्म निरपेक्षता की नीति से ही राज्य में सुख और समृद्धि सम्भव है। इसलिए कैथोलिक फ्रांस में नान्तेज के फरमान से ही ह्यूगोनाटो को धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त हुई। पोलैण्ड में भी धार्मिक सहिष्णुता के लक्षण दिखाई देने लगे। हालैण्ड एक सहिष्णु देश बन गया।

3.1.6. राजाओं की शक्ति में वृद्धि :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्म सुधार आन्दोलन के कारण यूरोपियन राजाओं की शक्ति में वृद्धि हुई, जिससे निरंकुश राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का विकास हुआ।पहले सम्पूर्ण यूरोपियन देशो के राजा पोप की अधीनता में शासन कर रहे थे, परन्तु प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकार करने वाले राजा पोप की अधीनता से मुक्त हो चुके थें ऐसे राजाओं की संख्या बहुत अधिक थी। उन्होने अपने राज्यों में राष्ट्रीयता चर्च की स्थापना की, जिसका सर्वोच्च अधिकारी सम्राट् होता था।

स्वीट्जरलैण्ड, हालैण्ड तथा जर्मनी आदि देशों के शासक प्रोटेस्टेन्ट धर्म के समर्थक थे। उन्होंने चर्च की भूमि पर अधिकार करके अपनी शक्ति तथा सम्पति दोनों का विकास किया। पोप के प्रभुत्व से मुक्त होने के बाद राज्य की सार्वभौमिक शक्ति सम्राटों के हाथों में केन्द्रित थी। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के समर्थक राजाओं पर पोप का किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था, इसलिए अब राजा धीरे–धीरे निरंकुश होने लगे।

3.1.7 राष्ट्रीय भावनाओं का विकास :

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम स्वरूप जनता में तेजी से राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ, जिससे लोग एक सूत्र में बंध गये। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर सभी देशों ने पोप विरोधी आन्दोलन चलाया। अब चर्च का स्थान सम्राट ने और धर्म का स्थान राज्य ने ले लिया। सेबाइन ने लिखा है, राष्ट्रीयता का जन्म इसी विद्रोह मे हुआ था। प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय कई प्रकार से राष्ट्रीयता का निर्माता सिद्ध हुआ। व्यापार पर से मध्यकालीन प्रतिबन्ध उठ गये, अधिक ब्याज लेना जायज व्यापार बन गया और पुरानी बाइबिल के विचारों के विपरीत सम्पत्ति प्रभु का आशीर्वाद समझी जाने लगी।

3.1.8. कैथोलिक धर्म का प्रसार :

प्रोटेस्टेन्ट धर्म सुधार आन्दोलन की प्रगति को रोकने के लिए एंव कैथोलिक धर्म की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने हेतु प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण जैसुइट संस्था के सदस्य कैथोलिक धर्म का प्रचार करने हेतु विश्व के विभिन्न भागों में गये। जहां उन्होंने बड़े साहस और उत्साह के साथ धर्म का प्रचार किया। परिणामस्वरूप चीन, जापान, अफ्रीका एवं अमेरिका आदि देशों में कैथोलिक धर्म का प्रचार हुआ।

3.1.9. जन साहित्य का विकास :

धर्म सुधार आन्दोलन के कारण जन भाषा तथा जन साहित्य का विकास हुआ। धर्म सुधारकों ने जन भाषा में अपने उपदेश दिये तथा इसी में साहित्य की रचना की ताकि जनसाधारण धर्म के गूढ़ रहस्यों तथा उनके विचारो को आसानी से समझ सके। लूथर ने जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया था। इसी प्रकार अन्य दशों में भी वहां की जन भाषाओ मे बाइबिल के अनुवाद किये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में अपनी बोलचाल की भाषा के प्रति श्रद्धा की भावना जाग्रत हुई।

3.1.10 शिक्षा का विकास :

धर्म सुधार आन्दोलन से शिक्षा के प्रसार मे विशेष उन्नति हुई। जब कैथोलिक धर्म का पतन होने लगा, तो पोप ने शिक्षा के विकास की और विशेष ध्यान दिया। स्कूलों में छात्रों को धार्मिक विषयों की शिक्षा दी जाने लगी। उधर अन्य धर्म सुधारक तो शिक्षा को ही कैथोलिक धर्म की बुराइयो को दूर करने का मूल साधन समझते थे। प्रोटेस्टेन्ट तथा प्यूरिटन के धर्म प्रचारकों ने चर्च की संपत्ति को जब्त करके शिक्षा के विकास मे लगाया। उनका यह मानना था कि शिक्षा के विकास से जनता को धार्मिक अन्ध विश्वासों से मुक्ति मिल जायेगी। मैकनेल बन्स ने लिखा है ''इसने व्यक्तिवाद और लोकप्रिय शिक्षा के विस्तार को गति प्रदान की। शिक्षा का प्रभावशाली प्रसार हुआ। लूथरवादी और अन्य सम्प्रदाय समाज को शिक्षित बनाने में लग गये।''

3.1.11. नैतिक जीवन में सुधार :

धर्म सुधार आन्दोलनके कारण धर्माधिकारियों के नैतिक जीवन में सुधार हुआ। अब उन्होंने आदर्श तथा सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। पोप ने पाप मोचन पत्रों को बेचना बन्द कर दिया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अन्तर्गत धर्माधिकारी विवाह कर सकते थे, परन्तु उन्हे सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। प्राटेस्टेन्ट धर्म के गिरजाघर सादे बने हुए होते थे, ताकि पादरी उसे देखकर अपने जीवन में सादगी और सच्चरित्रता का समावेश कर सके। गिरजाघरों में नृत्य वर्जित कर दिया गया। सांसारिकता से अपना ध्यान हटा कर धर्माधिकारी अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने लगे। इससे प्रभावित होकर जनसाधारण अपने नैतिक जीवन की और विशेष ध्यान देने लगा।

3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की सफलता के कारण :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.2.1. यूरोप के अधिकांश लोग कैथोलिक चर्च के विरूद्ध विद्रोह करना नहीं चाहते थे :

निःसन्देह मार्टिन लूथर के प्रभाव से यूरोप के लोगों में कैथोलिक धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। उन्होंने प्रोटैस्टेंट धर्म के सिद्धान्तों का समर्थन भी किया, परन्तु उनके दिल से प्राचीन धर्म के प्रति आस्था सर्वथा विशिष्ट नही हुई थी। वे कैथोलिक चर्च के अन्तर्भूत दोषों का केवल निराकरण मात्र चाहते थे। ट्रेंट सभा व अन्य साधनों से जब कैथोलिक चर्च की बुराइयां दूर हो गई तो वे पुनः कैथोलिक चर्च के समर्थक हो गये।

3.2.2. ट्रेंट की सभा के सुधार :

ट्रेंट की सभा ने अपने सुधारों द्वारा कैथोलिक धर्माधिकारियों के जीवन को पवित्र एवं शिक्षित बनाया। पाप–मोचन पत्रों की बिक्री समाप्त कर दी। इसके अलावा धर्माधिकारियों के पदों की बिक्री भी समाप्त कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि कैथोलिक लोगों को अपने धर्म के प्रति उत्पन्न घृणा समाप्त होगई और जो लोग प्रोटैस्टेंट धर्म के प्रभाव मे चले गये थे, वे भी पुनः कैथोलिक चर्च के ही अनुयायी हो गये।

3.2.3. जैसुई लोगों का सहयोग :

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार को सफल बनाने का सर्वाधिक श्रेय जैसुइट संस्थाको जाता है। इसके सदस्य परम उत्साही धर्म प्रचारक सिद्ध हुए। उन्होंने इस धर्म का प्रभाव न केवल यूरोपीय देशों में ही पुनः स्थापित किया वरन् इस धर्म हेतु वे विश्व के दूर–दूर के देशों तक चले गये। अपने धर्म के दीक्षार्थियों की तलाश में वे नवीन देशों व प्रदेशों की खोज करते रहे। उनके कठोर अनुशासन व उनके द्वारा संचालित स्कूल जनता के लिए आदर्श बन गये।

3.2.4. शासकों का सहयोग :

प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रचार मे भी कुछसीमा तक शासकों का सहयोग मिला था, पर कैथोलिक चर्च का पुनः प्रतिष्ठा के स्थान पर लाने मे यूरोप के शासकों ने महान सहयोग दिया। इनमें उल्लेखनीय थे, स्पेन व फ्रांस के शासक। उन्होंने निर्दयता के साथ नवीन धर्म को दबाया तथा उनके प्रचारकों को नाना प्रकार की यातनाएं देकर उनका जीवन दुर्लभ बना दिया।

3.2.5. मिशनेरी स्कूल व कॉलेजों की स्थापना :

जैसुइट संघ ने जगह–जगह अपने धर्माधिकारियों को भेजा। उन्होंने वहां जाकर अपने धर्म प्रचार का साधन शिक्षा के प्रसार को बनाया। इसके लिए उन्होंने देश–विदेशों में स्कूल व कॉलेज खोलें उन्हें कैथोलिक धर्म का केन्द्र स्थल बना दिया। उनमें शिक्षा पाने वाले कैथोलिक धर्म से अवगत तथा प्रभावित भी हुए। इससे भी कैथोलिक धर्म विश्व के कई देशों में प्रसारित हो गया।

3.2.6. प्रोटैस्टेंट धर्म में दुर्बलता का आना :

मार्टिन लूथर के जीवनकाल तक तो प्रोटैस्टेंट धर्मतीव्र गति से प्रसारित होता रहा परन्तु उसकी मृत्यु के उपरानत इस धर्म मे शिथिलता आ गई। इस शिथिलता का लाभ कैथोलिक चर्च ने उठाया। कैथोलिक चर्च मे जैसुई लोगों के अथक प्रयास से नवीनशक्ति व स्फूर्ति उत्पन्न हुई और यह धर्म पुनः यूरोप व विश्वके अन्य देशों में आशातीत प्रगति करने लगा।

3.2.7. पोप का सादा व सदाचारी जीवन :

कैथोलिक चर्च के प्रति जनसाधारण की आस्था पोप के विलासी जीवन के कारण ही कम हुई थी, परन्तु इस प्रतिवादात्मक धर्म सुधार ने पोप के जीवन को सरल, त्यागमय एवं उच्च आदर्शों पर चलने वाला बना दिया। सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में पोप सदाचारी, कर्त्तव्य परायण तथा धर्म के प्रति निष्ठावान होने लगे। इनके इस पवित्र जीवन का जन–साधारण पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वे पुनः कैथोलिक चर्च में आस्था रखने लगे।

3.3 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – जेसुइट संस्था की स्थापना किसने की ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – ट्रेन्ट की कौसिल पर टिप्पणी किजिए? (30 शब्द सीमा)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन पर विस्तार से विवेचना किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 4

अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम

4.0 भूमिका

4.1 अमेरिका में उपनिवेश–निर्माण

4.2 स्वतन्त्रता की ओर : क्रांति और उसके कारण

4.3 स्वतन्त्रता संघर्ष के कारण

4.3.1. उपनिवेशों में इंग्लैण्ड के प्रति प्रेम का अभाव

4.3.2. चारित्रिक भिन्नता

4.3.3. उपनिवेशियों का स्वतन्त्र प्रेम

4.3.4. दोषपूर्ण शासन व्यवस्था

4.3.5. उपनिवेशों की उपयोगिता – भ्रान्त धारणा

4.3.6. सप्तवर्षीय युद्ध प्रभाव

4.3.7. नव विजित क्षेत्र की समस्या

4.3.8. नयी आर्थिक नीति

4.3.9. देशभक्तों काआन्दोलन – 'बॉस्टन टी–पार्टी

4.3.10. प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस

4.3.11. द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस

4.4 स्वतन्त्रता की घोषणा और स्वातंत्र्य युद्ध

4.5 पेरिस की सन्धि, 1783

4.6 अमेरिका की विजय और अंग्रेजों की हार के कारण

4.6.1. इंग्लैण्ड और अमेरिका की दूरी

4.6.2. जातीय समानता

4.6.3. उपनिवेशियों का सहयोग

4.6.4. उपनिवेशों की शक्ति का गलत मूल्यांकन

4.6.5. जार्ज तृतीय और उसके मंत्री

4.6.6. सेनानायक

4.6.7. अन्य राष्ट्रों का सहयोग

4.7 अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष के परिणाम

4.8 अमेरिका स्वतन्त्रता संघर्ष का महत्व

4.9 अमेरिकी क्रांति का प्रभाव

4.10 बोध प्रश्न

4.0 भूमिका :

आज से लगभग 200 वर्ष पूर्व 4 जुलाई, 1776 को अमेरिका ने स्वाधीनता के घोषणा–पत्र पर हस्ताक्षर किए थे और 1976 मे स्वाधीनता की द्विशतवार्षिकी को बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो आज विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और सम्पन्न राष्ट्र है, उत्तरी महाद्वीप के मध्य भाग में स्थित है। क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के महानतम् देशों में से एक है। जिस समय इसकी स्थापना हुई थी उस समय इसका क्षेत्रफल 3,15,065 वर्गमील था और इसमे 13 राज्य थे। आज उसमें 50 राज्य है और इसका क्षेत्रफल 36,15,222 वर्गमील है। पर आज का यह महान् अमेरिका भी कभी परतन्त्र था और इस विशाल महाद्वीप की भूमि पर साम्राज्यवादी शक्तियां छायी हुई थी।

4.1 अमेरिका में उपनिवेश–निर्माण :

कोलम्बस द्वारा अमेरिका के विशाल महाद्वीप की खोज करने के बाद शनैः–शनैः यूरोप की जातियों ने इस प्रेश की भूमि पर अपने उपनिवेश कायम करना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में अंग्रेज आगन्तुकों की ही प्रधानता रही, परन्तु शनैः–शनैः विभिन्न कारणों वश जर्मनी, पुर्तगाल, आयरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, स्पेन, फ्रांस आदि से भी लोग विशाल संख्या में अमेरिका आकर उसके विविध भागों में बस गए। यूरोपवासियों की बाढ़ आती गई, फलस्वरूप अमेरिका की जनसंख्या जहां 1760 में लगभग 21/2 लाख थी, वहां 1775 में वह लगभग 25 लाख हो गई।

इंग्लैण्ड और यूरोप से आए हुए लोग अपनी भाषा, संस्कृति और विचारधाराएं अपने साथ लाए थे। इन सभी लोगों के परस्पर घुलने–मिलने से अमेरिका के बीज थे। व्यवस्था प्रिय होने के कारण अधिकांश लोगों ने यह उचित समझा कि उपनिवेशों की स्थापना के लिए इंग्लैण्ड की मातृ–सरकार से आज्ञा प्राप्त कर ली जाए। इंग्लैण्ड के राजा ने प्रपत्रों के रूप में विविध व्यक्तियों और संस्थाओं को इस प्रकार की आज्ञाएं प्रदान की। इसके फलस्वरूप उपनिवेशो की स्थापना का सिलसिला जारी हुआ और सन् 1776 तक अमेरिका में अलग–अलग 13 उपनिवेशों की स्थापना हुई जो आन्तरिक मामलों में स्वशासित होते हुए भी इंग्लैण्ड के आधिपत्य में थे।

इस प्रकार जिन उपनिवेशों की स्थापना अमेरिका में हुई, वे मुख्यतः तीन प्रकार के थे – सम्राट के उपनिवेश, स्वामित्वपूर्ण उपनिवेश एंव चार्टर या अधिकार पत्र प्राप्त उपनिवेश। सम्राट के उपनिवेशों की संख्या सबसे अधिक थी। ये उपनिवेश पूरी तरह सम्राट के नियन्त्रण में थे। स्वामित्वपूर्ण उपनिवेशों का शासन प्रबन्ध अपना था, किन्तु सम्राट को इनके द्वारा निर्मित विधि पर वीटो का अधिकार था। चार्टर उपनिवेश कम्पनियों द्वारा बसाए गए थे। ये ब्रिटेश शासन के नियन्त्रण में थे और इंग्लैण्ड की विधियोंके प्रतिकूल विधि–निर्माण नहीं कर सकते थे।

4.2 स्वतन्त्रता की ओर : क्रांति और उसके कारण :

व्यवस्थित रूप से बस जाने के उपरान्त उपनिवेशों के निवासियों में शनैः–शनैः सामाजिक और राजनीतिक चेतना जाग्रत होती गई तथा इंग्लैण्ड से उनका भावात्मक सम्बन्ध पहले के समान घनिष्ठ नहीं रहा। अब उनमे पूर्ण स्वतन्त्रता पर आधारित पूर्ण स्वशासन की इच्छा बलवती होने लगी और इंग्लैण्ड का नाम मात्र का आधिपत्य भी उनहें खटकने लगा। विभिन्न प्रशासकीय और आर्थिक कारणों से ब्रिटेन के विरूद्ध उपनिवेशवासियों का असन्तोष बढ़ता गया। प्रथम सशस्त्र संघर्ष का सूत्रपात यद्यपि 1775 में हुआ तथापि वास्तविक क्रान्ति का सूत्रपात जनता के विचारों में पहले ही हो चुका था।

4.3 स्वतन्त्रता संघर्ष के कारण :

अमेरिकन उपनिवेशों का स्वतन्त्रता संग्राम विश्व इतिहास की प्रमुख घटनाओ में से एक है और इतिहास में इसका एक अपना ही स्थान है। तेरह उपनिवेशों में आबाद लोगों मे काफी भिन्नता थी और उनमेंसे बहुतों को इंग्लैण्ड से कोई विशेष शिकायत भी न थी, फिर भी परिस्थितियों ने उन्हें एकता के सूत्र मे आबद्ध कर दिया और वे शक्तिशाली इंग्लैण्ड के विरूद्ध उठ खड़े हुए और अन्त मे उन्हें इंग्लैण्ड के निरंकुश शासन से मुक्त होने में सफलता मिली। उपनिवेशियो के इस असंतोष का मुख्य कारण सामान्यतः इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा उपनिवेशों पर लगाये गये विभिन्न करों को बताया जाता है। परन्तु इस बात से इन्कारनहीं किया जा सकता है उनके असंतोष एवं विद्रोह के मूल में अन्य बहुत से कारण विद्यमान थें उनमे से कुछ इस प्रकार थे –

4.3.1. उपनिवेशों में इंग्लैण्ड के प्रति प्रेम का अभाव :

इंग्लैण्ड को छोड़ कर अमेरिका के तेरह उपनिवेशो के तेरह उपनिवेशों मे बसने वाले अधिकांश लोगो में इंग्लैण्ड के प्रति कोई विशेष प्रेम न था। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है, बहुत से लोग धार्मिक अतयाचारों से परेशान होकर उपनिवेशों में आकर बसे थे। ऐसे लोगों को इंग्लैण्ड के चर्च तथा वहां की सरकार से कोई विशेष सहानुभूति या प्रेम नही था। अंग्रेजों के अलावा अन्य यूरोपीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देशों के बहुत से लोग भी उपनिवेशों मे आकर बस गये थें उन लोगों से इंग्लैण्ड के लिए कोई विशेष सहानुभूति की आशा नहीं की जा सकती थी। सत्रहवीं सदी मे इंग्लैण्ड में से सजा देकर भी अपराधी लोगों को इन बस्तियों में भेज दिया जाता था। जेल के अधिकारियों तथा जजो को प्रोत्साहित किया जाता था कि अपराधियो को दण्ड भोगने की बजाय अमेरिका जाकर बसने का अवसर दें। ऐसे लोगों की सन्तों से इंग्लैण्ड के लिए प्रेम की आशा करना निरर्थक था। औपनिवेशिक विकास की सभी अवस्थाओं में एक आश्चर्यजनक विशेषता यह थी कि अपने निर्माणकाल से ही उपनिवेश परिस्थितियों के अनुसार अपनी विकास करने में स्वतन्त्र थे। इंग्लैण्ड की सरकार ने जार्तिया के अतिरिक्त और किसी उपनिवेश को स्थापित करने में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया और उनके राजनीतिक निर्देशन में क्रमश ही हस्तक्षेप किया। अत: उपनिवेशों पर शुरू से ही इंग्लैण्ड सरकार के प्रभाव और नियन्त्रण का अभाव था। इसके अलावा उस समय यातायात के साधन इतने खराब और अपर्याप्त थे कि इंग्लैण्ड और ये उपनिवेश एक–दूसरे के सम्पर्क में अधिक न आ सके। इस प्रकार, दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही कच्चे थ और जब उपनिवेशों में इंग्लैण्ड के विरूद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ तो उपनिवेशों में इंग्लैण्ड के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों की संख्या बहुत ही कम थी।

4.3.2. चारित्रिक भिन्नता :

उपनिवेशों में रहने वाले लोगों और इंग्लैण्ड में रहनेवाले लोगों में काफी चारित्रिक भिन्नता थी। यह ठीक है कि उपनिवेशों की 90 प्रतिशत जनसंख्या अंग्रेजो की थी। परन्तु ये अंग्रेज इंग्लैण्ड के अंग्रेजों से भिन्न थे। इतिहासकार ट्रेवेलियन ने लिखा है कि जहां अंग्रेजी समाज पुराना था और उसमें पेचीदापन और कृत्रिमता आ चुकी थी, वहां अमेरिकन लोग अभी नये–नये कर एक नया जीवन अपनाया था और अब वे अमेरिकी बन गये थे। इस प्रवृत्ति को अन्य राष्ट्रीय दलों और संस्कृतियों के सम्मिश्रण से, जो साथ–साथ हो रहा था, और अधिक बल मिला। अंग्रेजों और अमेरिका के लोगों में धार्मिक मतभेद भी थे। उपनिवेशो के अधिकांश निवासी प्यूरिटनथे, जबकि इंग्लैण्ड के लोग इंग्लैण्ड के चर्च के अनुयायी थे। उपनिवेशों में समानता की भावना अधिक प्रबल थी, जबकि इंग्लैण्ड अभी भी वर्ग भेद बना हुआ था ओरसमाज में कुलीन वर्ग के लोगों की प्रधानता की। इस प्रकार, दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न थे।

4.3.3. उपनिवेशियों का स्वतन्त्र प्रेम :

उपनिवेशों में आबाद लोग इंग्लैण्ड के लोगों की अपेक्षा अधिक उत्साही और स्वतन्त्रता प्रिय थे। उनमें जनतन्त्र शासन पद्धति और स्वतन्त्रता का इंग्लैण्ड के लोगों से भी अधिक प्रचार था। इसकी स्पष्ट झलक वर्जीनिया के प्रथम अधिकार पत्र में ही देखने को मिलती है, जिसमें जोर देकर कहा गया है कि "बसने वालों को सभी स्वाधीनताएं, मताधिकार एवं रियासतें प्राप्त होगी, ठीक उसी तरह जैसी वे इंग्लैण्ड में जन्म लेने पर प्राप्त करते है। यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बुनियादी सिद्धान्त था। नये महाद्वीप पर पैर रखने के प्रथम वर्ष से ही उपनिवेशी अंग्रेज कानून और संविधान के अनुसार कार्य करने लगे थे – उनकी विधान सभा थी, प्रतिनिधिक शासन पद्धति थी और सामान्य विधि द्वारा आश्वासित व्यक्तिगत अधिकारों का मान्यता थी। उपनिवेशियों में आगे बढ़ने की भावना थी और उनकी विधान सभाएं अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती थी। वे बस्तियों के आन्तरकि मामलों पर बड़ा ध्यान देती थी। आरम्भ में इंग्लैण्ड के राजा ने भी स्वेच्छा से उनकी शासन पद्धति को मान्यता दे दी थी। परन्तु जब इंग्लैण्ड की संसद ने अमेरिकी उपनिवेशों को साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप ढालने की और ध्यान दिया तो कुछ देर हो चुकी थी। इस समय तक बस्तियां शक्तिशाली और सम्पन्न हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उपनिवेशी लोग भला यह कैसे गवारा कर सकते थे कि दूसरे लोग उनको यह सिखायें कि वे किस तरह अपने शासन को संभालें। वे किसी भी कीमत पर अपनी स्वतन्त्रता को त्यागने के लिए तैयार न थे। वे चाहते थे कि अपनी परिस्थितियों के अनुकूल कानून वे स्वयं ही बनाये। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे रूढ़िवादी और पुरानी लकीरो पर चलने वाले इंग्लैण्ड से स्वतन्त्रता होना चाहते थे।

4.3.4. दोषपूर्ण शासन व्यवस्था :

उपनिवेशों की शासन व्यवस्था भी संतोषजनक न थी और उसमे कई प्रकार के दोष विद्यमान थे। शासन व्यवस्था के तीन प्रमुख अंग थे – 1. गवर्नर, 2. गर्वनर की कार्यकारिणी समिति और 3. विधायक सदन अथवा असेम्बली। गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति तो सम्राट के अन्तर्गत थी और वे विधायक सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। विधायक सदन में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधी होते थे। कानून निर्माण और कराने लगाने का अधिकार विधायक सदनों के हाथ मे था। ऐसी स्थिति में गवर्नरों के लिए जनता में प्रतिनिधियों का विरोध करना बहुत ही कठिन काम था। इसका एक अन्य कारण भी था। शासन कार्य चलाने वाली गवर्नर सहित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सभी लोगो का वेतन तय करने का अधिकार विधायक सदनो के पास था और कभी–कभी वे अपनी इच्छानुसार किसी भी गवर्नर अथवा जज के वेतन की धनराशि की मांग को अस्वीकृत कर देते थे अथवा उसमें कमी कर देते थे। उपनिवेशों के विधायक सदनों का यह रवैया इंग्लैण्ड सकरार को बहुत बुरा लगता था, क्योंकि इसमें गवर्नरो और जजों की महान हानि तो होती ही थी अपितु उनके अधिकार प्रयोग पर भी बंधन लग जाता था और अधिकारी अपने आपको स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने में असमर्थ पाते थे। इससे स्पष्ट है कि गवर्नर का उत्तरदायित्व तो था, परन्तु उसके अधिकार सीमित थे। दूसरी तरफ विधायक सदनों को अधिकार प्राप्त थे परन्तु उनमें उत्तरदायित्व का अभाव था। इस प्रकार शासक और शासित वर्ग दोनों ही एक दूसरे से असंतुष्ट थे और दोनो के सम्बन्ध तनावपूर्ण बने हुए थे।

4.3.5. उपनिवेशों की उपयोगिता – भ्रान्त धारणा :

उपनिवेशों की स्थापना तथा उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड की सरकार तथा आम जनता एक भ्रान्त धारणा से ग्रस्त थी। उनका मानना था कि उपनिवेश इंग्लैण्ड को लाभ पहुंचाने के लिए है और इसी आधार पर वे उपनिवेशों का आर्थिक शोषण करना चाहते थे। इंग्लैण्ड के हितों की वृद्धि करने में उनकी रूचि नहीं थी। उनका कहना था कि क्या उन्होंने अपने बाहुबल से उपनिवेशों की स्थापना नहीं की ? क्या उन्होंने अपने ही कठिन परिश्रम से घने जंगलों तथा बीहड़ों को साफ नहीं किया? क्या उन्होने स्वयं ही अपनी शासन व्यवस्था का निर्माण नहीं किया था ? वे यह मानते थे कि इंग्लैण्ड ने कई बार उनको खतरों से बचाया था। परन्तु इसकी कीमत परतन्त्रता नहीं थी। दूसरी तरफ, इंग्लैण्ड का शासक वर्ग चाहता था कि उपनिवेश उसकी धन एवं सत्ता की वा1द्धि में सहयोग देते रहें। वस्तुतः अंग्रेज सामन्तो, उनके परिवारजनो और कृपापात्रों को अमेरिकी उपनिवेशो में बड़ी–बड़ी नोकरिया मिलती थीं सम्राट की तरफ से उनको भूमि के विशाल क्षेत्रों के आज्ञापत्र मिलते रहते थे। अंग्रेज व्यापारियों की लोभपूर्ण दृष्टि भी अमेरिका के उपजाऊ कृषि क्षेत्र और कच्चे माल पर टिकी हुई थी। इसलिए अंग्रेज शासन अमेरिकी व्यवसाय और व्यापारको अपने हित मे मोडने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था। अंग्रेज यह समझ नहीं पाये कि उपनिवेशियों और उनके हित एक समान नहीं है और उपनिवेशी उनसे रूष्ट हो चुके है। बस्तियों के व्यापार और शिल्पोद्योग सम्बन्धी कानून इंग्लैण्ड के लाभ की दृष्टि से ही पास किये जाते थे। इनको तीन समूहों में बांटा जा सकता है –

1. वे कानून जिनके द्वारा पोत–निर्माण तथा जलमार्ग से सामान ढोने पर प्रतिबन्ध लगाएं गए। इनको नौ संचालन कहते है। इन नियमों के द्वारा यह निश्चित किया गया कि सामानों का आयात तथा निर्यात चाहे वह यूरोपीय देशों को हो अथवा इंग्लैण्ड को, अंग्रेजी जहाजों में ही हुआ करेगा और जहाजों के संचालक भी अंग्रेज होंगे। चूंकि उपनिवेशों को भी अंग्रेज मान लिया गया था अतः उस समय इससे उपनिवेशों को लाभ ही पहुंचा था और उनके जहाज निर्माण उद्योग की आशातीत उन्नति हुई।

2. दूसरे समूह में व्यापारिक अधिनियम थे। इन नियमों के अनुसार अमेरिकी उपनिवेशों में उत्पादित कुछ वस्तुओं का निर्यात केवल इंग्लैण्ड को ही किया जाना था। ये वस्तुएं थी – चावल, तम्बाकू, लोहा, लकड़ी, चमड़ा एवं नौसैनिक समान। इन नियमों से काफी असन्तोष फैला, क्योंकि यदि डच और फ्रांसीसी उन्हें अंग्रेज वस्तुएं नहीं बेच सकते थे। इन नियमों में यह भी प्रावधान था कि यूरोप को अमेरिकी वस्तुओं का निर्यात अथवा यूरोप से उपनिवेशों में आयात अंग्रेज व्यापारियों द्वारा ही हो सकता था। अतः इस आदान–प्रदान का सारा मुनाफा अंग्रेज व्यापारी ही समेट लेते थे।

3. तीसरे समूह में औद्योगिक अधिनियम सम्मिलित थे। इनके द्वारा उपनिवेशों के उद्योगों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। उदाहरण के लिए 1699 ई. में अमेरिका से ऊनी माल के निर्यात को बिल्कुल बन्द कर दिया गया। 1732 ई. मे तैयार अथवा आधे तैयार दोनों प्रकार के टोपो का निर्यात बन्द कर दिया गया। 1750 ई. में उपनिवेशों में लोहे के कारखाने स्थापित करने की मनाही कर दी गई। परिणामस्वरूप उपनिवेशी अब लोहे के कारखाने स्थापित करने की मनाही कर दी गई। ये सभी नियम इंग्लैण्ड के उत्पादकों के हित में पारित किये गये थे।

यथापित उपर्युक्त सभी कानून अमेरिकी लोगों के लिए हानिकारक थे, फिर भी उस समय इनका जोरदार विरोध नहीं किया गया क्योंकि इन कानूनों का कभी सख्ती के साथ पालन नहीं किया गया और ऐसा किया जाना सम्भव भी नहीं था। ये सब नियम कागजी नियम बन कर रह गये और कानूनों के होते हुये भी उपनिवेशों के अन्य देशों के साथ व्यापार करते रहे। उदाहरण के लिए 1733 ई में इंग्लैण्ड की संसद ने शीरे का अधिनियम पास किया था। इसके द्वारा उन समस्त व्यापारिक वस्तुओं पर चुंगी लगा दी गई जिनका निर्यात अमेरिकी उपनिवेशों से अमेरिका स्थित गैर–ब्रिटिश क्षेत्रों को होता था। वस्तुस्थिति ये थी कि न्यू इंग्लैण्ड उपनिवेश फ्रांस अधिकृत पश्चिमी द्वीप समूह से व्यापार कर शीरा मंगवाता था, उस शीरे से शराब तैयार की जाती और

Jan Kishva Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

शराब की बिक्री से न्यू इंग्लैण्ड काफी लाभ कमाता था। अब उन्हें ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप समूह से व्यापार करने को कहा गया। परन्तु उपनिवेश वालो ने शुय से ही एक नियम की परवाह न की और इस एक्ट को व्यथ सिद्ध कर दिया। इंग्लैण्ड की सरकार के लिए उचित तो यही था कि वह या तो इन सभी कानूनों को हटा देती अथवा सख्ताी के साथ लोगो से कानूनों का पालन करवाती। इनका बना रहना और लोगों द्वारा इनकी अवहेलना किया जाना एकऐसी प्रवृत्ति थी जिसने उपनिवेशियों को इंग्लैण्ड की अवहेलना करना सिखा दिया। अतः जब जार्ज तृतीय के शासनकाल में इन नियमों का सख्ती से पालन करवाने का प्रयास किया गया तो लोगों में विरोध उठना स्वाभाविक ही था।

4.3.6. सप्तवर्षीय युद्ध प्रभाव :

जिस समय अंग्रेज अमेरिका में अपने उपनिवेशो की स्थापना मे व्यस्त थे, उस समय फ्रांसीसी भी उत्तरी अमेरिका में अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थें उन्होंने मिसिसिपी नदी पर अधिकार करके उत्तर–पूर्व में क्वेबेक से लेकर दक्षिण में न्यू आर्लियन्स तक एक विशाल साम्राज्य स्थापित करके अंग्रेजों को अपेलेशियन पहाड़ के पूर्व की तंग पट्ट तक सीमित कर दिया था। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में एक सौ साल से भी अधिक समय तक अनिर्णायक युद्ध चलते रहे। 1757 से 1763 ई. के मध्य दोनों में सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ गया। युद्ध की शुरूआत यूरोप से हुई थी परन्तु अमेरिका में भी यह उतना ही भयंकरता से लड़ा गया। अमेरिका के अंग्रेजी उपनिवेशों न सब मिलाकर युद्ध के लिए इंग्लैण्ड को कोई विशेष सहायता नही दी। फिर भी इंग्लैण्ड को निर्णायक सफलता मिली और उत्तरी अमेरिका का विस्तृत फ्रांसीसी साम्राज्य इंग्लैण्ड के अधिकार में आ गया।

सप्तवर्षीय युद्ध के दूरगामी परिणाम निकले। अब तक अमेरिकी उपनिवेश इंग्लैण्ड के साथ इसलिए लटके चले आ रहे थे कि उन्हें कनाड़ा में रहने वाले फ्रांसीसियों से हमेशा आक्रमण का भय बना रहता था और उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए इंग्लैण्ड पर आश्रित रहना पड़ता था। परन्तु सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांसीसी शक्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही फ्रासीसियों के आक्रमण का भय भी जाता रहा। इसलिए अब अंग्रेज बस्तियों ने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड के साथ चिपटे रहने में उन्हें कोई लाभ नहीं। अतः सप्तवर्षीय युद्ध के बाद बस्तियों के रूख में एकदम परिवर्तन आ गया और उन्होंने इंग्लैण्ड की शक्ति की अवहेलना करनी शुरू कर दी। इस संघर्ष में भाग लेकर अमेरिकी लोगों ने अन्तरौपनिवेशिक सहयोग के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीख लिया कि किस प्रकार सेनाएं और साधन संगठित करके एक सहराज्यों में एकता पैदा करने में अभी कुछ वर्ष का समय चाहिये था, परन्तु इस और एक बड़ा कदम इस प्रकार उठ गया। इस युद्ध का एक परिणाम यह भी हुआ कि उपनिवेशो को अपनी शक्ति का अनुभव हुआ। अमेरिका के भद्दे सैनिकों पर ब्रिटिश कि ना भी नाक–भौ क्या न चढ़ाये यह एक सत्य है कि औपनिवेशक सेनाओं ने प्रत्येक युद्ध में सुशिक्षित ब्रिटिश सैनिकों के साथ–साथ बड़ी योग्यता से काम किया था। अन्त में इस युद्ध के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति डगमगा उठी और नवविजित क्षेत्र को लेकर भी समस्या उठ खड़ी हुई। इन दोनों का विस्तृत विवरण अलग से किया जा रहा है क्योंकि इनके कारण दोनों पक्षों में तनाव की खाई चौडी हो गई थी।

4.3.7. नव विजित क्षेत्र की समस्या :

सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस की पराजय के बाद उत्तरी अमेरिका का समूचा फ्रेंच क्षेत्र इंग्लैण्ड के अधिकार में आ गया। इस क्षेत्र मे मुख्यतः कैथोलिक फ्रांसीसी और आदिवासी रेड इंडियन्स बसे हुए थे। अतः इंग्लैण्ड के सामने एक ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता आ पड़ी, जिससे कि फ्रांसीसियों और रेड इंडियनों में आत्मविश्वास पैदा किया जा सके और साथ ही उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी की जा सके। उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों को शुरू से ही अंग्रेजों से घृणा थी। वे फ्रांसीसियों को अधिक पसन्द करते थे। दूसरी तरफ उपनिवेशी इस विशाल विजित क्षेत्र मे अपनी तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ स्वंय लाभ उठाने पर तुले हुए थे। इस प्रकार यहां इंग्लैण्ड की सरकार का उपनिवेशों के स्वार्थ से संघर्ष हो गया। नयी भूमि की आवश्यकता के कारण विभिन्न उपनिवेशों ने यह दावा किया कि पश्चिम में मिसिसिपी नदी तक अपनी सीमा बढ़ाने का उन्हें अधिकार है।

इंग्लैण्ड की सरकार को यह भय था कि उपनिवेशियों के नये क्षेत्रों में जाकर बसने से वहां के मूल निवासियों के साथ कही युद्धों का सिलसिला न आरम्भ हो जाये। अतः वह चाहती थी कि रेड इंडियनों को शानत होने के लिए थोड़ा समय देना चाहिए और उपनिवेशियों के मध्य भूमि वितरण का काम धीरे–धीरे होना चाहिए। इसीलिए 1763 ई. मे एक शाही घोषणा द्वारा ऐलेगनीज फ्लोरिडा, मिसिसिपी ओर क्वेबेक के बीच का समूचा क्षेत्र रेड इंडियनों के लिए सुरक्षित कर दिया। गया। इससे उपनिवेशियों का पश्चिम की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और प्रसार रूक गया और वे अपनी सरकार को अपना शत्रु समझने लगे।

4.3.8. नयी आर्थिक नीति :

सप्तवर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड ने अपने उपनिवेशों का बचाने के लिए बहुत धन खर्च किया था जिससे उसकी आर्थिक स्थिति डगमगाने लग गई थी। अंग्रेज राजनीतिज्ञों का मानना था कि चूंकि यह धन उपनिवेशों की रक्षा के लिए व्यय किया गया था, अतः उपनिवेशों को इंग्लैण्ड के आर्थिक संकट को दूर करने में हिस्सा बंटाना चाहिए। परन्तु उपनिवेशियों ने इसे साम्राज्य विस्तार के लिए लड़ा गया युद्ध मान कर सहयोग देने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, अपितु उपनिवेशो ने भविष्य में भी बस्तियो की रक्षा के लिए खर्च होने वाले धन में भी अपना हिस्सा देने से इन्कार कर दिया।

शुगर एक्ट — युद्ध के अन्तिम दिनों में इंग्लैण्ड की राजनीति में परिवर्तन आ गया था। जार्ज तृतीय के राजा बनने के एक वर्ष के भीतर ही पिट्ट प्रधान मंत्री बना। ग्रेनविल और उसके साथी मंत्री टाउनशेड ने यह तय किया कि उपनिवेशों में अधिक जागरूक शासन की व्यवस्था करनीचाहिए और उपनिवेशियों से शासन व्यय के साथ–साथ सरक्षण व्यय भी वसूल किया जाना चाहिए। इसके लिए दो उपाय सोचे गये –

1. नाविक और व्यापारिक नियमों का कड़ाई से पालन करवाना और
2. अमेरिकी व्यापार और उद्यम से सम्बन्धित नये कानून बनाना।

नयी व्यवस्था आरम्भ करने में पहला कदम 1764 ई. में शुगर एक्ट था, जिसका ध्येय व्यापार को नियन्त्रित किये बिना आय बढ़ाना था। यह पुराने 'मोलेसेज एक्ट' का ही संशोधित रूप था। संशोधित शुर के अनुसार विदेशी रम का आयात बन्द कर दिया गया, सभी स्थानों से आये शीरे पर साधारण कर लगा दिया और शराबों, रेशम, काफी तथा अनेक विलास–सामग्रियों पर भी कर लगा दिया गया। इसको कड़ाई से लागू करने के लिए सीमा–शुल्क अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि वे अधिक दृढ़ता से काम करे। अमेरिकी समुद्र में स्थित ब्रिटिश युद्धपोतों को कहा गया कि वे तस्कर–व्यापारियों को पकड़ ले और शाही अधिकारियों को 'रिट्स आफ असिस्टेंस' (विस्तृत अधिकारों के वारन्ट) द्वारा संदिग्ध स्थानों की तलाशी लेने का अधिकार दे दिया गया। उपनिवेशियों के लिए इस नियम की व्यापकता तथा इसके पालन के लिए उठाये गये कदम दोनो ही असंतोषजनक थे क्योकि इससे उनके आर्थिक हितों को नुकसान पहुंच रहा था। एक पीढ़ी से भी अधिक समय से न्यू इंग्लैण्ड वाले अपने रम की भट्टियों के लिए अधिकांश शीरा फ्रांसीसी और डच पश्चिमी द्वीप समूह से बिना किसी आयात कर के मंगवाते थे। अब वे न तो सस्ते दामो पर शक्कर ही मोल ले सकते थे और न रम बनाने के लिए शीरा ही ला सकते थे। इसे विपरीत यह नियम अंग्रेज शक्कर उत्पादकों के लिए लाभदायक था। अतः उनका उत्तेजित होना स्वाभाविक ही था। इसके अलावा, 1764 ई. के राजस्व अधिनियम में यह कहा गया था कि राज्य की आय को बढ़ाने के लिए कर लगाये गये है। कर लगाने का यह नया अधिकार शीघ्र ही विवाद का विषय बन गया। इसी विवाद ने अन्ततः अमेरिकी उपनिवेशों को इंग्लैण्ड से अलग कर दिया। व्यापारियों, विधान सभाओं तथा नगर–सभाओं ने एक स्वर से इसका विरोध किया ओरसमैमुअल एडम्स जैसे लोगों को इसमें बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाने का पहला आभास मिला।

करेन्सी एक्ट — उसी वर्ष इंग्लैण्ड की संसद ने एक मुद्रा–कानून पास किया। इसके अनुसार राजा के किसी भी उपनिवेश में भविष्य में जारी की गयी कोई हुंडी धन नही मानी जानी थी।'' हुआ यह कि बजुत से उपनिवेशी नकद रूपये के स्थान पर कागज के नोट छाप कर अपने ऋण का भुगतान करते थे। इससे इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों को हानि पहुंचती थी। नये कानून ने उपनिवेशियों का आर्थिक बोझ बढ़ा दिया, क्योंकि उनके पास नकद रूपयों की कमी थी। 1765 ई. में बिलेटिंग एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार उपनिवेशियों को राजकीय सैनिकों को निवास स्थान तथा आवश्यक सामग्री देने को कहा गया। उपनिवेशियों के लिए यह कानून भी अपमानजनक तथा आपत्तिजनक था।

स्टाम्प — 1765 ई. में ग्रेनविल ने सुप्रसिद्ध स्टाम्प एक्ट पास करवा दिया। इस कानून के द्वारा समाचार पत्रों, कड़ी आलोचनाओं वाली पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, लाइसेंसों, पट्टों तथा कानूनी दस्तावेजों पर रसीदी टिकट लगाना आवश्यक हो गया। इस कानून ने उपनिवेशियों में पहले से चले आ रहे असंतोष को संगठित रूप दे दिया। यद्यपि इस कानून द्वारा लादा गया बोझ बहुत हल्का था और इससे प्राप्त होने वाली आय का उपयोग उपनिवेशों के लिए ही किया जाना था फिर भी, उपनिवेशों में तत्काल इस एक्ट का विरोध शुरू हो गया। वर्जिनिया का पैट्रिक हेनरी वर्गीज सभा में ही आपे से बाहर हो गया और उसने घोषणा की कि वर्जिनिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लोगों पर कर लगाने का अधिकार वर्जिनिया की प्रतिनिधि सभा के सिवाय किसी को नहीं है। मेसाचूसेट्स में भी स्टाम्प एक्ट का जोरदार विरोध हुआ और वहा वहा जेम्स ओटिस और सैम्युल एडम्स ने घोषणा की कि नियमानुसार प्रतिनिधि लिए बिना, कर लगा देना लोगों को गुलाम बनाने का ढंग है। न्यू इंग्लैण्ड न्यूयार्क और पेनसिलेवेनिया मे दंगा हो गया। स्टाम्प बेचने वाले अपने पद छोड़ गये। अधिक गड़बड़ और मारपीट को बढ़ावा देने के लिए आजादी के सपूतों के स्वतन्त्रता प्रिय दल संगठित किये जाने लगे। एक सभा में नौ उपनिवेशों के नेताओं ने स्पष्ट कहा कि उपनिवेशों पर उनकी प्रतिनिधि सभाएं ही कर लगा सकती है। अन्य कोई नहीं। इस प्रकार, उपनिवेशों में बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं। (New Taxation without Representation) का नारा बुलन्द हो गया। उपनिवेशों के व्यापारियों ने संगठित होकर आयात बहिष्कार संघ बनाया और इंग्लैण्ड से माल न मंगाने का निश्चय किया।

अमेरिकी उपनिवेशों मे स्टाम्प एक्ट का जो घोर विरोध हुआ, उससे इंग्लैण्ड मे खलबली मच गई। 1765 की गर्मियों में मातृदेश से व्यापार गिरने लगा। ब्रिस्टन, लन्दन और लिवरपूल के अंग्रेज व्यापारियों का बुरा हाल हो गया। कारखानो में कारीगर बेकार होने लगे। विवश होकर इंग्लैण्ड की सरकार को 1766 ई. में स्टाम्प एक्ट का निरस्तीकरण तथा शुगरएक्ट में संशोधन करना पड़ा। इस प्रकार पुनः शान्ति स्थापित हुई। स्टाम्प एक्ट से उत्पन्न समस्या प्रतिनिधित्व के प्रश्नपर केन्द्रित थी। उपनिवेशों का मत था कि जब तक वे स्वयं इंग्लैण्ड के हाउस आफ कामन्स के सदस्य नहीं चुनते, तब वे यह कैसे मान ले कि इंग्लैण्ड की ससद में उनका प्रतिनिधित्व है। परन्तु इंगलिश सिद्धान्त स्थान की अपेक्षा वर्गो और स्वार्थों के प्रतिनिधियों पर आधारित था। अंग्रेजों की मान्यता थी कि इंग्लैण्ड की संसद अधिकार है जितना स्वदेश पर। इंग्लैप्ड और अमेरिका की तात्कालिक राजनीतिक विचारधाराओं में यह बुनियादी मतभेद था, जिसको अन्त में युद्धभूमि में जाकर ही सुलझाना पड़ा।

नये कानून — 1767 ई. मे इंग्लैण्ड के वित्त मंत्री चार्ल्स टाउनशेड ने जल्दबाजी मे कुछ नये कानून पास करवाये, जो कि उपनिवेशो को उतने ही अप्रिय और असहाय थे जितने कि पहले वाले नियम। एक नियम के अनुसार सीसे, कांच, रंग, चाय और अन्य कई वस्तुओं पर जिनका आयात उपनिवेशों में होता था, चुंगी लगाई गई। इससे होने वाली आय का उपयोग उपनिवेशों में ब्रिटिश सरकार की और से नियुक्त गवर्नरोंतथा अन्य राजकीय कर्मचारियो के वेतन और अन्य खर्चों के भुगतान के लिए किया जाना था। इसका अर्थ था गवर्नरों पर से औपनिवेशिक विधान सभाओं का नियन्त्रण कम करना। इससे उपनिवेशियों को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश संसद उपनिवेशों के मामलों में और अधिक नियन्त्रण रखने की सोच रही है। दूसरे नियम के द्वारा यह तय किया गया कि उपनिवेशों को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश संसद उपनिवेशों के मामालों में और अधिक नियन्त्रण रखने की सोच रही है। दूसरे नियम के द्वारा यह तय किया गया कि उपनिवेशों मे उत्पादित समस्त वस्तुओं पर चुंगी की वसूली सम्राट द्वारा नियुक्त कमिश्नर ही करेगे। इन कमिश्नरों के वेतन इंग्लैण्ड के राजकोष से चुकाने की व्यवस्था की गई, अर्थात् इन्हे भी उपनिवेशों के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया। तीसरे कानून के अन्तर्गत ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा अमेरिका को भेजी जाने वाली चाय पर जो चुंगी लगती थी, उसे समाप्त कर दिया गया। इससे ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए अमेरिकी तस्कर व्यापारियों की अपेक्षा सस्ती दरों पर चाय बेचना सम्भव हो गया। एक अन्य कानून ने उपनिवेशों के उच्च न्यायालयो को विस्तृत अधिकारों के वारन्ट जारी करने का अधिकार दिया। इस प्रकार, जिन सामान्य तलाशी वारन्टों से उपनिवेशी घृणा करते थे, उन्हें वैधता प्राप्त हो गई।

नये कानूनों के परिणामस्वरूप सारे अमेरिका में फिर से विरोध उठ खड़ा हुआ। अमेरिका के धाराशास्त्रियों ने इन कानूनों को नियम विरूद्ध बतलाया। व्यापारियों नेफिर से आयात बहिष्कार समझौते आरम्भ किये। सभी उपनिवेशों में इंग्लैण्ड में बने सामान का बहिष्कार किया जाने लगा। इस बहिष्कार से अंग्रेज व्यापारी घबरा उठे और इंग्लैण्ड में भी यह शोर मचने लगा कि ऐसे कानून जो झगड़े के स्रोत है, उनको निरस्त कर दिया जाए। मेसाचूसेट्स मे जब सीमा शुल्क अधिकारियो ने कर वसूलना शुरू कियातो जनता उन पर पिल पड़ी और उन्हें पीटा। इस कारण सीमा–शुल्क आयुक्तों की रक्षार्थ वहां दो सैनिक टुकड़िया भेजी गयी।

बॉस्टन हत्याकांड — बॉस्टन मे ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति ने उपद्रवकारियों को और भी अधिक उत्तेजित न्यूयार्क की विधान सभा को इसलिए निलंबित कर दिया कि वह अंग्रेज सैनिकों के आवास की संतोषजनक व्यवस्था नहीं कर पाई थी। यह कदम उपनिवेशों की स्वाधीनता के मूल तत्वों पर कुठाराघात था। दोनों पक्षों के मध्य असंतोष बढ़ता गया और अन्त में 5 मार्च, 1770 ई. के दिन बॉस्टन नगर में सात अंग्रेज सैनिकों और नगरवासियो के बीच झगड़ा हो गया। पहले तो इस झगड़े में बर्फ और मुक्कों से काम लिया गया, परन्तु अन्त में घबराये हुए ब्रिटिश सिपाहियो ने गोली चला दी। इसमे तीन नागरिक मारे गये। उपनिवेश के उपद्रवकारियों को इंग्लैण्ड के विरूद्ध भड़काने वाले आन्दोलन में इससे बहुमूल्य सहयोग मिला। एक अमेरिकी इतिहासकार ने लिखा है कि, "इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

घटना को 'बॉस्टन हत्याकाण्ड' की संज्ञा देकर इसे नाटकीय ढंग से ब्रिटिश हृदयहीनता और नृशंसता के प्रमाण रूप में चित्रित किया गया, जिसका बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा।" अमेरिका और अंग्रेज व्यापारियों के विरोध के सामने ब्रिटिश संसद ने झुकना ही अच्छा समझा और इस अधिनियम को संशोधित कर दिया। संशोधन के अनुसार चाय के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओंपरसे 'टाउनशेड शुल्कों' को हटा दिया गया। 'चार कर' भी जार्ज तृतीय के विशेष जोर देने पर रखा गया था। उसका मानना था कि अधिकार की रक्षा के लिए एक कर तो रहना ही चाहिए। जो भी हो, इससे स्थिति काफी शान्त हो गई।

4.3.9. देशभक्तों काआन्दोलन – 'बॉस्टन टी–पार्टी' :

टाउनशेड शुल्को के हटा लिये जाने के बाद, उपनिवेशियों में आंतरिक मतभेदपैदा हो गया। अभी भी अमेरिका मे इंग्लैण्ड के प्रति काफी सद्भावना थी, विशेषकर धनिक वर्गों में। वे स्वतन्त्रता के समर्थको की और से कराये गये दंगो तथा बहिष्कार के विरूद्ध थे क्योंकि गड़बड़ से व्यापार को हानि पहुंचती थी। साधारण अमेरिकी को भी इंग्लैण्ड से पूर्ण स्वाधीन हो जाने की अधिक इच्छा न थी, वह तो केवल यह चाहता था कि अपने खेत या दुकान पर आजादी से काम करे और शान्ति से अपना निर्वाह करे। परन्तु देशभक्तों तथा अतिवादियों का एक छोटा सा वर्ग विवाद को जीवित रखने के पक्ष मे था। उनका कहना था कि जब तक चाय कर रहना, उपनिवेशियों पर इंग्लैण्ड की संसद के अधिकार का सिद्धान्त बना रहेगा और इसकी आड़ मे भविष्य में कभी भी इस सिद्धान्त का पूर्ण प्रयोग किया जा सकेगा। अतः उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के लिए इस घातक सिद्धान्त का डट कर विरोध किया जाना चाहिए। संयोग से उग्रवादियों को सैमुअल एडम्स जैसा आदर्श नेता मिल गया। उसमें साहस और कुशल बुद्धि भी थी। उसकी वाक्य शैली सुस्पष्ट और निष्कपट थी। उसको एक संबल राजनैतिक दल का समर्थन भी प्राप्त था। उसका मुख्य ध्येय अमेरिकी लोगों को अपने महत्व का आभास कराना और उन्हें आन्दोलन के लिए जागृत करना था। इसके लिए उसने लेखों तथा भाषणों का सहारा लिया और पत्र–व्यवहार समितियों की स्थापना की। ऐसे ही समय में इंग्लैण्ड की सरकार की एक भारी भूल ने असंतोष की ज्वाला को पुनः प्रज्जवलित कर दिया।

इंग्लैण्ड की शक्तिशाली ईस्ट इंडिया कम्पनी की आर्थिक दशा इस समय संकटापन्न हो गयी थी। कम्पनी को इंग्लैण्ड की आवश्यकतानुसार चायपूर्ति का एकाधिकार था। परन्तु उस समय इंग्लैण्ड के गोदामों में चाय भरी थी। उसका कोई ग्राहक ही न था। यदि कम्पनी को अमेरिका में चाय निर्यात करने का एकाधिकार मिल जाये तो कम्पनी दिवालिया होने से बच सकती थी। वैसे भी, अमेरिका मे 1770 ई. के बाद से ही चाय का अवैधानिक व्यापार बहुत बढ़ गया था। अतः कम्पनी की प्रार्थना पर 1773 ई. में संसद ने चाय अधिनियम पास करके ईस्ट इंडिया कम्पनी को अमेरिका में चाय निर्यात करने का एकाधिकार दे दिया। कम्पनी ने अपनी चाय प्रचलित दर से कम मूल्य पर अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा बेचने का निश्चय किया। उसका उद्देश्य चाय के तस्कर व्यापार को लाभहीन बनाना था। आशा यह थी कि उपनिवेशी सस्ती चाय बड़ी मात्रा में खरीदेंगे। परन्तु उपनिवेशियों को एकाधिकार से चिढ़ थी और अमेरिकी व्यापारियों को आर्थिक हानि पहुंचे तो उन्हें खरीदने वाला कोई न था। विवश होकर अधिकांश जहाजों को वापस इंग्लैण्ड भेजना पड़ा। परन्तु बॉस्टन बन्दरगाह पर कुछ जहाज रूक गये। बॉस्टन के गवर्नर के पुत्र तथा भतीजे यहां कम्पनी के प्रतिनिधि थे और वे गवर्नर की सहायता से माल को उतार कर गोदामों में ले जाने की योजना बना रहे थे। इस पर 26 दिसम्बर, 1773 ई. की रात को पचास–साठ व्यक्तियों ने आदिवासियों का वेष धारण करके जहाजों पर धावा कर दिया और चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह घटना इतिहास में 'बॉस्टन टी–पार्टी' के नाम से विख्यात हुई। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने संसद के एक कानून का पालन करते हुए काम किया था। उपनिवेशियों ने संसद की अवहेलना करके उसके अधिकार को चुनौती दी। जार्ज तृतीय जैसा शासक इस प्रकार की कार्यवाही को कभी सहन नहीं कर सकता था और न ही संसद इसे सहन कर सकती थी।अतः संसद ने पांच निष्ठुर नियम पास किये, जिनका उद्देश्य अमेरिका में व्यग्रता का दमन करना था। पहले नियम के द्वारा बॉस्टन बन्दरगाह को उस समय तक के लिए बन्द कर दिया गया जब तक चाय का हर्जाना न दे दिया जाए। इससे बॉस्टन नगर का जन जीवन ही संकटमय हो गया, क्योंकि इसका सीधा अर्थ था – बॉस्टन का आर्थिक विनाश। दूसरे नियम के अन्तर्गत मैसाचूसेट्स के सभासदों, जिन्हे पहले उपनिवेशी निर्वाचित करते थे, को नियुक्त करने का अधिकार राजा को दिया गया। गवर्नर को न्यायाधीश नामांकित करने का अधिकार दिया गया और गवर्नर की अनुमति के बिना नगर सभाओं की बैठक पर रोक लगा दी गई। तीसरे नियम के अन्तर्गत हत्या सम्बन्धी सभी मुकदमें इंग्लैण्ड या अन्य उपनिवेशों मे न्याय हेतु भिजवाने का प्रावधान था। चौथे नियम के द्वारा ब्रिटिश सैनिकों के ठहरने के लिए समुचित आवास की व्यवस्था का भार स्थानीय अधिकारियों के ऊपर डाल दिया गया। पांचवें नियम के द्वारा कनाड़ा में रहने वाले कैथोलिकों को सहिष्णुता प्रदान की गई और क्वीबेक की सीमा आहियो नदी तक बढ़ा दी गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)Ladnun

4.3.10. प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस :

इन नवीन कानूनों से सारे अमेरिका में सनसनीपैदा हो गई। लोगों ने इन्हें दमनकारी कानून की संज्ञा दी। इन कानूनों का उद्देश्य मैसाचूसेट्स को दबाना था। परन्तु अन्य सभी उपनिवेश उसकी सहायता के लिए इकट्ठे हो गये, उन्होंने सहानुभूति प्रकट की और अत्यावश्यक खाद्य पदार्थ भेजे जिनकी उपनिवेश में बड़ी आवश्यकता थी। वर्जीनिया के नागरिको ने सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियो का फिलेडेल्फिया में एक सम्मेलन बुलाने का सुझाव रखा। परिणामस्वरूप 5 सितम्बर, 1774 को महाद्वीप की इस प्रथम कांग्रेस का अधिवेशन शुरू हुआ जिसमें जार्तिया के अतिरिक्त अन्य सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। प्रतिनिधियों में मैसासूसेट्स के जॉन एडम्स और सैम्युल एडम्स, वर्जीनिया के जार्ज वाशिंगटन और पेट्रिक हेनरी औरदक्षिणी कैरो लाइना के जॉन रूटलेज और क्रिस्टोफर गेडस्डेन प्रमुख थे।

कांग्रेस को बुलाने का मुख्य उद्देश्य था – "उपनिवेशों की वर्तमान स्थिति पर विचार करना। उनके न्यायोचित अधिकारों और स्वतन्त्रताओ की पुनः प्राप्ति और स्थान के लिए उचित और ठीक विधियों पर विचार करना और ग्रेट ब्रिटेन तथा उपनिवेशों के साथ फिर से एकता और अच्छे सम्बन्ध बनाना।" अधिवेशन निर्णयानुसार एक घोषणा पत्र तैयार करके इंग्लैण्ड भेजा गया। यह एक प्रकार अधिकारों और शिकायतों की एक घोषणा थी। कांग्रेस का महत्त्वपूर्ण कार्य संघ का संगठन था, जिसने व्यापार बहिष्कार को पुनर्जीवित किया। गांव–गांव सुरक्षा समितियां स्थापित करने तथा ब्रिटिश माल का उपयोग करने वालों की सूचना कांग्रेस को भिजवाने का भी निश्चय किया गया। अन्त में, यदि गड़बड़ समाप्त न हो तो मई 1775 ई. में एक और सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। परन्तु स्थिति में कोई सुधार नही हुआ। मैसाचूसेट्स मे तनाव जोरो पर था और वहा के स्वयं सेवकों ने कनकार्ड में गोला बारूद का संग्रह किया। 19 अप्रेल 1775 को जनरल गेज ने इस युद्ध सामग्री के संग्रह करने पर जॉन हैनकाक और सैम्युल एडम्स को गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। स्वयंसेवकों की एक छोटी सी टुकड़ी ने लेक्सिंगटन गांव के पास ब्रिटिश सेना का मार्ग रोकने का विफल प्रयास किया। इस प्रयास में आठ स्वयं सेवक मारे गये। उसकी सूचना तत्काल सभी निवेशों में फैल गई। कनकार्ड से वापस लौटती अंग्रेज सेना को हजारों स्वयंसेवक से टक्कर लेनी पड़ी और उसके बहुत से सैनिक मारे गये।

4.3.11. द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस :

लेक्सिंगटन और कनकार्ड की घटनाओ से स्वतन्त्रता संघर्ष का बिगुल बजा दिया और ऐसी ही अनिश्चितता में 10 मई 1775 को फिलाडेल्फिया महाद्वीपीय कांग्रेस की बैठक हुई। बॉस्टन के एक धनी व्यापारी जॉन हैनकाक ने कांग्रेस की अध्यक्षता की। टॉमस जैफरसन और बेजामिन फ्रैंकलिन जैसे महान् नेता भी उपस्थित थे। काफी वाद–विवाद के बाद यह घोषणा पत्र तैयार किया गया – "हमारा उद्देश्य न्यायसंगत है। हमारी एकता सम्पूर्ण है। हमारे आन्तरिक साधन बहुत है, और यदि आवश्यकता पड़ी तो विदेशी सहायता निस्सन्देह लक्ष्य है जो शस्त्र हमारे शत्रुओं ने उठाने के लिए विवश किये है उन्हे हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रयुक्त करेंगे, हम दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होकर मरने का एकमत से संकल्प कर चुके है।" इस घोषणा के बाद कांग्रेस ने सेना खड़ी करने की योजना पर अमल शुरू कर दिया और जार्ज वाशिंगटन को प्रधान सेनापति बना दिया। दूसरी तरफ जार्ज तृतीय तथा ब्रिटिश संसद ने औपनिवेशिको की और से की गई प्रार्थनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। 23 अगस्त, 1775 ई. को जार्ज तृतीय ने एक घोषणा जारी करके अमेरिकी उपनिवेशों को विद्रोह ही घोषित कर दिया। इस प्रकार संघर्ष का सूत्रपात हो गया।

4.4 स्वतन्त्रता की घोषणा और स्वातंत्र्य युद्ध :

स्थिति इतनी तेजी से बदलती गई कि स्वतन्त्रता एक साकार स्वप्न दिखाई देने लगा। जब इंग्लैण्ड से समझौते के सभी प्रयास असफल हो गए तो जो वाशिंगटन के नेतृत्व में सभी तेरह उपनिवेशों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और इंग्लैण्ड के विरूद्ध युद्ध आरम्भ कर4 जुलाई, 1776 को ब्रिटिश सम्राट के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का त्याग कर दिया। वे स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता पूर्ण राज्य बन गए।स्वतन्त्रता की घोषणा के तुरन्त बाद ही उपनिवेशवासियों ने सबसे पहले अपना ध्यान संगठित होकर युद्ध करने पर दिया। यह युद्ध लगभग 6 वर्षों तक चला और अन्त में उपनिवेशों की जीत हुई इंग्लैण्ड में लॉर्ड नार्थ की सरकार ने त्याग पत्र दे दिया तथा नई सरकार ने निश्चय किया कि स्वतन्त्रता की घोषणा के आधार पर शान्ति सन्धि कर ली जाए। सन् 1783 में सन्धि पर विधिवत हस्ताक्षर हो गए जिसमें यह स्वीकार किया गया कि सभी 13 उपनिवेश पूर्णतया स्वतन्त्र तथा प्रभुता सम्पन्न राज्य होंगे।

ब्रिटेन अमेरिका से बहुत दूर था अतः सैनिक दृष्टि से पर्याप्त शक्तिशाली होते हुए भी वह सभी उपनिवेशों पर एक साथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जोरदार आक्रमण नहीं कर सका, वरन् अपने रणक्षेत्र को बदलता रहा। ब्रिटेन ने अधिकांश लड़ाइयों में विजय प्राप्त की फिर भी संयुक्त राज्य का केवल एक छोटा क्षेत्र ही हस्तगत कर सका। अमेरिकी पक्ष सेना और साधनों की कमी के कारण हमेशा आक्रान्त की स्थिति में बना रहा। फिर भी स्वतन्त्रता सेनानियो ने अपनी भूमिका का समर्थकों की देश–भक्ति का और कुशल नेतृत्व का पूरा लाभ उठाया। सन् 1776 में इंग्लैण्ड ने न्यूयार्क पर उत्तर एवं दक्षिण दोनों दिशाओं से आक्रमण करने की योजना बनाई ताकि उपनिवेशों को शक्ति से विभाजित किया जा सके। वाशिंगटन के नेतृत्व में औपनिवेशिक सेनाओं ने अच्छा मुकाबला किया, किन्तु ब्रिटिश सेनानायकों ने उन्हें भारी नुकसान पहुंचाया। एक अन्य ब्रिटिश सेनानायक कार्नवालिस ने जनरल वाशिंगटन का पीछा किया किन्तु वह बच निकला। अन्ततः वाशिंगटन ने अद्भूत सैन्य कुशलता का परिचय देते हुए प्रिन्सटन पर विजय प्राप्त की और कार्नवालिस को न्यूयार्क लौटने के लिए मजबूर कर दिया।

सन् 1777 की बसन्त ऋतु तक केवल दो अमेरिकी नगरो न्यूयार्क और न्यूपोर्ट पर ही ब्रिटिश सेनाओं का अधिकार था, तथापि यह स्थिति देशभक्तों के लिए अधिक प्रोत्साहक नहीं थी क्योंकि वाशिंगटन के नेतृत्व में स्थायी सेना केवल चार हजार के लगभग थी। ब्रिटिश सैनिक कमान ने हडसन पर कब्जा करके युद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त करनी चाही। इसके लिए तीन युद्धों का निश्चय किया गया जो क्रमशः सेनापति बरगोयन, लेंगर और हो के नेतृत्व में लड़े जाने थें जनरल हो ने फिलाडेल्फिया की और नौ–सैनिक अभियान किया। जनरल वाशिंगटन के पुरजोर काबले के बावजूद 26 सितम्बर, 1777 को ब्रिटिश सेनाए फिलाडेल्फिया लंगर शैलर के किले को जितने में असफल रहा और उसे ओरिएकेनी के युद्ध में भारी हार का सामना करना पड़ा। साराटोगा के दक्षिणी क्षेत्र में ब्रिटिश सेनापति बुरगोयन की ही दुर्दशा हुई और उसे आत्म–समर्पण के लिए बाध्य होना पड़ा। बुरगगोयन की पराजय के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। एक ही आक्रमण में ब्रिटेन की अमेरिका स्थित लगभग चौथाई सेना समाप्त हो गई। हडसन स्थायी रूप से अमेरिकियों के नियन्त्रण में आ गया। देशभक्तों में नवजीवन का संचार हुआ। मार्च 1778 में ब्रिटेन ने समझौते का प्रस्ताव किया और कहा कि सभी विद्रोहियों को क्षमा कर दिया जायेगा तथा स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अमेरिकियों की सभी मांगों को स्वीकारकर लिया जाएगा। किन्तु महाद्वीपीय कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अमेरिकियों को अपनी विजय की पूरी आशा थी और इंग्लैण्ड का शत्रु फ्रांस प्रारम्भ से ही उन्हें गुप्त रूप से सैनिक सामग्री भेज रहा था।

6 फरवरी, 1778 को फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए और अब फ्रांस खुल कर युद्ध मान राज्य बन गया। इसने ब्रिटेन की शक्ति को विभाजित कर दिया, समुद्र पर उसके नियन्त्रण को चुनौती दी तथा वाशिंगटन को प्रत्यक्ष रूप से सहायता दी। सन् 1779 में स्पेन और 1780 में हॉलैण्ड युद्ध में शामिल हो गए। अमेरिकी कांग्रेस नेवीस–सेनानी लाफायत को मेजर जनरल बना दिया। सन्धि के बाद फ्रांस 6 हजार से भी अधिक प्रशिक्षितसेना वाशिंगटन की सहायता के लिए भेजने को तैयार हो गया। फ्रांस और अमेरिका के बीच हुई इस सन्धि में यह कहा गया कि कोई भी पक्ष ग्रेट ब्रिटेन से अलग से सन्धि नही करेगा और न उस समय तक हथियार डालेगा जब तक अमेरिका स्वतन्त्र न हो जाए। फ्रांस ने उत्तरी अमेरिका की मुख्य भूमि के सभी प्रदेशों की रक्षा का आश्वासन दिया और बदले में अमेरिका ने वेस्ट इण्डीज में फ्रासीसी अधिकार की हमेशा रक्षा करने की गारण्टी दी। फ्रांस ने अपने सभी साधनो का ब्रिटेन के विरूद्ध खुलकर प्रयोग किया। उपनिवेशों के लिए पर्याप्त धन और हथियार दिए और अमेरिकी जल में एक बड़ा युद्धपोत रख दिया। जब फ्रांस की एक बड़ी सेना इंग्लैण्ड पर आक्रमण करने के लिए एकत्रित होने लगी तो इंग्लैण्ड को अपनी सेना का एक बड़ा भाग स्वेदश रखना पड़ा।

सन् 1778 से 1782 के मध्य उत्तर में अनेक छोटे–मोटे युद्ध हुए सन् 1778 के बसन्त में जनरल हो के स्थान पर सर हेनरी क्लिन्टन अमेरिका ब्रिटिश सेनाओं का मुख्य सेनापति बनकर आया। 28 जुलाई, 1778 को मनोमाउण्ट मे वाशिंगटन ने ब्रिटिश सेनाओं पर एक निर्णायक हमला किया किन्तु जनरल ली कायरतापूर्ण नेतृत्व के कारण विजय के अवसर धूमिल पड़ गए। बावजूद विजय अभियानों के ब्रिटिश सेनाएं उत्तर को जीत नहीं सकी और दक्षिण की और बढ़ती गई। ब्रिटिश सेनानायकों की योजना जार्जिया पर कब्जा करने और उत्तर की और बिना रोकटोक बढ़ जाने को थी ताकि आगे बढ़ते समय ब्रिटेन के वफादारों की सहायता प्राप्त की जा सके। सन् 1778 के अन्तिम दिनों मे उन्होंने सावानाह लिया और सन् 1779 में जार्जिया और दक्षिणी केरोलिना के भीतरी भागों पर अधिकार कर लिया। अमेरिकियों ने जनरल लिंकन को मुकाबला करने के लिए भेजा। वह चार्ल्सटन मे घिर गया और मई, 1770 में अंग्रेजों ने उसे 50 सिपाहियों सहित गिरफ्तार कर लिया और प्रमुख बन्दरगाह सर्दन पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने शीघ्र ही दक्षिणी केरोलिना पर विजय प्राप्त कर ली। बाद में अमेरिकी कमाण्डर होरेशियोगेट्स को आक्रमण रोकने के लिए दक्षिण भेजा गया किन्तु 16 अगस्त, 1780 को इसकी छोटी–सी सेना कुचल दी गई। देश–भक्तों को दक्षिणी मोर्चा अब सेनानायक नेथानील ग्रीन को सौप दिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया जो ब्रिटिश सेना को चार्ल्सटन और सावानाह तक हटाने मे सफल हो गए। यद्यपि वाशिंगटन की भांति ग्रीन भी अन्त में पराजित हुआ लेकिन अपने अधिकांश अभियानो में वह सफल रहा। देशभक्त लाफायत को सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए फ्रांस भेजा गया और शीघ्र ही जनरल रोचमव्यू के नेतृत्व में 5000 फ्रांसीसी सैनिक सहायता के लिए पहुंच गए। वर्जीनिया के युद्ध में देश–भक्तों ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की। 19 अक्टूबर, 1781 को ब्रिटिश सेनानायक कार्नवालिस को आत्म–समर्पण करना पड़ा। यह निर्णायक विजय थी। इसके बाद ब्रिटिश, सेनाएं न्यूयार्क, चर्ल्सटाउन और सावानाह में बनी रहीं किन्तु युद्ध प्रायः अब समाप्त हो चुका था। कुछ समय तक सम्राट जॉर्ज पराजय को अस्वीकार करता रहा, किन्तु सन् 1782 में अंग्रेजों ने दक्षिण के सभी बन्दरगाहों को छोड़ दिया और शाही फौजों ने न्यूयार्क शहर में सैनिक स्थानों पर बिगुल बजाने के अतिरिक्त अन्य किसी अधिकार का प्रयोग नहीं किया।

4.5 पेरिस की सन्धि, 1783 :

देश–भक्तों की महान् विजय ने अमेरिका के भाग्य को बदल दिया। यद्यपि शान्ति सन्धि पर कई महीनों तक हस्ताक्षर नहीं किए जा सके फिर भी इस संघर्ष की निरर्थकता जानकार ब्रिटेन ने अतिरिक्त सेना भेजने की कोई योजना नहीं बनाई और सन् 1782 समाप्त होने से पूर्व अटलांटिक सागर के तटवर्ती सभी प्रदेशों को छोड़ दिया। इंग्लैण्ड में ओरी दल के स्थान पर ह्विग दल ने शासन सम्भाला। इसके नेता बहुत पहले से ही सम्राट और संसद् के उन प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे जिनके कारण अमेरिकियों को शासन विद्रोह करना पड़ा था। अमेरिका के साथ संघर्ष के प्रति व्यापक जन–विरोध के कारण लॉर्ड नॉर्थ को त्याग पत्र देना पड़ा और सम्राट् जॉर्ज का कामन्स सभी पर नियन्त्रण नहीं रहा। नए ब्रिटिश प्रधानमंत्री रोकिंघम ने शान्तिवार्ता प्रारम्भ की।

सन् 1782 के प्रारम्भ में कांग्रेस ने शान्ति वार्ता के लिए एक आयोग पेरिस भेजा। अमेरिका की ओर से बैन्जामिन फ्रैंकलिन, जॉन एडम्स और जॉन जे थे। ग्रेट ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व लॉर्ड रिचार्ड पोसवार्ल्ड ने किया। 30 नवम्बर, 1782 को इंग्लैण्ड के साथ एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। सामान्य सन्धि पर 3 सितम्बर, 1783 को हस्ताक्षर किए गए। इस सन्धि की शर्तों द्वारा अमेरिका की उत्तरी सीमाएं बहुत कुछ वे ही निर्धारित की गई जो इस समय है। पश्चिमी सीमा मिसीसिप्पी नदी और दक्षिणी सीमा फ्लोरिड़ा का उत्तरी भाग था जो स्पेन को दे दिया गया था। पेरिस की सन्धि मे कुछ अन्य प्रावधान भी थे। उदाहरण के लिए इसने अमेरिकियों को न्यूफाउलैण्ड के मछलीगाहों में हिस्सा लेने का अधिकार दिया। मिसीसिप्पी का स्रोत कनाड़ा में था। इसलिएयह कहा गया कि इस पर इंग्लैण्ड और अमेरिका द्वारा समान रूप से नौचालन किया जाए।

4.6 अमेरिका की विजय और अंग्रेजो की हार के कारण :

अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष के शुरू होने के समय उपनिवेशियों की स्थिति अधिक अच्छी न थी और अंग्रेजों की तुलना में वे बहुत तुच्छ लगते थे। उस समय में कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि इस संघर्ष में तत्कालीन यूरोप की सर्वोच्च शक्ति इंग्लैण्ड को परास्त होना पड़ेगा। क्योंकि इंग्लैण्ड एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसकी जल सेना अजेय थी। उसके पास आधुनिक अस्त्र–शस्त्र, प्रशिक्षित सेना एवं अनुभवी सेनानायक थे। उपनिवेशों में भी बहुत से लोग इंग्लैण्ड के प्रति सहानुभूति रखते है। उपनिवेशियो के पास जल सेना का अभाव था। उनके पास स्थायी सेना भी न थी। उपनिवेशी अस्थायी तौर पर सेना में भर्ती हो जाते थे औरसंकट के समय सेना को छोड़ जाते थे। एक उपनिवेशी दूसरे उपनिवेशी सेनानायक के नेतृत्व में लड़ना भी पसन्द नहीं करते था। अमेरिकी कांग्रेस की स्थिति भी अधिक अच्छी न थी। उसके आय–स्रोत सीमित थे औरसदस्यों में एकता का अभाव था। इनसभी बातों के उपरान्त भी अमेरिका की विजय हुई और अंग्रेजो को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके लिए कई कारण जिम्मेदार थे, जिनमें से कुछ निम्न थे–

4.6.1. इंग्लैण्ड और अमेरिका की दूरी :

इंग्लैण्ड को अपने घर से लगभग 3000 मील की दूरी पर अमेरिका से लड़ना पड़ा। इतनी दूरी से युद्ध को चालू रखना बड़ा कठिन काम था। यातायात के उन्नत साधनों के अभाव में इतनी दूरी से समय पर सैनिक सहायता पहुंचाना बहुत मुश्किल काम था। फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड आदि के अमेरिका के साथ मिल जाने के बाद इंग्लैण्ड के लिए अपने सैनिकों को अत्यावश्यक सामान पहुंचाना भी कठिन हो गया। इसके अलावा, युद्ध के केन्द्र भी लगभग एक हजार मील के घेरे मे फैल हुए थे। लड़ते–लड़ते अंग्रेज सैनिक जंगलों में भटक जाते थे और उन्हें स्थानीय लोगों के हाथों भारी हानि उठानी पड़ती थी। इसके विपरीत, अमेरिकी लोग जंगल के चप्पे–चप्पे से परिचित थे।

4.6.2. जातीय समानता :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह संघर्ष अंग्रेजों के बीच ही हुआ था। अमेरिका के लगभग नब्बे प्रतिशत लोग अंग्रेज ही थे। एक प्रकार से यह युद्ध वृद्ध माँ और उसकी जवान पुत्रियों के बीच में लड़ा गया था। चूंकि माँ ने पहले से पुत्रियों को राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्य मामलों मे काफी सुविधाएं दे रखी थी, अतः अब उनकी स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाना सरल काम न था। यदि अमेरिकन लोग अंग्रेज न होते तो शायद उनके लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना इतना आसान नहीं होता। क्योंकि इंग्लैण्ड में भी बहुत से लोग ऐसे थे जिनको अपने भाइयों से सहानुभूति थी और वे उनका कठोरता के साथ दमन किये जाने के विरूद्ध थे। बहुत से सैनिकों और सेनानायकों की सहानुभूति भी उनके साथ थी। अतः इंग्लैण्ड की अंग्रेज सेना अमेरिकी सेना के विरूद्ध एक कट्टर सेना की भांति युद्ध लड़ ही नहीं पाई।

4.6.3. उपनिवेशियों का सहयोग :

उपनिवेशी लोग अपने घर–बार और जीवन की सुरक्षा के लिए लड़ रहे थे। वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ बलिदान करने के दृढ़ संकल्प के साथ लड़ रहे थे इंग्लैण्ड की सरकार ने विभिन्न करों को लगाकर पहले से ही उनमे असंतोष पैदा कर दिया था। इसके अलावा के अपने ही घर में लड़ रहे थे। अतः उनके लिये अपने सैनिकों को रसद तथा अन्य सामान पहुंचाना बहुत आसान था। अंग्रेजी सेना के पहुंचते ही उपनिवेशी उसके आगे झुक जाते थे। परन्तु सेना के आगे बढ़ते ही विद्रोह कर देते थे। वे अपने सैनिकों को हर समय हर प्रकार की सम्भव सहायता देने को तैयार रहते थे। अंग्रेजी सेना को इस प्रकार का सहयोग कभी नहीं मिल पाया।

4.6.4. उपनिवेशों की शक्ति का गलत मूल्यांकन :

अंग्रेजो की पराजय का एक मुख्य कारण यह था कि उन्होने शुरू से ही उपनिवेशों की शक्ति का सही मूल्यांकननहीं किया। उन्हें स्वयं अपनी शक्ति पर बहुत विश्वास था। उनका मानना था कि यदि उपनिवेशों ने शस्त्र उठाये तो वे सरलता के साथ उन्हें दबा देंगे। जनरल गेज ने तो कहा भी था कि अमेरिकी उपनिवेशों को जीतने के लिए केवल चार रेजिमेंट ही पर्याप्त होंगी। परिणाम यह निकला कि जब संघर्ष शुरू हुआ तो इंग्लैण्ड की सरकार ने अधिक मात्रा में सैनिक सामान नहीं भेजा और जब उसे सही स्थिति का ज्ञान हुआ तब तक काफी देर हो चुकी थी और सैनिक तथा सामान पहुंचाना सम्भव न हो पाया। इसके अलावा अमेरिका में इंग्लैण्ड की जो सेनाएं लड़ रही थी उनमें बहुत से सैनिक जर्मन थे, जिन्हे भाड़े पर लगाया गया था इन जर्मन सैनिकों की इंग्लैण्ड की विजय में विशेष रूचि नहीं थी। इसके विपरीत अमेरिकी सैनिकों में राष्ट्रीयता का अपार जोश था।

4.6.5. जार्ज तृतीय और उसके मंत्री :

इंग्लैण्ड का शासक जार्ज तृतीय अपने आपको वास्तविक राजा मानता था और वह सरकारी काम में बहुत अधिक हस्तक्षेप करता था। संयोगवश उसके अधिकांश मंत्रियों में उसकी नीतियों का विरोध करने की सामर्थ्य नहीं रही। जार्ज तृतीय का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए शासितों के कल्याण की चिन्ता करना। जार्ज का प्रधान मंत्री लार्ड नार्थ भी एक अयोग्य व्यक्ति था। उसमे स्थिति की गम्भीरता और दूसरों की योग्यता परखने की शक्ति नहीं थी। जार्ज के विशेष आग्रह पर ही चाय–कर कायम रखा गया था और यही चाय कर संघर्ष का मूल कारण भी बना। यदि जार्ज और उसकी सरकार उस समय उपनिवेशियों को कुछ सुविधाएं और दे दी तो स्थिति सामान्य हो जाती। परन्तु उसने तो चुनौती देते हुए कहा था, ''अब पासा फेंका जा चुका है। उपनिवेश या तो आत्मसमर्पण करे अथवा जीत जाये। इंग्लैण्ड के बहुत से बुद्धिजीवी जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन से रूष्ट थे। वे चाहते थे कि अमेरिका जीत जाये ताकि इंग्लैण्ड में जार्ज की शक्तियों पर नियन्त्रण लगाना सम्भव हो जायेगा।

4.6.6. सेनानायक :

उपनिवेशियों की सफलता का एक मुख्य कारण जार्ज वाशिंगटन का सुयोग्य नेतृत्व था। जार्ज वाशिंग्टन एक कुशल, धैर्यशील एवं साहसी सेनानायक था। उसने किसानों तथा मजदूरों को प्रशिक्षित करके एक अच्छी सेना खड़ी करके अपनी संगठन शक्ति का अच्छा परिचय दिया। युद्ध के बुरे दिनों में भी उसने अपनेमें और सैनिको मे आत्मविश्वास की कमी नही आने दी। इसके विपरीत अंग्रेज सेनानायकों में बहुत सी कमियां थी। इंग्लैण्ड का युद्ध मंत्री लार्ड जर्मेन एक अयोग्य व्यक्ति था। उसने बस्तियों तथा युद्ध मैदान से आने वाले पत्रों को शायद ही कभी पढ़ा हो और बिना पड़े ही अपनी इच्छानुसार नये–नये आदेश भिजवाता रहता था। परिणामस्वरूप घटना स्थल पर काम करने वाले सैन्य अधिकारी कभी भी ठीक से काम नहीं कर पाये। अन्यथा अमेरिका में अंग्रेजी सेना की यह दुर्गति कभी नहीं होती। सर विलियम जैसे सुस्त सेनानायकों के कारण अंग्रेजी सेना को कई बार सुअवसरों को खोना पड़ा। उपनिवेशों के किसी भी अंग्रेज गवर्नर ने भी इस अवसर पर योग्यता का परिचय नहीं दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

4.6.7. अन्य राष्ट्रों का सहयोग :

सप्तवर्षीय युद्ध में जो घाव फ्रांस को लगे थे, उसकी टीस अब भी शेष रह गई थी। वह इंग्लैण्ड से अपने अपमान का बदला लेना चाहता था। फ्रांस का मानना था कि यदि उपनिवेशों को अन्य राष्ट्रों का सहयोग मिल जाय तो यह संघर्ष काफी लम्बा चलेगा और इससे इंग्लैण्ड को भंयकर आर्थिक हानि का सामना करना पड़ेगा और सम्भव है कि उसके हाथ से अमेरिकी उपनिवेश निकल जाये। अतः फ्रांस ने उपनिवेशों को सहायता देने का निश्चय कर लिया। परन्तु संघर्ष के प्रारम्भिक वर्षों में उसने खुल्मखुल्ला सैनिक सहायता न देकर गुप्त रूप से धन और सामान भेजता रहा। फ्रेंकलिन बैजामिन ने फ्रांस जाकर खुला सहयोग प्राप्त करने मे सफल्ता प्राप्त की औरउसके बाद स्पेन, हालैण्ड आदि राष्ट्रों ने भी उपनिवेशों की सहायता का निश्चय किया। इन राष्ट्रों की जल सेना ने इंग्लैण्ड की जनसेना को काफी परेशान किया और इंग्लैण्ड के लिए अमेरिका स्थित अपनी सेनाओं को सामान पहुंचाना कठिन बना दिया। फ्रांसीसियों के सहयोग से ही वाशिंगटन ने यार्क टाउन में लार्ड कार्नवालिसको आत्मसमर्पण के लिए विवश किया था। अन्यथा उपनिवेशों के लिए अंग्रेजी जहाजों की घेराबन्दी करना अथवा रोकना कभी सम्भव नहीं हो पाता।

4.7 अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष के परिणाम :

अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष के दूरगामी परिणाम निकले। उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने से वाणिज्य सिद्धान्त का अन्त हो गया और उसके स्थान पर एक नीति का विकास हुआ। वाणिज्यवादी सिद्धान्त के अनुसार वही देश सबसे अधिक समृद्ध एवं शक्तिशाली समझा जाता था जिसके पास मुद्रा के रूप में सबसे अधिक सोना और चांदी हो। जो देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता था, उसके पास स्वाभाविक रूप से सोना चांदी का भण्डार बढ़ता जाता था। चूंकि सभी देश ऐसा ही चाहते थे अतः उनमें आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ती गई और अब तक जो लड़ाइयां लड़ी गई थी उनके मूल मे वाणिज्यवादी सिद्धान्त ही थे। इन सिद्धान्तों में बस्तियों का विशेष महत्व था। बस्तियों को तैयार माल खरीदने तथा कच्चा माल देने के लिए विवश किया जा सकता है। दूसरे शब्दो में, बस्तियों का आर्थिक शोषण करना ही मुख्य ध्येय था। उपनिवेशों के छिन जाने के बाद बहुत से लोगों का मानना था कि इससे इंग्लैण्ड के व्यापार वाणिज्य को जबरदस्त धक्का लगेगा परन्तु जब कुछ वर्षों बाद इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका मे पहले से भी कही अधिक व्यापार होने लगा तो अधिकांश देशो की वाणिज्य सिद्धान्त से आस्था जाती रही। स्वयं इंग्लैण्ड ने भी इस नीति को त्याग दिया। उपनिवेशों के छिन जाने से इंग्लैण्ड को अपनी अन्य बस्तियों को बचाने की चिन्ता लग गई। इंग्लैण्ड के नेताओं ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया कि यदि शेष बस्तियों को अपने अधीन रखना है तो इन्हें इन बस्तियों के शोषण की नीति छोड़नी पड़ेगी। अतः इंग्लैण्ड को अपने उपनिवेशों के प्रति नीति को बदलना पड़ा। इस परिवर्तित नीति के आधार पर ही 'ब्रिटिश कामनवैल्थ ऑफ नेशन्स' का जन्म हो पाया।

स्वतन्त्रता संघर्ष के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन का अन्त हो गया। उसके प्रधानमंत्री लार्ड नार्थ को अपना पद छोड़ना पड़ा। क्योंकि सारे देश में जार्ज और नार्थ की निन्दा होने लगी थी और इस पराजय के लिए इन दोनों को ही उत्तरदायी माना गया। जार्ज तृतीय के पूर्व इंग्लैण्ड में वैधानिक शासन काफी प्रगति कर चुका था। परन्तु जार्ज ने कुछ सफलता के साथ भूतपूर्व राजाओं द्वारा खोये गये अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लिया था। उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने पर पुनः स्थिति बदल गई और संसद में राजा के अधिकारों को कम करने की जोरदार मांग उठने जलगी। परिणामस्वरूप राजा की शक्तियों पर अंकुश लग गया और छोटे पिट के लिए रास्ता साफ हो गया जिसने कैबिने की शक्ति को पुनः स्थापित किया। इस प्रकार अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष ब्रिटिश संविधान की रक्षा की और राजा की शक्ति को नियन्त्रित करने में योगदान दिया।

अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका का जन्म हुआ। नये गणराज्य ने विविध क्षेत्रों मे स्वतन्त्रता नीति का अनुसरण किया और समय के साथ–साथ वह विश्व की एक प्रमुख शक्ति बन गया। अमेरिका में बसे हजारो राजभक्त अंग्रेजों ने भी अमेरिका मे रहना उचित नही समझा और वे अपने परिवारो सहित कनाड़ा मे जा बसे। इससे इंग्लैण्ड के सामने एक नीवन समस्या उत्पन्न हो गई। क्योकि कनाड़ा में फ्रांसीसियों की संख्या अधिक थी। इसके अलावा इंग्लैण्ड को एक समस्या का सामना भी करना पड़ा। अब तक वह अपने अपराधियो को अमेरिका में निर्वासित कर देती थी। अब इस काम के लिए आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड को चुना गया। परिणामस्वरूप इन दोनों देशों को भी तेजी के साथ विकास होने लगा। स्वतन्त्रता संघर्ष का आयरलैण्ड पर भी प्रभाव पड़ा। फिलाडेल्फिया कांग्रेस की नकल करते हुए आयरिश लोगों ने भी इंग्लैण्ड से मुक्त होने का उपाय खोजने के लिए डूगेन में एक कन्वेशन बुलाई और ब्रिटिश सरकार के सामने अपनी मांग पत्र रखा। आयरिश लोग भी व्यापारिक प्रतिबन्धों का अन्त और स्वतन्त्र आयरिश संसद की स्थापना करना चाहते थे। 1782 ई. मे आयरिश लोगों की अधिकांश मांगे पूरी कर दी गई। अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष ने फ्रांस को अत्यधिक प्रभावित किया। फ्रांस के हजारों सैनिको और स्वयं सेवको ने उपनिवेशो के साथ मिलकर आजादी की लड़ाई में भाग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिया था। वहां उन्हें मालूम हुआ कि उपनिवेशी अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए इंग्लैण्ड के निरंकुश शासन एवं शोषण के विरूद्ध लड़ रहे है। जब वे लोग वापस फ्रांस लौटे तो उन्होंने अनुभव किया कि यदि वे दूसरे लोगो को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने मे सहायक हो सकते है तो क्या वे स्वंय अपने तथा अपने देशवासियों के लिए राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते ? क्या वे अपने देश को निरंकुश शासन से मुक्त नहीं करा सकते ? इस प्रकार के विचारों ने उनके दिमागो में क्रांति मचा दी और जब फ्रास में क्रांति की शुरूआत हुई तो उन लोगों के क्रांति को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रकार, अमेरिकन क्रांति ने फ्रांसीसी क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। यह ठीक है कि अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष में सहायता देने में फ्रांस की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी। परन्तु इससे फ्रांसिसियो की आर्थिक स्थिति लड़खड़ा गई और यहीं से फ्रांसीसी क्रांति का श्रीगणेश हुआ।

4.8 अमेरिका स्वतन्त्रता संघर्ष का महत्व :

विश्व इतिहास में अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष का एक अपना महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग आठ वर्षो तक लड़े गये इस संघर्ष का सामरिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है क्योकि दोनो ही पक्षो ने इस संघर्ष मे अधिक स्फूर्ति तथा युद्ध कौशल का परिचय नहीं दिया। परन्तु राजनैतिक दृष्टि से इस संघर्ष का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इंग्लैण्ड के निरंकुश औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध अमेरिकन जनतन्त्र की यह शानदार विजय थी। यदि इंग्लैण्ड ने प्रतिनिधि सत्तात्मक प्रथा को जन्म दिया था तो अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष के परिणामस्वरूप जनतन्त्रतात्मक प्रथा का जन्म हुआ जिसमें पहली बार सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त हुआ। पहली बार स्पष्ट अर्थो में आधुनिक ढंग के प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इससे दूसरे देशों को भी प्रेरणा मिलती रही और अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष उनके लिए एक प्रेरणादायक आदर्श बन गया। निरंकुश और साम्राज्यवाद की शिकार जनता को एक नया सहारा मिल गया। आरलैण्ड और फ्रांस के लोगो को इससे विशेष प्रेरणा मिली फ्रांसीसी क्रांति के मुख्य सिद्धान्तों स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का मूल अमेरिकी संघर्ष में ही निहित है। इस संघर्ष से प्रेरणा पाकर दक्षिणी अमेरिका के लोग भी स्पेन तथा पुर्तगाल के शासन से मुक्त होने में सफल रहे। संघात्मक शासन पद्धति का प्रयोग एवं विकास भी इसी क्रांति की देन मानी जाती है। लिखित संविधान का व्यवहार और धर्म तथा शासन का लगाव भी इसी क्रांति की विशेषता है। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की पुरानी औपनिवेशिक नीति को वाणिज्यवादी सिद्धान्तो में महान परिवर्तन आया और केबिनेट प्रथा का पुनः विकास हुआ। इस प्रकार, प्रजातन्त्र के विकास में अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष का विशेष स्थान रहा है।

4.9 अमेरिकी क्रांति का प्रभाव :

अमेरिका मे उपनिवेशो के सफल स्वाधीनता संग्राम ने फ्रांस के क्रातिकारियो को साहस प्रदान किया। फ्रांस से हजारों व्यक्ति स्वयं सेवकों के रूप में इस संग्राम में भाग लेने अमेरिका गए थे और जब वे लौटकर वापस आए तथा फ्रांसीसी जनता को उन्होंने लोकतन्त्रीय विचारों और प्रयत्नो की विजय का वृत्तान्त सुनाया तो सारे फ्रांस में उत्साह की लहर दौड़ गई। राजतन्त्र के प्रति घृणा के विचार प्रबल होते गए और अमेरिकी जनता की भांति फ्रांस की जनता भी निरंकुश शासन–पद्धति से छुटकारा पाने को उत्सुक हो उठी।

इन सभी कारणों में फ्रांस में क्रांति का विस्फोट होकर रहा। प्रश्न उठता है कि क्राति इसलिए हुई कि वहां कुछ विशेष परिस्थितियां थी जो यूरोप के अन्य देशों में विद्यमान नहीं थी। जो बौद्धिक क्रांति फ्रांस में विचारकों ने पैदा की, वह अन्यत्र ऐसे जोशीले रूप में पैदा नही हुई। फ्रांस के किसान भी जर्मनी, स्पेन, रूस, पोलैण्ड आदि के किसानों की अपेक्षा अधिक सचेत थे और उनमें अपने कष्ट दूर करने की प्रबल उत्कण्ठा थीं सबसे बड़ा कारण यह था कि क्रमंति को कार्य रूप में परिणित करने की क्षमता रखने वाला मध्यवर्ग फ्रांस में मौजूद था, अन्य देशों में नही। फ्रांस की मध्यवर्ग शिक्षित, बुद्धिमान, धनी और साहसी था और इस प्रकार उनमें नेतृत्व के लिए आवश्यक गुण मौजूद थे। मध्यवर्ग के साथ ही बहुसंख्यक जनता में भी क्रांति की उमंग थी। अन्य किसी भी यूरोपीय राष्ट्र की तुलना में फ्रांस में क्रोध और क्रांति की आग अधिक वेग से बंधक रही थी।

4.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – पैरिस की सन्धि कब हुई थी ?

(अ) 1780 ई. (ब) 1783 ई.

Dain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Jaipur

(स) 1785 ई. (द) 1788 ई.

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम के महत्व बताइएं? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – 'अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम' पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर – .....

संवर्ग – 2

इकाई – 1

औद्योगिक क्रान्ति

1.0 औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ
1.1 औद्योगिक क्रांति का अर्थ
1.2 औद्योगिक क्रांति के कारण
1.2.1. जनसंख्या में वृद्धि
1.2.2. जीवन–स्तर का उन्नत होना
1.2.3. यूरोप में साम्राज्यवाद का प्रबल होना
1.2.4. व्यापारिक क्रांति
1.2.5. यातायात के साधनों का विकास
1.2.6. शिक्षा का विस्तार
1.2.7. वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार
1.2.8. शक्ति के साधन
1.2.9. व्यापारी वर्ग
1.3 बोध प्रश्न

फ्रांस की राज्य क्रांति और नेपोलियन के युद्धों से जब यूरोप का राजनीतिक ढांचा बदल रहा था, तभी आर्थिक क्षेत्र मे बड़े दूरगामी परिवर्तन हो रहे थे। इन आर्थिक परिवर्तनों ने पहले धीरे और फिर तेज गति से मानव जीवन पर इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव डाला तथा आर्थिक क्षेत्र में इतनी उथल–पुथल मचादी कि इसको औद्योगिक क्रांति कहा जाता है। सरल शब्दों में यह औद्योगिक विकास ही था, पर यह विकास इतना प्रभावकारी और व्यापक था कि उसने मुनष्य के आर्थिक जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया और इसीलिए इस विकास को क्रांति की संज्ञा दी गई।

1.0 औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ :

इस महान् औद्योगिक क्रांति का शुभारम्भ सबसे पहले ब्रिटेन मे हुआ और तत्पश्चात् यह अन्य देशो में फैली। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इसका सूत्रपात कब हुआ। यह क्रांति एकाएक नहीं हुई थी। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसकी प्रक्रिया दो–तीन शताब्दियो से चल रही थी और अपने नए परिवेश मे यह अब भी जारी है, क्योंकि अब भी नए–नए क्रांतिकारी औद्योगिक आविष्कार हो रहे है। पर सर्वप्रथम इस क्रांति ने अपना रूप 18वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्रकट किया। इस अवधि में औद्योगिक विकास की परिस्थितियां क्रांतिकारी रूप से गतिशील हो गई। वैज्ञानिक आविष्कारो ने औद्योगिक क्षेत्र मे महान् परिवर्तन किए। सबसे पहले ब्रिटेन में और तब यूरोपीय तथा अन्य दशों मे इसका प्रसार हुआ। सारांश मे, औद्योगिक क्रांति की अवधि लगभग सन् 1760 से 1914 तक मानी जा सकती है जिसमें न केवल ब्रिटेन ने बल्कि सम्पूर्ण विश्व ने आर्थिक क्रांति के एक नए युग मे प्रवेश किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.1 औद्योगिक क्रांति का अर्थ :

क्रांति का सामान्यतः अर्थ रक्त रंजित विद्रोह या विप्लव अथवा हिंसात्मक विस्फोट से लिया जाता है, जैसे – 1789 की फ्रांसीसी क्रांति अथवा 1917 की रूसी क्रांति, किन्तु आर्थिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में क्रांति शब्द का यह अर्थ नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रांति का तात्पर्य उद्योगों मे हुए उन परिवर्तनों से है जिनके कारण उत्पादन विधियों में आमूलचूल परिवर्तन हो। यद्यपि आर्थिक जगत् में परिवर्तन प्रायः धीरे–धीरे होते है, तथापि 18वी शताब्दी के परिवर्तन इतने शीघ्रतापूर्वक और साथ ही इतने मौलिक हुए कि उनसे उत्पादन पद्धति पूर्णतः बदल गई व्यापार का स्वरूप बदल गया तथा अनेक नई व्यापारिक संस्थाओं का उदय हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनो के परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्होने इंग्लैण्ड और बाद मे अन्य देशों के आर्थिक क्षेत्र के प्रत्येक अंग में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कर दी। सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक संगठनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इसी कारण औद्योगिक क्षेत्र में हुए इन मौलिक परिवर्तनों को क्रांति कहा जाता है। नोवेल्स के शब्दों में, इसे क्रांति इसलिए नही का जाता है कि जो परिवर्तन हुए वे बड़ी शीघ्रता से हुए बल्कि इसलिए कि जो परिवर्तन हुए वे महत्वपूर्ण या क्रांतिकारी थे। डेविस के अनुसार ''औद्योगिक क्रांति का अभिप्राय उन प्रयत्नों से है जिन्होंने यह संभव कर दिया कि मनुष्य उत्पादन के प्राचीन ढंग को त्याग कर बड़े पैमाने पर विशाल कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन कर सके।

1.2 औद्योगिक क्रांति के कारण :

क्रांति किसी भी प्रकार की हो, उसके सफल संचालन के लिए कुछ प्रेरक तत्व उसके अन्तराल मे अवश्य अन्तर्निहित रहते है। अतः औद्योगिक क्रांति जैसी महत्वपूर्ण एंव दीर्घकालीन क्रांति के लिए भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह क्रांति अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही आरम्भ क्यों हुई और इतने दीर्घकाल तक वह किन साधनों के सहारे चलती रही। यदि हम इसके प्रेरक तत्वों का ध्यानपूर्वक अनुसंधान करेंगे तो वे तत्व हमें यूरोप की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में अन्तर्निहित मिलें जो हमारी धारणा है कि इस क्रांति का सूत्रपात निम्नलिखित परिस्थितियों के कारण हुआ –

1.2.1. जनसंख्या में वृद्धि :

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप के देशों की जनसंख्या मे आशातीत वृद्धि हो गई थी। जनसंख्या मे वृद्धि दिनों–दिनों होती जा रही थी। ऐसी परिस्थितियों में लघु उद्योग व कुटीर उद्योगों के माध्यम से उत्पादित सामान जनसाधारण के लिए पर्याप्त नहीं होता था। इस कारण वैज्ञानिक ऐसे साधनों की तलाश करने लगे जिनसे कि उत्पादन मे वृद्धि हो सके। उनकी इस अभिलाषा ने औद्योगिक क्रांति के सूत्रपात में महान प्रेरणा प्रदान की।

1.2.2. जीवन–स्तर का उन्नत होना :

जैसा कि बताया जा चुका है कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ मनुष्यों की आवश्यकताएं भी दिनों–दिन वृद्धि पा रही थी। आज के समाज में मानव की दैनिक आवश्यकताओं की वृद्धि के प्रयोजन उसके जीवन–स्तर के उन्नत होने से लिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि अठारहवीं सदी में यूरोप के लोगों का जीवन–स्तर काफी उन्नत हो गया। वे अब मोटे और खुरदरे वस्त्र धारण न कर मुलायम व अच्छे रंगो से रंजित वस्त्र धारण करना चाहते थे। जीवन के कार्य–कलापों मे प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं को अब मानव विकसित एवं अधिक आरामदायक रूप में देखना चाहता था। उन वस्तुओं को इस प्रकार का रूपान्तर मशीनो के माध्यम से ही हो सकता था। इस कारण अब लघु–उद्योगों का स्थान मशीनें लेने ली। उन मशीनो से उत्पादन में भी वृद्धि हुई तथा साथ में वस्तुओं का भी नीवनीकरण सम्भव हो सका।

1.2.3. यूरोप में साम्राज्यवाद का प्रबल होना :

अठारहवीं सदी में यूरोप की वह अवस्था नहीं रही थी जो कि उसकी चौदहवीं व पन्द्रहवीं शताब्दियों में थी। यह सत्य है कि अठारहवीं शती के अन्तिम चरण मे होने वाली फ्रांस की राज्य–क्रांति ने समस्त यूरोप को झकझोर दिया था। परन्तु यह भी सत्य है कि इस क्रांति ने वही राष्ट्रवाद को भी प्रबल बल दिया था। राष्ट्रवाद के प्रभाव से यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हिलोरे लेने लगी। स्पेन व बेल्जियम भी इस दौड़ में भाग लेने को आतुर हो उठे। इस साम्राज्यवाद के प्रसार का परिणाम यह निकला कि शक्तिशाली देशों को अपने पराधीन देशों से कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में सुगमता से उपलब्ध होने लगा। इसके साथ ही यूरोप के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शक्तिशाली एवं विकसित देशों को अपना उत्पादित सामान अपने ही उपनिवेशों में खपाने का अवसर मिल गया।

1.2.4. व्यापारिक क्रांति :

निःसन्देह यह सत्य है कि औद्योगिक क्रांति से व्यापार क्रांति और प्रखर हुई थी पर यह भी सही है कि व्यापारिक–क्रांति का आरम्भ औद्योगिक क्रांति से पूर्व हो गया था। इंग्लैण्ड, फ्रांस व स्पेन में व्यापारिक होड़ सोलहवीं सदी में ही आरम्भ हो गई थी। वे एशियाई व अमेरिका के देशो में अपना–अपना व्यापार विकसित करने मे संलग्न थे। भारत में इंग्लैण्ड व फ्रांस की व्यापारिक कम्पनियां स्थापित हो गई थी। अतः स्पष्ट है कि यूरोप के देश सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही उपनेवेशीय व्यापार में व्यस्त हो गये। परन्तु उपनेवेशीय व्यापार की सफलता के लिए वस्तुओं का अधिक उत्पादन आवश्यक था। अतः व्यापारिक क्रांति ने भी औद्योगिक–क्रांति को प्रेरणा प्रदान की।

1.2.5. यातायात के साधनों का विकास :

व्यापार के विकास मे यातायात के साधनों से सहयोग मिलता है। आन्तरिक व्यापार के विकास हेतु तो पक्की सड़कों का निर्माण आरम्भ हो ही गया था। परन्तु कुतुबनुमा के आविष्कार के उपरान्त पुर्तगाल व स्पेन समुद्री–मार्गों की खोज में भी जुट गये। उनके इन प्रयासों का परिणाम यह निकला कि यूरोप के देश अमेरिका व एशिया के कई देशों में जल मार्गों से आने–जाने लग गये। समुद्री मार्ग के विकसित हो जाने पर ही यूरोप के देश उपनिवेशीय व्यापार करने में सफल हुए। यातायात के साधनों के विकसित हो जाने पर व्यापार का क्षेत्र विस्तीर्ण हो गया और व्यापार का क्षेत्र विस्तृत हो जाने पर अधिक उत्पादन आवश्यक हो गया। इस अधिक उत्पादन हेतु विशाल यन्त्रों का सहारा लिया गया।

1.2.6. शिक्षा का विस्तार :

यूरोप में आधुनिक युग का आरम्भ शिक्षा के विस्तार के साथ हुआ। शिक्षा के प्रसार से जन–साधारण के ज्ञान में विकास हुआ। अब मध्यकाल की भांति अन्ध–विश्वासी नहीं रहे। छापेखाने के आविष्कार ने शिक्षा–प्रसार व ज्ञान की रश्मियों के विकीर्ण में महान सहयोग दिया। छापेखाने की सहायता से मुद्रित समाचारों के माध्यम से अन्य देशों के विषय में जानकारी सुगमता से होने लगी। इससे राष्ट्रीय भावना प्रबल हुई तथा अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग खुल गया। दूसरे देशो के भौगोलिक ज्ञान से वहां से आयात करने वाले कच्चे सामान की जानकारी मिली तथा वहां भेजे जाने वाले तैयार माल का भी क्षेत्र ज्ञात हुआ। इस प्रकार शिक्षा के प्रसार ने भी औद्योगिक–क्रांति में अपूर्व सहयेाग प्रदान किया।

1.2.7. वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार :

विशाल यन्त्रों का निर्माण विज्ञान की सहायता से ही सम्भव हो सका। टेक्नोलोजिकल प्रगति पदार्थ–विज्ञान से ही सम्भव हो सकी। इसके अलावा रसायनशास्त्र में भी उस समय अच्छा विकास हुआ। इससे यन्त्रों के रंगने का ज्ञान उपलब्ध हुआ। वस्त्रों के रंगने के अलावा रसायन शास्त्र की सहायता से ही लोहा व इस्पात का उत्पादन सम्भव हुआ और विशाल यन्त्रों का निर्माण इस्पात व लोहे से संभव हो सका। इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रांति का प्रसार आशाप्रद विज्ञान ने ही किया।

1.2.8. शक्ति के साधन :

विशाल यन्त्रों के निर्माण हेतु कच्चे लोहे को गलाने हेतु शक्ति की आवश्यकता थी। लकड़ी की गर्मी मे लोहा पिघलाना अति दुष्कर कार्य था। परन्तु जब कोयले की खानें खोदी जाने लग गई तो पत्थर के कोयले की गर्मी से कच्चा लोहा गलाया जाने लगा और उससे निर्मित इस्पात से यन्त्रों का निर्माण होने लगा। यन्त्रों के निर्मित हो जाने के उपरान्त उनको चलाने की समस्या उत्पन्न हुई। परन्तु कोयले की उपलब्धि ने इस समस्या का भी समाधान कर दिया। कोयले की गर्मी को वाष्प–शक्ति के रूप में प्रयुक्त की जाने लगा तथा उससे यन्त्र संचालित होने लगे। यंत्रो के संचालन से ही दैनिक जीवन की वस्तुओं का उत्पादन बड़ा। कोयले के अलावा आज तो शक्ति के अनेक विकसित साधन उपलब्ध है जिनकी सहायता से विशालकाय यंत्र सुगमता से संचालित हो रहे है और औद्योगिक क्रांति प्रखर एवं विश्वव्यापक बन रही है।

1.2.9. व्यापारी वर्ग :

यूरोप में आधुनिक युग के आरम्भ होते ही व्यापारी वर्ग भी पनपने लगा। सामन्तवाद के समाप्त हो जाने से व्यापारी वर्ग शक्तिशाली एवं महान शासकों के संरक्षण में पनपने लगा। अपने शासक के शक्तिशाली होने पर वे निःसंकोच एवं निर्भीक होकर विदेशों में जाकर व्यापार करने लगे। इससे व्यापारि वर्ग दिन पर दिन धनी होने लगा और वह अपने धन को बड़े कारखानों की स्थापना में लगाने लगा। उनके इस प्रयास का प्रतिफल यह निकला कि यूरोप में बड़े–बड़े कारखाने स्थापित होने लगे और उन कारखानों से उत्पादन दिनोंदिन वृद्धि पाने लगा। इस प्रकार व्यापारी वर्ग ने भी अपने धन की सहायता से औद्योगिक क्रांति को विकसित बनाने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में अपूर्व सहयोग दिया।

1.3 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – स्टॉम्प एक्ट कब पारित हुआ? (अ) 1750 ई. (ब) 1760 ई. (स) 1755 ई. (द) 1765 ई.

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – बोस्टन टी पार्टी पर टिप्पणी किजिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – ओद्यौगिक क्रांति के कारण व परिणामों को विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 2
फ्रांस की राज्य क्रान्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.0 भूमिका
2.1 राजनैतिक मशीनरी और कानूनों की अराजकता
2.2 विदेश नीति की असफलता
2.3 सामाजिक कारण
2.1.1. घोर असमानता
2.1.2. सामन्तों अथवा कुलीनों के अत्याचार
2.1.3. पादरी वर्ग की विलासिता और सम्पन्नता
2.1.4. मध्यमवर्ग की आकांक्षा
2.1.5. बौद्धिक विद्रोह
2.4 आर्थिक कारण
2.5 क्रांति के परिणाम
2.5.1. सामन्ती व्यवस्था का अन्त
2.5.2. धर्म–निरपेक्ष राज्य का उदय
2.5.3. राष्ट्रीयता का विकास
2.5.4. राजनीतिक देन
2.5.5. व्यक्ति की महता
2.5.6. समाजवाद का प्रारम्भ
2.5.7. स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व
2.6 बोध प्रश्न

2.0 भूमिका :

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस की राज्य–क्रांति ने एक और तो नर–संहार का वीभत्स दृश्य प्रस्तुत किया तथा दूसरी और औद्योगिक क्रांति के विकास का समुचित क्षेत्र प्रदर्शित किया। फ्रांस की राज्य क्रांति से उत्पन्न युद्ध की भंयकर ज्वाला ने अपने पड़ौसी राष्ट्रो के उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया था। नेपोलियम ने बर्लिन आज्ञा और मिलान आज्ञा की और मिलान आज्ञा के घोषणा कर अपने अधीन राज्यों को इंग्लैण्ड से सामान मंगाने के लिए मना किया। इन आज्ञाओ की घोषणा के उपरान्त भी यूरोपीय देश चौरी छिपे इंग्लैण्ड से सामान मंगाते रहे और साथ में अपने यहां भी औद्योगिक विकास का प्रयत्न करते रहे इसके बाद शान्ति स्थापना पर तो ये देश तेजी से अपने औद्योगिक विकास में लग गये। इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास के

लिए तो इस क्रांति ने एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया था।

2.1 राजनैतिक मशीनरी और कानूनों की अराजकता :

लुई सोलहवें के राज्यकाल से फ्रांस का शासन यूरोप का सबसे अत्याचारी शासन तो नही था, लेकिन राजनीतिक यन्त्र बहुत बिगड़ चुका था जिसकों लोगों की इच्छा का तनिक भी ख्याल नहीं रहता था। तत्कालीन समय के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त था। लुई चौदहवें के समय इस शासन यन्त्र का निर्माण हुआ था और इसके संचालन के लिए लुई चौदहवें जैसे कुशल शासक की आवश्यकता थी, पर उसके उत्तराधिकारी बहुत ही कमजोर और अयोग्य शासक सिद्ध हुए हुए। लुई सोलहवें ने अपनी कमजोरी से इस राजनीति यन्त्र की निरंकुशलता का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

एक अन्य बात थी कानून की अराजकता। देश में एक कानून पद्धति का अभाव था। दक्षिण में रोमन कानून प्रचलित था तो शेष देश में लगभग 285 भांति के कानून चलन में थे। कानूनो की इस अराजकता से जन–जीवन बहुत उत्पीड़ित था। कर्मचारी जनता का शोषण करते थे और रिश्वत का बाजार गर्म था।

2.2 विदेश नीति की असफलता :

लुई चौदहवे के दोनो उत्तराधिकारी सम्राटो के काल मे अंग्रजों ने फ्रांस में उपनिवेशोंको छीन लिया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस की प्रतिष्ठा को बहुत क्षति पहुंची। स्वाभिमानी फ्रांसीसी जनता के लिए यह स्थिति बड़ी कष्टकर थी।

2.3 सामाजिक कारण :

2.1.1. घोर असमानता :

फ्रांसीसी समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में बंट गया था – पहला विशेषाधिकारों से युक्त वर्ग और दूसरा सभी अधिकारों से वंचित वर्ग। विशेषाधिकारों से युक्त वर्ग में कुलीन अथवा सामन्त और पादरी थे, अधिकारों से वंचित वर्ग में सर्वसाधारण लोग, अर्थात् मध्य श्रेणी के व्यक्ति, मजदूर और किसान थे। साधारण जनता को थर्ड एस्टेट कहा जाता था। करों का सारा बोझ सर्वसाधारण पर ही था। कुल मिलकर स्थिति यही थी कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के ऊपर उत्तरदायित्व बहुत थे और उन्हें अधिकार कुछ नहीं थे। जिम्मेदारियो से बरी, किन्तु अधिकारों से परिपूर्ण वर्ग की संख्या सारे देश में ढाई लाख के लगभग थी जबकि फ्रांस की कुल आबादी ढाई करोड़ के लगभग थी। इस प्रकार ढाई लाख लोगों ने ढाई करोड़ लोगों का आतंकित कर रखा था।

2.1.2. सामन्तों अथवा कुलीनों के अत्याचार :

फ्रांस में राज्य परिवार के बाद इनका ही स्थान था। ये लोग खूब ठाट–बाट से रहते थे। राज्य की ओर से बड़े–बडे पदों की नीलामी होती थी जिन्हें ये धन के बल पर खरीद लेते थे। देश की चौथाई भूमि पर इनका कब्जा था। राज्य, सेना और चर्च के उच्च पदों पर इनका दरबार के षड़यन्त्रों में भाग लेने, शिकार खेलने और जनता का शोषण करने के सिवाय और कोई काम नहीं करते थे। उनकी जमीन किसान जोतते–बोते थे। अपने शिकार के शोक को पूरा करने के लिए वे बहुत सी जमीन शिकारो के लिए सुरक्षित रखते थे ताकि जंगली पुशओं की संख्या खूब बढ़े और वे दिल भरकर शिकार कर सकें। ये पशु खेतों को नुकसान पहुंचाते थे, पर किसान इन्हें अपने खेतो से भगा नही सकते थे। शिकारियों के घुड़–सवार दल फसलो को रौदते हुए चले जाते थे और बेचारे किसान चुपचाप दिल मसोस कर रह जाते थे। विवाह आदि के विशेष खर्च के अवसर पर जमींदार लोग गरीब किसानों से विशेष नजराने लेते थे। अपने क्षेत्र में आने वाले माल पर वे कर वसूल करते थे। शराब के कारखाने और आटे की चक्की खोलने का अधिकार केवल इन्हीं को था। कोई भी जमीन बेची या खरीदी जाने पर इन्हें उसकी कीमत का पांचवां हिस्सा मिलता था। किसान इनके लिए बेगार करते थे। इस प्रकार सामन्ती अत्याचार से फ्रांस का सर्वसाधारण वर्ग बहुत ही दुखी और परेशान था। जिन सामन्तों की आर्थिक अवस्था हीन थी वे भी अपने विशेषाधिकारों के बल पर समाज के लिए आतंक बने रहते थे।

2.1.3. पादरी वर्ग की विलासिता और सम्पन्नता :

कुलीनों के अतिरिक्त विशेष्ज्ञाधिकारी वर्ग में पादरी भी सम्मिलित थे जिनका समाज में ऊँचा स्थान था। ये चर्च के अधिकारी होते थे और चर्च अपने विशेष महत्व के कारण राज्य के भीतर राज्य सा था। देश की भूमि का बहुत बड़ा भाग चर्च के स्वामित्व में था। किसी–किसी प्रदेश की कुल भूमि के 40 प्रतिशत भाग पर चर्च कब्जा जमाए बैठा था। लोगों को अपनी भूमि की उपज का लगभग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दसवां भाग चर्च को करो के रूप में चुकाना पड़ता था जिसे दसमांश कहते थे। पादरी अपने धार्मिक कर्तव्यो के प्रति बिल्कुल उदासीन थे। स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर वे राजा तक को धमकी देते थे और बहुत शान–शौकत से रहते थे। दरबारी षड्यन्त्रों और दुराचार में ही उनका अधिकांश समय बीतता था, पर यह हालत बड़े पादरियों की ही थी। छोटे पादरियों की स्थिति दयनीय थी, उन्हें कम वेतन पर काम करना पड़ता था और अपनी शोचनीय स्थिति के कारण उनमें काफी असन्तोष व्याप्त था। ये छोटे पादरी निरंकुश शासन के विरूद्ध सामान्य जनता का साथ देने को तैयार थे।

2.1.4. मध्यमवर्ग की आकांक्षा :

बुर्जुवा या उच्च मध्य वर्ग की गिनती सर्वसाधारण में ही होती थी। यह वर्ग धनी और बुद्धिमान था किन्तु समाज में इसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं थी क्योंकि इसे कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अतः प्रचलित शासन पद्धति से इन्हें असन्तोष था। वे राजनीतिक और सामाजिक सुधार के पक्षपाती थे। क्रांति के लाने में इस मध्यम वर्ग का ही सबसे अधिक हाथ था।

2.1.5. बौद्धिक विद्रोह :

देश की सामान्य जनता पीड़ित और शोषित थी। उसमें असन्तोष तीव्र होता जा रहा था और फ्रांस के बौद्धिक वर्ग ने उसे क्रांति की ओर ढकेलने मेमहत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। फ्रांस के दार्शकों ने जनता के विचारो में क्रांति उत्पन्न कर दी। इनमे प्रसिद्ध थे– माण्टैस्क्यू, वाल्टेयर, रूयी, दिदेरो आरकेने। माण्टैस्क्यू ने राज्य–शक्ति के विभाजन का विचार प्रस्तुत किया और कहा कि कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका शक्तियां एक ही व्यक्ति के हाथ मे न होकर पृथक्–पृथक् हाथो मे होनी चाहिए। वाल्टेयर ने राज्य के दोषों की निन्दा की और चर्च की असहिष्णुता तथा धार्मिक संकीर्णता पर विशेष प्रहार किया। उसने तर्क की प्रधानता के लिए अपील की। वह उदार स्वेच्छाचारी शासन मे विश्वास रखता था। रूसो समाज के पुनर्निर्माण की नई योजना लेकर मैदान में आया। उसका ध्येय स्वतन्त्र जनता के स्वतन्त्र विचारों के अनुसार समाज की व्यवस्था को पूर्ण परिवर्तन कर नए ढंग से समाज का पुनर्गठन करना था। रूसो के ग्रंथ सोशल कांट्रेक्ट' ने लोकतन्त्रवाद और जनता के दोष–रहित निर्णयो के सिद्धान्त की शिक्षा दी। इस पुस्तक के सिद्धान्तो के रूप मे क्रान्तिकारियो को लड़ने का एक अस्त्र हाथ लगा। दिदेरो ने दूसरे वैज्ञानिको और विद्वानों के सहयोग से एक विश्व–कोष तैयार किया जिसमे अन्य विषयों के साथ ही निरंकुश राजसत्ता, अन्यायपूर्ण कर–पद्धति कुलीन प्रथा, दास प्रथा, धार्मिक संकीर्णता आदि दोषो पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यदि कानून अच्छे होंगे तो जनता का नैतिक स्तर अच्छा होगा और उसके साथी अनेक अर्थशास्त्रियोने तत्कालीन आर्थिक बुराइयोका विरोध किया और सुधार–योजनाएं प्रस्तुत की। आर्थिक क्षेत्र में राजा के हस्तक्षेप को अनुचित ठहराया गया।

इन सभी विद्वानों के विचारों और सिद्धान्तो से जनता बहुत प्रभावित हुई जनता के विचारो मे भरी उथल–पुथल मच गई और एक नई जागृति आ गई।

2.4 आर्थिक कारण :

1. क्रांति के मूल में आर्थिक कारण महत्वपूर्ण थें कर प्रणाली अत्यन्त अन्यापूर्ण और कठोर थी। करों का सारा बोझ सर्वसाधारण पर था और कुलीन वर्ग आम तौर से करों से मुक्त था। कर वसूल करने वाले किसानों पर अत्याचार करते थे। उनकी उपज का दसवां भाग अकेला चर्च ही ले लेता था।

2. राज–परिवार की फिजूलार्ची और युद्धों पर भारी व्यय के कारण फ्रांस दिवालिया होता जा रहा था और इस दिवालियेपन को दूर करने के लिए वित्त मंत्रियों ने अमीरों से कर वसूल करने में असफल होकर गरीब जनता और किसानों से ही अधिकाधिक धन वसूल करने की कोशिश की।

3. भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी से साधारण जनता बुरी तरह आक्रान्त की प्रान्तीयता की भावना इतनी प्रबल थी कि अनेक प्रान्तों की सीमा पर आयात–निर्यात कर लगे हुए थे।

ये सभी आर्थिक परिस्थितियां क्रांति का वातावरण तैयार करने में अग्रणी रही।

2.5 क्रांति के परिणाम :

यूरोप के इतिहास में ही नहीं अपितु सारे संसार के इतिहास में इस क्रांति का एक विशिष्ट स्थान है। इस क्रांति ने सही अर्थो में मध्ययुगीन व्यवस्था का अन्त करके आधुनिक युग का सूत्रपात किया। इतिहासकार हेजन के शब्दो में फ्रांस की क्रांति ने राज्य के सम्बन्ध ा में एक नई धारणा को जन्म दिया, राजनीति तथा समाज के विषय में नए सिद्धान्त प्रतिपादित किए। जीवन का एक नया दृष्टिकोण सामने रखा और एक नई आशा तथा विश्वास उत्पन्न किया। इन चीजों में बहुसंख्यक जनता की कल्पना और विचार प्रज्जवलित हुए, उनमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक अद्वितीय उत्साह का संचार हुआ तथा असीम आशाओं ने उन्हें अनुप्राणित किया। इतिहासकार डेविस का मत है कि 1917 को रूसी क्रांति के पूर्व कुछ अंशों में उसके बाद भी इस क्रांति ने संसार की अधिकांश महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभावित किया है। क्रांति के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित रहे –

2.5.1. सामन्ती व्यवस्था का अन्त :

मध्यकालीन समाज की सामन्ती व्यवस्था का अन्त करना फ्रांसीसी क्रांति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। सदियों तक करोड़ों व्यक्ति इस व्यवस्था के अन्तर्गत पिसते रहे। आर्थिक शोषण तो इस व्यवस्था की चारित्रिक विशेषता थी ही, लेकिन इसकी सबसे बड़ी बुराई वह थी कि इसके अन्तर्गत सामान्य व्यक्ति का कुछ भी महत्व न था। फ्रांस की क्रांति ने इस अपमानजनक व्यवस्था का अन्त कर दिया। उसने समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके सामान्य व्यक्तियो को उनके उपयुक्त स्थान पर प्रतिष्ठित किया। फ्रांस की क्रांति का आगे चलकर दूसरे देशों के लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि यूरोप के अन्य देशों मे भी धीरे–धीरे सामन्ती व्यवस्था का अन्त हो गया।

2.5.2. धर्म–निरपेक्ष राज्य का उदय :

धर्म के क्षेत्र में उदारता और बाद में सहिष्णुता लाना इस क्रांति की एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन है। क्रांति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में धार्मिक सहिष्णुता का प्रादुर्भव हुआ और लोगों को धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता मिली। मध्यकालीन शासकों का हमेशा ही प्रयास रहा था कि उनके राज्य के सभी निवासी केवल उसी धर्म को माने जिसमे स्वयं राजा विश्वास करता हो। अन्य धर्मावलम्बियों को कठोर से कठोर दण्ड दिये जाते थे। क्रांति में धर्म–निरपेक्ष राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करके मानवता की बहुत बड़ी सेवा की है।

2.5.3. राष्ट्रीयता का विकास :

फ्रांस की क्रांति ने ऐसी प्रगतिशील राष्ट्रीयता को जन्म दिया जिससे आधुनिक संसार आज भी अत्यधिक प्रभावित है। इस क्रांति की देन अद्वितीय मानी जाती है। राष्ट्रीयता की यह भावना केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही। जैसे–जैसे क्रांति का विस्तार होता गया जैसे–जैसे यूरोप में अन्य देश भी इस भावना से प्रभावित और प्रेरित होते गये। संसार के सभी पद अन्य देश भी इस भावना से प्रभावित और प्रेरित होने लगे। संसार के सभी पर दलित और परतंत्र लोगो में इस भावना का प्रसार हुआ और प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र को स्वन्तथा उन्नत बनाने के लिए आन्दोलन उठ खड़े हुए।

2.5.4. राजनीतिक देन :

क्रांति ने राजाओं के दैवी सिद्धान्त का अन्त कर लोकप्रियता संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कियां शासन की बागडोर केवल एक व्यक्ति के हाथ में न रहकर तथा संप्रभुता केवल राजा में ही केन्द्रित न होकर, राज्य की जनता के हाथ में हो, यह इस क्रांति ने प्रमाणित कर दिखाया। अब सर्वसाधारण प्रत्यक्ष रूप से देश की राजनीति में हिस्सा बंटाने लगा। इससे जनता में आत्मविश्वास की एक नयी भावना का संचार हुआ। राजनैतिक दलों का बड़े पैमाने पर उदय एवं विकास हुआ।

2.5.5. व्यक्ति की महता :

मानव अधिकारो की घोषणा और स्वतन्त्रता एवं समानता के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके फ्रांस की क्रांति ने व्यक्ति की महता एव गरिमा को स्वीकार किया। क्रांति के पूर्व साधारण व्यक्ति का कुछ भी महत्व नही था। समाज में केवल विशेषाधिकार सम्पन्न लोगो का ही प्रभाव था। अब सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करने लगी। जनता के विचारोकी अभिव्यक्ति ही शासन के स्वरूप का आधार बन गई। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त क्रांति की अमूल्य देन बन गया।

2.5.6. समाजवाद का प्रारम्भ :

फ्रांस की क्रांति ने समाजवादी व्यवस्था का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसने अमीरो और निर्धनों को न्याय के सन्मुख समानता प्रदान की। सभी के लिए एक समान कानूनों की व्यवस्था की। यह ठीक है कि क्रांति ने श्रमिको की स्थिति को सुधारने तथा पूंजीपतियों का सफाया करने में अधिक सक्रिय कदम नहीं उठाए, परन्तु सामन्त प्रथा का अन्य, विशेषाधिकारो की प्राप्ति तथा चर्च की शक्ति को समाप्त करके समाजवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि अवश्य तैयार कर दी।

2.5.7. स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व :

फ्रांस की क्रांति ने मानव जाति को स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व का नारा प्रदान किया। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अधिकार मान लिया गया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से प्रत्येक नागरिक को पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार, भाषण, लेखन, प्रेस तथा जानमाल को सुरक्षा आदि के अधिकार दिये गये। न्याय के सन्मुख समानता एवं सार्वजनिक पदों को योगय व्यक्तियों के लिए खोलना समानता का ज्वलन्त उदाहरण है। परस्पर प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति ही बन्धुत्व और इसी का विकास क्रांति का मुख्य व्यय रहा था। इन्ही के आधर पर आने वाले संसार में लोकतंत्र की नीव मजबूत हो पायी।

2.6 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – लुई सौलवां कहां का शासक था ? (अ) इटली (ब) जर्मनी (स) फ्रांस (द) इंग्लैण्ड

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – फ्रांस की क्रांति के सामाजिक कारणों पर टिप्पणी लिखिएं ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – फ्रांस की राज्य क्रांति के कारण और परिणामों को विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 3
नेपोलियन बोनापार्ट

3.1 नेपोलियन का उत्कर्ष

3.1 नेपोलियन का प्रथम कौसल बनना

3.2 सम्राट के रूप में नेपोलियन

3.3 सम्राट नेपोलियन अपनी शक्ति के चर्मोत्कर्ष पर

3.4 सम्राट नेपोलियन का पतन

3.4.1 इंग्लैण्ड के विरूद्ध असफल महाद्वीपयी व्यवस्था

3.4.2 स्पेन में पराजय

3.4.3 रूस में फ्रांसीसी शक्ति का विनाश

3.4.4 सब राष्ट्रों का युद्ध

3.5 फ्रांस पर आक्रमण एवं नेपोलियन का राज्यच्युत होना

3.6 ऐल्बा में नेपोलियन की सक्रियता

3.7 पेरिस की सन्धि

3.8 वियना कांग्रेस

3.9 नेपोलियन फिर फ्रांस में

3.10 शतदिवसीय युद्ध

3.11 वाटरलू का निर्णायक युद्ध

3.12 नेपोलियन का अन्त

3.13 पैरिस की द्वितीय संधि

3.14 नेपोलियम के पतन के कारण

3.14.1. नेपोलियन का महत्वाकांक्षी होना

3.14.2. नेपोलियन के साम्राज्य का शक्ति पर अवलम्बित होना

3.14.3. नेपोलियन की चारित्रिक दुर्बलताएं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.14.4. नेपोलियन का कल्पनाशील होना

3.14.5. समय व्यर्थ गंवाना

3.14.6. उसके धार्मिक सुधार व पोप के साथ उसका व्यवहार

3.14.7. उसकी महाद्वीपय व्यवस्था

3.14.8. नेपोलियन का अधिनाकयवाद

3.14.9. नेपोलियन की सैनिक व्यवस्था

3.14.10 राष्ट्रीय भावना का प्रसार

3.14.11. फ्रांस की आर्थिक अवस्था

3.14.12. समुद्र पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्व

3.14.13. स्पेन के साथ संघर्ष

3.15 नेपोलियन का मूल्यांकन

3.16 बोध प्रश्न

3.1 नेपोलियन का उत्कर्ष :

अक्टूबर मास 1799 ई. में नेपोलियन मिश्र से फ्रांस लौट आया था। वहां आकर उसने फ्रांस की स्थिति का अध्ययन किया और 10 नवम्बर को सेंट क्लूड के स्थान पर कूप द इतात' के माध्यम से उसने 'संचालक मण्डल' का अन्त कर दिया। उसी दिन सायंकाल व्यवस्थापिका के दोनो सदनों की बैठक हुई। उस बैठक में यह प्रस्ताव पारित कर दिया गया कि संचालक मण्डल को समाप्त कर कौसल शासन स्थापित कर दिया जावे। इसके अनुसार 11 नवम्बर को तीन कौसल नियुक्त किये गये। प्रथम कौसल सियेस था, उसे संविधान बनाने का कार्य सौपा गया था। दूसरा कौसल ड्यू को था। कौंसल मे तीसरा स्थान नेपोलियन को मिला। प्रथम कौसल प्रशासन में प्रधान होता था तथा अन्य दो प्रथम के आश्रित।

3.1 नेपोलियन का प्रथम कौंसल बनना :

यह सत्य है कि व्यवस्थापिका द्वारा कौसल–शासन व्यवस्था का प्रस्ताव पारित करने के उपरान्त तीनों कौसलों ने गणतन्त्र, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तो तथा प्रतिनिधि शासन–प्रणाली के प्रति निष्ठा की शपथ ली थी परन्तु जैसा कि हम नेपोलियन के उत्कर्ष में देखेंगे कि वह प्रारम्भ से ही महत्वाकांक्षी था। उसे इटली मे विजय प्राप्त करने के उपरान्त अपने पर महान आत्म–विश्वास हो गया था। वह स्वयं को महान पुरूष समझने लगा था। अतः वह अपने ऊपर दो कौसल कैसे सहन कर सकता था। वह तो मिश्र से फ्रांस सत्ता हथियाने के उद्देश्य से ही लौटा था। अतः वह उन दोनों को हटा कर प्रथम कौसल बनने का प्रयास करने लगा। भाग्य ने उसका साथ दिया। कुछ हफ्ते उपरान्त सियेस ने अपने पद से अवकाश ग्रहण कर लिया और ड्यूकों ने भी उसका ही अनुसरण किया। उनके स्थान पर क्रमशः कैम्बेसेरेस तथा लिब्रून कौसल नियुक्त हुए। कैम्बेसेर्स की आयु उस समय 50 वर्ष थी और वह लैग्यूडोक के कुलीन वंश में जन्मा था। वह नेशनल कन्वेंशन का सदस्य रह चुका था तथा उसका राजनैतिक जीवन सराहनीय रहा था। लिब्रुन की अवस्था उस समय 60 वर्ष की थी और वह नौरमण्डी से आया था। वह फ्रांस के तत्कालीन अच्छे लेखकों में से था उनकी नयी नियुक्ति होने के कारण (24 दिसम्बर) नेपोलियन कन्स्यूलेट का प्रथम कौसल बन गया। इस पद पर नियुक्त होने के उपरान्त नेपोलियन सौ दिन तक लक्जम्बर्ग में रहा और इस समय वह निरन्तर अधिनायक बनने का प्रयास करता रहा। सातवें वर्ष फ्रांस का सर्वोच्चाधिकारी बना लिया। सी.डी. हैजन का कहना है कि उसने अपने हाथ में जितनी कार्य–पालिका की शक्तियां रखीं उतनी तो 1791 ई. के संविधान के अन्तर्गत लुई सोलहवें को भी प्राप्त न थीं। इस प्रकार एक साधारण परिवार में जन्म लेकर इतनी अल्प आयु में ही नेपोलियन ने फ्रांस की सत्ता हस्तगत कर ली और उसे जल्दी से अपने हाथ से नहीं निकलने दी। उसने अपने प्रशासन काल में अपने युग पर जो प्रभाव डाला वह कोई भी न डाल सका। वास्तव में उसका उत्कर्ष विस्मयकारी था।,

3.2 सम्राट के रूप में नेपोलियन :

नेपोलियन प्रथम कौन्सिल के रूप में सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति नही था। यद्यपि 1802 में वह जीवन भर के लिए प्रथम कौन्सिल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चुन लिया गया, लेकिन वह तो फ्रांस का सम्राट बनना चाहता था और उसकी इच्छा पूरी होकर रही। उसके संकेत पर मई 1804 में सीनेट ने उसको सम्राट घोषित कर दिया। जनता ने भी उसके इस अधिकार का अनुमोदन किया। 3 दिसम्बर 1804 को नाटरडैम के गिरजाघर में पेाप की उपस्थिति में बड़े ठाट–बाट से उसका राज्याभिषक हुआ। नेपोलियन ने पोप पायस सप्तम् के हाथ से राज–मुकुट लेकर स्वयं ही अपने सिर पर धारण कर लिया। इस प्रकार गणतन्त्र का अन्त कर नेपोलियन फ्रांस का सम्राट् बन गया। नेपोलियन के ही शब्दों में 'उसने फ्रांस के राज–मुकुट को घूल में पड़ा पाया और उसे तलवार की नोक से उठाकर अपने सिर पर रख लिया।' सम्राट् बनने पर नेपोलियन की शक्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई क्योंकि व्यवहार में सम्राट के सभी अधिकारों का वह प्रथम कौन्सिल के रूप में उपयोग कर रहा था। सम्राट बनने से केवल नेपोलियन के गौरव में वृद्धि हुई। नेपोलियन जानता था कि फ्रांस की जनता सम्राट की विरोधी नहीं है, वह तो केवल सामन्तों और पदरियों के विशेषाधिकारों की विरोधी और स्वतन्त्रता की अपेक्षा समानता चाहती है।

अपने सम्राट पद को गौरव प्रदान करने के लिए नेपोलियन ने लुई चौदहवें की भांति अपने दरबार का संगठन किया। डॉ. वी.सी. पाण्डे ने लिखा है – दरबार के वैभव मे, खूब धन व्यय किया जाने लगा। उसने कुलीन श्रेणी की एक समिति का निर्माण किया। इस समिति में सर्वोच्च पदाधिकारियों को स्थान दिया गया था। इस सिमति में सबसे प्रमुख स्थान का होता था। यह पद नेपोलियन ने अपने भाई जौसेफ बोनापर्ट को दिया था। यह सीनेट तथा लेजिस्लेटिव का अधिवेशन बुलाता था। दूसरा पद न्याय समिति में अध्यक्षता करता था। यह पद भूतपूर्व कौन्सिल कम्ब्रेसरी को दिया गया था। तीसरा पद काम देश के आय–व्यय पर दृष्टि रखना था। यह पद ली प्रून को दिया गया था। चौथा पद का कार्य विदेशी राजदूतों का स्वागत करना तथा सन्धियों को स्वीकार करना था। यह पद राजकुमार यूजेन को मिला था। पांचवा पद अन्तिम महत्वपूर्ण पद था। यह पद नेपोलियन ने लुई बोनापार्ट को दिया था। अंग रक्षकों का अलग से संगठन किया गया था। नेपोलियन ने देश के चुने हुए प्रसिद्ध 18 सेनापतियों को मार्शल की उपाधि प्रदान की। इस पद का बहुत अधिक महत्व था। इससे प्रत्येक सैनिक इस पद को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त चेष्टा करता था। उसकी महारानी जो जेफाइन ने भी मेरी अन्तायनेत की भांति विलासिता से जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। उसकी सेवा के लिए अनेक परिचारिकाएं रक्खी गई। महारानी की परिचारिकाओं में प्रथम स्थान मेडम द रैम्यू सेत का था। नेपोलियन ने अपने भाइयो तथा सम्बन्धियों को भी उच्च पद प्रदान किए।

नेपोलियन ने फ्रांस का सम्राट बनने पर भी उसी संविधान की रूपरेखा बनाए रखी जो कौसिल काल में थी।

सीनेट : यह शासन का महत्वपूर्ण अंग था जिसमें प्रमुख व्यक्ति नेपोलियन के परिवार के सदस्य और उसके विश्सनीय सहयोगी रहते थे सीनेट की सदस्यताआजीवनहोती थी और नेपोलियन के सम्राट बनने के बाद उनका मुख्य कार्य केवल नेपोलियन की प्रशंसा करना और उसको बधाई देना ाि।

लैजिसलेटिव बॉडी – यह नेपोलियन द्वारा बनाए कानूनों पर विचार करती थी किन्तु इसके निर्णय प्रकाशित नहीं होते थे।

ट्रिब्यूनेट – इसका कार्य भी अन्य समितियों द्वारा बनाए हुए कानूनों का अनुमोदन करना था।

कौसिल ऑफ स्टेट – यह सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी जो नीति निर्धारण और न्याय करने में सर्वोच्च थी।

3.3 सम्राट नेपोलियन अपनी शक्ति के चर्मोत्कर्ष पर :

नेपोलियन का सम्राट बनना यूरोप को अच्छा नहीं लगा। बूबो राजवंश के स्थान पर कोसिका का एक साधारण युवक अपना एकाधिकारतन्त्र अथवा राजतन्त्र कायम कर ले, यह यूरोप के राजाओ को सहन नही हो सकता था, फिर उन्हें नेपोलियन के सैन्यवाद से भी भय था। यूरोप के राजाओं को सहन नहीं हो सकता था, फिर उन्हें नेपोलियन के सैन्यवाद से भी भय था। यूरोप समझता था कि महत्वकाकांक्षी नेपोलियन सम्पूर्ण यूरोप को अपने अधीन करने का दुस्साहस करेगा।

पारस्परिक विद्वैष के इस बढ़ते हुए वातावरण में मई 1803 में फ्रांस और इंग्लैण्ड में पुनः युद्ध छिड गया। अमीन की सन्धि मे इंग्लैण्ड ने फ्रांस को माल्टा द्वीप देने का वचन दिया था, परबाद में नेपोलियन की तरफ से सम्भावित खतरे की दृष्टि से उसने यह द्वीप लौटाने से इन्कार कर दिया। युद्ध के अनेक कारणों में से यही तात्कालिक कारण सबसे प्रमुख था। युद्ध की घोषणा इंग्लैण्ड ने की और आस्ट्रिया तथा रूस को अपने पक्ष में करके फ्रांस के विरूद्ध एक नया संघ खड़ा कर दिया गया जिसे तृतीय संघ कहते है। यह समाचार पाते ही नेपोलियन के इंग्लैण्ड पर हमला करने से पहले आस्ट्रिया पर धावा बोल दिया। उल्म नामक स्थान पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आस्ट्रिया को बुरी तरह हराने के बाद आस्टरलीज के युद्ध में उसने रूस और आस्ट्रिया की संयुकत सेना को रौद डाला। स्थल पर नेपोलियन ने विजय पताका फहराइ किन्तु समुद्र पर21 अक्टूबर, 1805 को ट्राफलगर के पास ब्रिटिश नौ–सेनापति नेल्सन ने फ्रांस और स्पेन के संयुक्त जहाजी बेड़े को इतनी बुरी तरह पराजित किया कि नेपोलियन ने इंग्लैण्ड पर सीधा हमला करने का इरादा सदा के लिए छोड दिया।

पराजित आस्ट्रिया ने 26 दिसम्बर, 1805 ई. को नेपोलियन ने प्रेसवर्ग की सन्धि कर ली। फ्रांस के विरूद्ध बना तृतीय संघ टूट गया। सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को अनेक प्रदेश छोड़ने पड़े। नेपल्स में नेपोलियन का भाई जोसफ बोनापोर्ट शासक नियुक्त किया गया। वेनिस इटली राज्य में मिला दिया गया। सन्धि के बाद नेपोलियन ने फ्रांस के चारों और अधीनस्थ राज्यों के निर्माण सम्बन्धी अपने अधूरे कार्य को पूरा किया और यूरोप का नक्शा ही बदल दिया। उसने जर्मनी की छोटी रियासतों को सहायता देकर अपना मित्र बना दिया। ये रियासते फ्रांस और आस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच मध्यवर्ती राज्य बन गई। नेपोलियन ने बवेरिया, व्यूरस्बर्ग, वाडन तथा अन्य वेरह राज्यों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी में राइन–राज्यसंघ का निर्माण किया और इस प्रकार प्रशा-सन के कुकाबले एक नई शक्ति खड़ी कर दी। इन सभी राज्यों ने नेपोलियन को अपना संरक्षक मान लिया। उन्होंने जर्मन सम्राट को अपना अधिपति मानना छोड़ दिया। तत्पश्चात् नेपोलियन ने घोषणा की पवित्र रोमन साम्राज्य की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। वास्वत में इस साम्राज्य में शामिल अनेक राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे। नेपोलियन की धमकी से घबराकर आस्ट्रिया के फ्रांसिस द्वितीय ने पवित्र रोमन सम्राट की उपाधि त्याग कर केवल आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस प्रथम का पद ग्रहण कर लिया। इस तरह 6 अगस्त 1806 ई. को पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त हो गया।

नेपोलियन के कार्यो से क्षूब्ध होकर 1 अक्टूबर 1806 ई. को प्रशा ने फ्रांस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। नेपोलियन ने प्रशा को बुरी तरह परास्त किया। 27 अक्टूबर, 1806 को विजय पताका फहराते हुए वह प्रशा की राजधानी बर्लिन में प्रवेश कर गया। वहां से उसने रूस पर आक्रमण किया। विजयश्री नेपोलियन को मिली। रूस के जार एलेक्जेण्डर की प्रार्थना पर 25 जून, 1806 ई. को दोनों देशों के मध्य टिलसिट की सन्धि को गई। इस सन्धि द्वारा रूस ने उन राज्यों को मान्यता प्रदान की जिनका निर्माण नेपोलियन ने किया था। ये राज्य नेपल्स, हालैण्ड, वेस्टफेलिया, राइन संघ ग्रेण्ड डची ऑफ वारसा आदि थे। सर्वोपरि बात यह हुई कि फ्रांस और रूस ने गुप्त रूप से सम्पूर्ण यूरोप को आपस में बांट लेने का निश्चय किया। पूर्वी यूरोप रूस को और पश्चिम यूरोप फ्रांस की मिलना तय हुआ। दोनों ने मिलकर इंग्लैण्ड को कुचल देने का निश्चय किया। प्रशा के साथ की गई सन्धि की शर्तों का भी टिलसिट की सन्धि में ही उल्लेख कर दिया गया। प्रशा राज्य के दो भाग कर दिए गए। एक भाग वैस्टफेलिया का राज्य बना दिया गया तथा नेपोलियन के भाई जोसेफ को उसका शासक बनाया गया। दूसरा भाग ग्रेण्ड डची ऑफ वारसा बना दिया गया। प्रशा के काफी प्रदेश छीन लिए गए।

'वास्तव में टिलसिट की सन्धि नेपोलियन की सफलता की चरम सीमा थी। इस समय लगभग पूरा यूरोप उसके अधीन था। नेपोलियन फ्रांस का सम्राट, इटली का राजा और राइन संघ का संरक्षक था। जर्मनी पर उसका पूरा प्रभुत्व था। बेल्जियम, पश्चिमी राइनलैण्ड, सेवाय और नीस पहले ही फ्रांस में मिलाए जा चुके थे। आस्ट्रिया का सम्मान धूल में मिल गया था। प्रशा को रौद कर उसका अंग–भंग कर दिया गया था। रूस का जार नेपोलियन की दोस्ती का इच्छुक था। इस तरह सम्पूर्ण यूरोप या तो नेपोलियन के अधीन था या उसका मित्र था। केवल इंग्लैण्ड ही उसको प्रबल और शक्तिशाली शत्रु के रूप में चुनौती दे रहा था। अतः उसने अब इंग्लैण्ड को नष्ट करने का संकल्प किया।

डॉ. वी. सी. पाण्डेय ने 1807 में नेपोलियन की स्थिति को चिहांकित करते हुए लिखा है – 'इस समय नेपोलियन अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर था। यदि वह इसी वर्ष मर जाता तो उसके समान कुशल सेनानायक का उदाहरण न केवल यूरोप वरन् समस्त विश्व के इतिहास में न मिलता। टिलसिट की सन्धि के पश्चात् यूरोप के राजाओ के तृतीय संघ का विनाश हो गया था। इस समय केवल इंग्लैण्ड तथा स्वेडन ही पराजित किए बिना रहे थे। इस समय नेपोलियन विश्व के सम्राटों में सबसे अधिक शक्तिशाली था। इस समय कार्सिका के एक निर्धन वकील खानदान के प्रत्येक स्त्री–पुरूष, राजा–रानी के पद तक पहुंच गए थे। उसने अपनी इच्छानुसार यूरोप के नक्शे में अनेक परिवर्तन कर दिए थे वह एक विशाल साम्राज्य का मालिक या उसका यह साम्राज्य पो नदी से उत्तरी सागर तक और पेरेनीज पर्वत तक तथा पोप के राज्य से राइन नदी तक फैला हुआ था। उसकी माता इस विशाल साम्राज्य की राजमाता थी। उसका भाई जोसेफ नेपिल्स का राजा था। कुछ समय पश्चात् जोसेफ को स्पेन का राजा बना दिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) admin

गया। उसने अपने दूसरे भाई लुई को हालैण्ड का राजा बनाया। प्रारम्भ में हालैण्ड में गणतन्त्र था, परन्तु भाई–लुई के हित के कारण उसने इसको राजतन्त्र कर दिया। उसने अपने तीसरे भाई जेरोम को वेस्टफेलिया का राजा बनाया। उसका सौतेला पुत्र यूजेन उत्तरी इटली में उसका वाइसराय था। उसकी एक बहिन एलिस तक एक छोटी सी रियासत लुक्का की राजकुमारी थी। उसने अपनी दूसरी बहन कैरोलिन का विवाह अपने प्रसिद्ध सेनापति मूरा के साथ दिया तथा उसको ड्यूक ऑफ वर्ग बना दिया। कालान्तर में जब जोसेफ को नेपिल्स से हटाकर स्पेन भेज दिया गया तो मूरा को नेपल्स का राजा बना दिया गया। प्रशा तथा अस्ट्रिया की शक्ति का उसने पूर्ण विनाश कर दिया था। डेनमार्क का राजा उसका प्रशंसक था। स्विट्जरलैण्ड में भी उसका प्रभाव था। पोप भी उसको अपना मित्र मानता था। सौभाग्यवश उसके कट्टर शत्रु इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री पिट की मृत्यु हो गई थी। इस प्रकार इंग्लैण्ड के अतिरिक्त समस्त यूरोप में उसका बोलबाला था।

3.4 सम्राट नेपोलियन का पतन :

सन् 1807 मे सम्राट नेपोलियन अपनी शक्ति के चरमोत्कर्ष पर था। नेपोलियन की टिलसिट की विजय एक महान् राजनैतिक विजय थी। किन्तु इसके बाद नेपोलियन के पतन के दिन शुरू हो गये। इंग्लैण्ड को पराजित करने के लिए नेपोलियन ने जिस महाद्वीपीय व्यवस्था का आयोजन किया वह उसके पतन का प्रमुख कारण बनी। महाद्वीपीय व्यवस्था असफल रही और फ्रांस का राजकोष खाली हो गया। फ्रांस के मित्र राज्य भी उसके विरोधी हो गए। नेपोलियन विनाशकारी युद्धों में उलझ गया और स्पेन तथा रूस मे फ्रांसीसी शक्ति का भारी विनाश हुआ। अक्टूबर 1813 के सब राष्ट्रों के युद्ध मे नेपोलियन की निर्णायक पराजय हुई। नेपोलियन अब भी अपने पतन को बचा सकता था, बशर्ते कि वह फ्रांस को अपनी प्राकृतिक सीमाओं को नाक पर अब भी फ्रांस के विशाल साम्राज्य का स्वप्न संजो रहा था। परिणाम बुरा निकला और चारों और से शुत्र राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति ने फ्रांस पर आक्रमण करके मार्च 1814 में फ्रांस की राजधानी पेरिस पर अधिकार कर लिया और अप्रेल में नेपोलियन को फ्रांस की गद्दी छोड़नी पड़ी। नेपोलियन को छोटे से एल्बा द्वीप में भेज दिया गया, किन्तु वह कुछ ही महीनों के बाद वहां से पुनः फ्रांस लौट आया और पेरिस पर कब्जा करके एक बार फिर फ्रांस का सम्राट बन गया। यूरोप के राजाओं ने पुनः संयुक्त होकर नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध छेड दिया और 18 जून, 1815 को वाटरलू के ऐतिहासिक मैदान में नेपोलियन को पूरी तरह परास्त होना पड़ा। 7 जुलाई, 1815 को मित्र राष्ट्रों की सेना ने पेरिस पर अधिकार जमा लिया और नेपोलियन पकड़ा गया। उसे दक्षिणी एटलांटिक महासागर के एक छोटे से द्वीप सेंट हेलना में निर्वासित कर दिया गया जहां लगभग एक वर्ष तक एक कैदी का जीवन बिताकर 5 मई, 1821 को वह इस संसार से विदा हो गया। नेपोलियन के पतन के इतिहास के मुख्य बिन्दु इस प्रकार है –

3.4.1 इंग्लैण्ड के विरूद्ध असफल महाद्वीपयी व्यवस्था :

इंग्लैण्ड की विशाल सामुद्रिक शक्ति के कारण उस पर आक्रमण करके उसे जीतना नेपोलियन के बूते से बाहर था। अतः उसने इंग्लैण्ड के व्यापार और व्यवहार को नष्ट कर देने का निश्चय किया ताकि इंग्लैण्ड घुटने टेक दे। इसके लिए उसने व्यापार बहिष्कार योजना अथवा महाद्वीपीय व्यवस्था चालू की। यूरोप बन्दरगाह ब्रिटिश जहाजों या ब्रिटिश माल लाने वाले जहाजों के लिए बन्द कर दिया गया। जब इंग्लैण्ड ने जवाबी कदम उठाया तो उसने आदेश निकाल दिया कि ब्रिटिश बन्दरगाह से होकर आने वाले किसी भी देश के जहाज को पकड़ा जा सकता है।

नेपोलियन ने महाद्वीपीय व्यवस्था पर बड़ी सख्ती से अमल किया। स्वीडन ने आना–कानी की जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपोलियन ने रूस को उकसाया कि वह फिनलैण्ड का प्रदेश स्वीडन से छीन ले। बाद में स्वीडन के राजा को गद्दी छोड़ देने के लिए विवश किया गया। हालैण्ड के राजा लुई बोनापार्ट ने, जो अपने भाई नेपोलियन से विमुख सा रहता था, योजना को लागू करने में असमर्थता प्रकट की तो उसे राज्यच्युत कर दिया गया और हालैण्ड को फ्रांस साम्राज्य में मिला लिया गया। रोम के पोप ने जब सब मामलों में उदासीन रहना चाहता तो नेपोलियन ने पोप का राज्य छीन कर इटली के साथ मिला दिया और जब पोप ने बदले में नेपोलियन को धर्म से बहिष्कृत कर दिया तो उसे नेपोलियन के कैदखाने की हवा खानी पड़ी, इसी प्रकार पुर्तगाल, स्पेन, रूस आदि से भी नेपोलियन के लिए बड़ा ही खतरनाक सिद्ध हुआ। 'स्पेनिक फोड़े' ने नेपोलियन की शक्ति को चूस लिया और रूस में नेपोलियन की विशाल सैन्य शक्ति का विनाश हुआ। फलस्वरूप उसका पतन अनवार्य हो गया। महाद्वीपीय व्यवस्था का उद्देश्य इंग्लैण्ड को घुटने टिकाना था, किन्तु यह एक ऐसी तोप सिद्ध हुई जिसने मुडकर अपने ही पक्ष पर गोले बरसाए। इस योजना को जबरदस्ती लागू

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करने के लिए नेपोलियन को अनेक लड़ाइया लडनी पड़ी जिनमें अपार धन व्यय हुआ यहां तक कि फ्रांस का खजाना खाली हो गया। उसके अधीनस्थ और मित्र राज्य भी उसके विद्रोही बन गए।

3.4.2 स्पेन में पराजय :

व्यापार बहिष्कार योजना अथवा महाद्वीपीय व्यवस्था का विरोध पुर्तगाल ने किया, अतः वह नेपोलियन के आक्रमण का शिकार बना। 30 नवम्बर, 1807 को पुर्तगाल का राज–परिवार ब्रिटिश जहाजी बेड़े के संरक्षण में ब्राजील भाग गया। इसके बाद नेपोलियन ने अपने मित्र देश स्पेन पर हाथ साफ किया। स्पेन के राजा चार्ल्स और उसके पुत्र फर्डिनेण्ड के मध्य विवाद था। नेपोलियन ने दोनों को स्पेन के राज–सिंहासन पर से अपने–अपने अधिकार छोड़ने को मजबूर किया और अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को स्पेन का राजा बना दिया। नेपोलियन के इस बन्दर न्याय से स्पेन की जनता में राष्ट्रीयता उमड़ पडी। अभी तक नेपोलियन राजाओं से लड़ा था, अब उसे जनता से समूचे राष्ट्र से लड़ना पड़ा। इंग्लैण्ड ने स्पेन की सहायता की। फ्रांसीसी पिरेनीज पर्वतमाकना के पार खदेड़ दिए गए। स्पेन की भूमि से शत्रुओं का सफाया कर दिया गया।

स्पेन के युद्ध ने अन्य देशों मे राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर दी। स्पेन का युद्ध एक ऐसा फोड़ा सिद्ध हुआ जिसने नेपोलयन को चूस डाला। उससे धन–सम्पदा का भारी विनाश हुआ। स्पेन की घटना से प्रोत्साहित होकर आस्ट्रिया ने नेपोलियन से अपना बदला लेना चाहा। आस्ट्रिया ने 15 अप्रैल, 1809 को नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी पर आस्ट्रिया की बुरी तरह हार हुई। वियना की सन्धि के लिए विवश होना पड़ा। जिसके अनुसार उसे अपने कुछ प्रदेश भी नेपोलियन को देने पड़े। नेपोलियन की व्यापार बहिष्कार योजना का पालन करने का भी उसको वचन देना पड़ा। बाद में आस्ट्रिया के सम्राट ने अपनी ही बटी मैरिया लुइसा का विवाह भी नेपोलियन के साथ कर दिया।

3.4.3 रूस में फ्रांसीसी शक्ति का विनाश :

नेपोलियन की व्यापार बहिष्कार योजना से रूस को भी नुकसान हो रहा था। फिर उक्त वैवाहिक सम्बन्ध से भी रूस के जार को बड़ा बुरा लगा। अब दोनों में तनातनी बढ़ गई। नेपोलियन ने 24 जून, 1812 इ. को 6 लाख सैनिक और एक हजार तोपें लेकर रूस पर आक्रमण कर दिया। रूसियों ने नेपोलियन को नहीं रोका। वे नगरों और सम्पत्ति को अपने हाथों से जलाते पीछे हटते गए। नेपोलियन राख के ढेरों को पार करते हुए आगे बढ़ता गया। बहुत अन्दर जाकर बोर्डिना में रूसी सेना से भयंकर युद्ध हुआ। रूसियों को पराजित होना पड़ा। 15 सितम्बर, 1812 इ. को नेपोलियन ने मास्को में प्रवेश किया पर रूसी इस नगर को भी भस्मीभूत कर पीछे जा चुके थे इस समय तक नेपोलियन के पास केवल एक लाख सैनिक रह गए थे। शेष पांच लाख सैनिक भूख, बीमारी, भंयकर मौसम और युद्ध के कारण मारे जा चुके थे। नेपोलियन बड़ी कष्टकर स्थिति में मास्को में 15 सितम्बर से 19 अक्टूबर तक रहा। अब रूस में भयंकर सर्दी का मौसम आ गया था अतः नेपोलियन ने लौटने में ही अपनी कुशलता समझी। सैनिक इतिहास में नेपोलियन की यह वापसी भी बहुत दुखद घटना है। भयंकर सर्दी, भोजन के अभाव और रूसियो के छापामार हमलों ने नेपोलियन की दुर्दशा कर दी। जब वह फ्रांस पहुंचा तो उसके साथ 6 लाख सैनिकों में से केवल 20 हजार ही वापस लौट सके थे। कुछ सैनिक टुकड़िया पीछे रह गई थी। लगभग एक लाख सैनिक रूसियों की कैद में थे।

3.4.4 सब राष्ट्रों का युद्ध :

इस भयंकर दुरव्यवस्था में भी नेपोलियन निराश नहीं हुआ। उसने पुनः एक विशाल सेना एकत्र की। उधर नेपोलियन के विरूद्ध यूरोपीय राज्यो का सुदृढ़ संगठित हो गया। इस गुट में इंग्लैण्ड, रूस, प्रशा और स्वीडन सम्मिलित हुए। छोटी–बड़ी लडाइयों के बाद 16 से 19 अकटूबर, 1813 ई. को लिपजिंग नामक स्थान पर यह भयंकर युद्ध लड़ा गया जो इतिहास में सब राष्ट्रों का युद्ध के नाम से विख्यात है। इस युद्ध में नेपोलियन की निर्णायक पराजय हुई। राइन नदी के पार भाग जाना पड़ा।

अब भी नेपोलियन का पतन बच सकता था, पर उसकी जिद्द उसके अन्त का कारण बनी। मित्रराष्ट्र नेपोलियन को गद्दी पर बने रहने के लिए तैयार थे वे इस बात के लिए भी राजी थे कि फ्रांस की सीमा प्राकृतिक सीमाओं तक रहे अर्थात् उत्तर मे राइन नदी तक, उत्तर पूर्व में आल्पस पर्वत तक और दक्षिण मे पिरेनीज पर्वतमाला तक, पर नेपोलियन ने इस शर्तों को ठुकरा दिया। नेपोलियन को एक फ्रांस का विशाल राज्य प्रस्तुत किया था पर उसे अब भी अपनी तलवार पर भरोसा था।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.5 फ्रांस पर आक्रमण एवं नेपोलियन का राज्यच्युत होना :

आखिर नेपोलियन के पतन के नाटक का अन्तिम दृश्य शुरू हो गया। सन् 1814 ई. के प्रारम्भ में रूस, आस्ट्रिया और प्रशा की चार लाख सेनाओं ने फ्रांस पर उत्तर से, और एक विशाल ब्रिटिश सेना ने दक्षिण से चढ़ाई कर दी। ब्रिटिश सेनाओं के साथ स्पेनिश व पुर्तगाली सेनाएं भी थी। इस विषम परिस्थिति में भी नेपोलियन ने अद्भुत साहस का परिचय दिया। नौ सप्ताह तक उसने विलक्षण रणकौशल के साथ शत्रु से लोहा लिया। अन्ततः 30 मार्च, 1814 ई. को मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का पेरिस पर अधिकार हो गया, 16 अप्रैल को विवश होकर नेपोलियन को फ्रांस की गद्दी छोड़नी पड़ी। उसने स्वीकार किया कि फ्रांस के राज–सिंहासन पर उसको कोई अधिकार नहीं है और न ही उसके परिवार था। फिर भी उसकी सम्राट की पदवी कायम रखी गई और उसे बारह लाख रूपया वार्षिक पेन्शन दे दी गई। उसे यह मानने के लिए भी बाध्य कर दिया गया कि वह एल्बा द्वीप में जाकर रहेगा।

3.6 ऐल्बा में नेपोलियन की सक्रियता :

'सम्राट नेपोलियन अब एल्बा द्वीप भेज दिया गया। यह छोटा सा द्वीप ही अब उसका साम्राज्य था पर नेपोलियन तो विचित्र मिट्टी का बना हुआ था, हार में भी जीत के सपने देखना उसकी प्रकृति थी। एल्बा में हारते हुए वह मित्रराष्ट्रों की प्रत्येक गतिविधि पर नजर जमाए रहा। मित्रराष्ट्रों ने लुई सौलहवें के भाई को लुई अठारहवें के नाम से फ्रांस का राजा बनाया। इस प्रकार बूर्बो वंश पुनः फ्रांस के सिहासन पर प्रतिष्ठित हो गया, लेकिन फ्रांस की जनता लुई के शासन से सन्तुष्ट नहीं हुई। उसके विरूद्ध असन्तोष बढ़ता गया। नेपोलियन ने इस स्थिति को अपने लिए शुभ समझा।

3.7 पेरिस की सन्धि :

जिस समय नेपोलियन को एल्बा द्वीप में निर्वासित कर दिया गया और 18वे लुई को फ्रांस की गद्दी पर बिठाया गया, उसी समय कुछ महत्वपूर्ण और आवश्यक मामलों का फैसला कर लिया गया। 30 मई, 1814 ई. को विजयी राष्ट्रों ने 18 वे लुई के साथ एक सन्धि की जो पेरस की सन्धि के नाम से विख्यात है। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस पर बूर्बो वंश के अधिकार को मान्यता दी गई और फ्रांस की सीमा वह निश्चित की गई जो 1 नवम्बर, 1792 के दिन की उस समय जो उपनिवेश फ्रांस के कब्जे में थे, वे भी उसे वापस लौटा दिए गए। नेपोलियन के भग्न साम्राज्य से नीदरलैण्ड के लिए राज्य का निर्माण किया गया। इसे हालेण्ड और बेल्जियम को मिलाकर बनाया गया। इस पर हालैण्ड के पुराने राजवंश के अधिकार को स्वीकार किया गयां स्विट्जरलैण्ड को स्वाधीन कर दिया गया। जर्मनी के विविध राज्यों का पुनरूद्धार किया गया। पेरिस की सन्धि मे इन विभिन्न एवं कुछ अन्य मोटी–मोटी बातों का फैसला किया गया। शेष बातें वियना कांग्रेस के लिए छोड़ दी गई।

3.8 वियना कांग्रेस :

सितम्बर, 1814 में इतिहास प्रसिद्ध वियना कांग्रेस प्रारम्भ हुई जिसमें यूरोप भर के राजनीतिज्ञ, शासक, कूटनीतिज्ञ एवं प्रतिनिधिगण सम्मिलित हुए। परन्तु उन्होने इतनी फूट और विवेकहीनता का परिचय दिया कि एल्बा मे बैठे नेपोलियन के फ्रांस लौटकर एक बार फिर सम्राट बनने का अवसर मिल गया। हेजन ने लिखा है कि 'वियना–सम्मेलन में एकत्रित होने वाले राजनेताओं ने भारी भूल की। लूट के माल का बंटवारा करने तथा यूरोप के भावी संगठन के सम्बन्ध में वे परस्पर झगड़ने लगे। उधर बूर्बो वंश ने, जिसे उन्होंने फ्रांस पर शासन करने के लिए पुनः स्थापित किया था, विवेकहीनता का परिचय दिया और गलतियां की। इन सबका फल यह हुआ कि नेपोलियन को अपने जीवन का सबसे अधिक दुस्साहपूर्ण और आश्चर्यजनक कार्य करने का अवसर मिल गया। नेपोलियन के इस कार्य से वियना कांग्रेस के कार्य में बाधा पड़ गई।

3.9 नेपोलियन फिर फ्रांस में :

अपने छोटे से राज्य एल्बा में मात्र दस महीने रहने के बाद नेपोलियन के 1300 सैनिकों के साथ चुपचाप बड़े नाटकीय ढंग से फ्रासं जा पहुंचा। लुई अठारहवें के शासन से निराश और असन्तुष्ट फ्रांस में नेपोलियन ने पुनः आगमन से एक नया उत्साह उमड़ पड़ा। जनता ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया और सेना भी उससे आ मिली। देखते–देखते ही नेपोलियन के पास एक विशाल सेना एकत्र हो गई। अब वह पेरिस की और बढ़ा। लुई अठारहवां फ्रांस छोड़कर भाग गया और नेपोलियन एक बार फिर फ्रांस का सम्राट बन गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.10 शतदिवसीय युद्ध :

इस घटना से सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी फैल गई। वियना कांग्रेस में सम्मिलित यूरोप के शासकों ने आपसी मतभेद भुलाकर एक बार फिर यूरोप की शान्ति भंग करने वाले नेपोलियन से निबटने का संकल्प किया। फलतः शत दिवसीय युद्ध आरम्भ हुआ। नेपोलियन ने प्रशा की सेना को लिग्नी नामक स्थान पर करारी हार दी।

3.11 वाटरलू का निर्णायक युद्ध :

प्रशा की सेना को पराजित करने के बाद नेपोलियन ब्रिटिश सेना को हराने के लिए बढ़ा। 18 जून, 1815 को वाटरलू के ऐतिहासिक मैदान में दोनो सेनाओं का निर्णायक युद्ध हुआ। ऐसा लगा कि ब्रिटिश सेना परास्त हो जाएगी, किन्तु तभी प्रशा का सेनापति ब्लूचर दूसरी ओर से आ धमका। नेपोलियन ब्रिटिश और प्रशियन सेनाओं के बीच फंस गया। वह पूर्ण रूप से परास्त होकर पेरिस वापस लौट आया।

3.12 नेपोलियन का अन्त :

मित्र राष्ट्रो की सेना भी उसका पीछा करते हुए जुलाई, 1815 को पेरिस पहुंच गई। नेपोलियन ने अमेरिका भाग जाना चाहा, पर ब्रिटिश जहाजी बेड़ा फ्रांस के समुद्र तट पर बड़े ध्यान से पहरा दे रहा था। आखिर नेपोलियन ने स्वयं को अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया। उसने घोषणा की मैं थेमिस्टोवलेस की भांति, ब्रिटिश राष्ट्र का आतिथ्य प्राप्त करने आया हूं, किन्तु अंग्रेजों ने उसे आतिथ्य प्रदान नहीं किया। वह कैद कर लिया गया और उसे दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर के एक छोटे से द्वीप सेंट हेलेना में भेज दिया गया। वहां 6 वर्ष तक उसने एक कैदी का जीवन व्यतीत किया। अन्त मे 5 मई सन 1821 को इसी द्वीप मे इस महान् योद्धा और विजेता की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय नेपोलियन की आयु केवल 51 वर्ष 9 महिने की थी। सेन्ट हेलेना में उसका एक साधारण पत्थर के नीचे दफना दिया गया, किन्तु 20 वर्ष बाद नेपोलियन तृतीय उसके अवशेषों को बड़े समारोह के साथ पेरिस लाया, जहां उन्हें एक विशाल समाधि मे दफनाया गया। सेन्ट हेलना में निर्वासनकाल मे नेपोलियन बोलनापाट ने अपना समय संस्मरण लिखने में व्यतीत किया। संस्मरणों में उसने स्वयं को क्रांति का पुत्र और दीन–दुखियों का सच्चा सेवक बताते हुए शान्ति का पुजारी माना है उसने लिखा है कि युद्ध के लिए तो उसको अंग्रेजों की कुटनीति तथा यूरोप के निरंकुश राजाओं की स्वेच्छाचारिता ने विवश किया था। अपने कैदी जीवन के सम्बन्ध में विषादपूर्ण शब्दों में उसने लिखा है – ''युद्ध मेरे आसपास अनेक सैनिक मरते थे, किन्तु ये दिन देखने के लिए वहां मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ।''

3.13 पैरिस की द्वितीय संधि :

पेरिस की प्रथम संधि के अनुसार फ्रांस का दमन नहीं किया गया था क्योंकि मित्र राष्ट्रों के अनुसार युग का उत्तरदायित्व फ्रांस पर नही वरन् नेपोलियन पर था और नेपोलियन के अपराध के लिए फ्रांस को दण्ड देना उचित नहीं था। लेकिन पेरिस की द्वितीय संधि के अनुसार फ्रासं का दमन करने का प्रयत्न किया गया गया क्योंकि जब नेपोलयन एल्बा के वापस लौटा था तो फ्रांस की जनता ने नेपोलियन का स्वागत किया था और फ्रासीसी सेना भ उसे आ मिली थी। पेरिस की द्वितीय सन्धि 20 नवम्बर, 1815 को हुई। इसके अनुसार निम्नलिखित मुख्य निर्णय किए गए –

1. लुई अठारहवें को, जो नेपालियन के एल्बा से लौटने पर फ्रांस छोड़कर भाग गया था, पुनः फ्रांस का सिंहासन दे दिया गया।

2. फ्रासं पर 70 करोड़ युद्ध के हर्जाने के रूप में लादे गए और यह व्यवस्था की गई कि जब तक फ्रान्स पूरा हर्जाना अदा नहीं कर दे तब तक फ्रांस में ड्यूक वेलिंग्टन के नेतृत्व मे एक लाख विदेशी सैनिक रहेंगे जिनका खर्च भी फ्रांस को उठाना पड़ेगा।

3. फ्रांस की वही सीमा निश्चित कर दी गई जो 1789 में थी।

4. नेपोलियन विदेशों से जो कलाकृतियां लाया था उन्हें वापस कर दिया गया।

3.14 नेपोलियम के पतन के कारण :

नेपोलियन का उदय युरोप में अभूतपूर्व घटना है। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर और एक साधारण सैनिक के रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में अपना जीवन प्रारम्भ कर वह फ्रांस का सम्राट बना गया – यह उसकी अद्वितीय प्रतिभा का परिचायक है, परन्तु उस महान् व्यक्ति का पतन भी अपना एक अलग ही इतिहास रखता है। आज नेपोलियन की जीवन लीला समाप्त किए 200 वर्ष से भी अधिक हो गये है। इस काल मे उसके जीवन पर पर्याप्त शोध–कार्य भी हुआ है, परन्तु यह सब होते हुए भी उसके संबंध मे उचित विचार करना आज भी कठिन प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थितियों में यह भी कहना कठिन है कि उस महान् व्यक्ति का पतन अमुक कारणों से हुआ। फिर भी उसके जीवन की घटनाओं के आधार पर हम उसके पतन के कारण अग्रलिखित समझते है –

3.14.1. नेपोलियन का महत्वाकांक्षी होना :

महत्वाकांक्षी होना कोई बुरी बात नहीं है। प्रत्येक महत्वाकांक्षी होता है और उसे होना भी चाहिए, पर नेपालियन ने इस गुण को असाधारण समझा कि उसके सामने अन्य प्रतिनिधि कुछ महत्व ही नहीं रखते थे। निःसन्देह उसने चालीस युद्ध किये और उन सब मे उसने अपनी असाधारण सैनिक योग्यता का प्रदर्शन किया, परन्तु उनमें प्राप्त विजयों का सारा श्रेय वह स्वंय ही प्राप्त करना चाहता था। अतः युद्ध समाप्ति पर जब वह अपने सैनिकों व सैनिक नायकों को सम्बोधित करता तो विजय का श्रेय वह स्वयं लेने का प्रयास करता था। इससे उसके निकटतम साथी भी उससे क्रुद्ध रहते थे।

3.14.2. नेपोलियन के साम्राज्य का शक्ति पर अवलम्बित होना :

निःसन्देह नेपालियन ने यूरोप में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, परन्तु उसका आधार उसकी एक मात्र शक्ति थी। शक्ति द्वारा प्राप्त वस्तु शक्ति के सहारे ही कायम रखी जा सकती है। जब तक नेपोलियन में ताकत रही उसका साम्राज्य बढ़ता रहा तथा वह कायम रहा, परन्तु रूस के अभियान से उसकी शक्ति का ह्रास होना आरम्भ हो गया और तभी से उसके साम्राज्य के शत्रु भी प्रबल हो गये। उसकी सैनिक शक्ति ज्यो–ज्यो क्षीण होने लगी, त्यों–त्यों उसका विशाल साम्राज्य विनाश के गर्त में निपातित होता ही चला गया। 1814 ई. में ऐसी परिस्थिति आ गई कि उसके प्रमुख सहायक तैलेरां ने ही उसे गद्दी से उतारने का प्रस्ताव रखा। यही बात वाटरलू के युद्ध के बाद हुई। जब उसने वाटरलू से पेरिस भागकर अपने राजतन्त्र को कायम रखने का प्रयास किया तो फुशे ने उसका विरोध किया। उनकी यह हिम्मत तभी तो हुई जबकि उन्होंने देख लिया कि अब यह शेर शक्तिहीन हो गया और अब वह हमें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सकता। यदि शक्ति के साथ–साथ नेपोलियन प्रजा में प्रेम व आस्था भी उत्पन्न करता तो सम्भव है कि उसका निर्मित साम्राज्य टिक जाता।

3.14.3. नेपोलियन की चारित्रिक दुर्बलताएं :

यह सत्य है कि नेपोलियन में अदम्य उत्साह था। वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एवं कूटनीतिज्ञ भी था पर इनके साथ ही उसमें कुछ कमियां भी थी। उसे क्रोध बहुत आता था और वह जल्दी ही आवेश में आ जाता था। उसकी दृष्टि में घृणा उसका धर्म, प्रतिशोध उसका कर्त्तव्य तथा क्षमा दान कलंक था। इसी कारण उसका व्यवहार विजित देशों के प्रति कभी अच्छा नहीं रहा। इस कारण विजित देश उसके शत्रु हो गये। इनके अलावा वह जिद्दी था। प्रोफेसर जे. हॉलैण्ड रोज का कहना है कि नेपोलियन का स्वभाव जिद्दी बन गया था जो उसके पतन का खास कारण बना। वह समझता था कि मै जो सोचता हूँ – ठीक है, मेरे निर्णय सदैव ठीक रहते है। अपने संबंधियों के प्रति उसका प्रतिमोह होना भी उसके पतन का कारण था। उसने अपने सब भाइयों को राजा बना दिया। इससे वह बदनाम हो गया। यदि जोसफ को वह स्पेन का राजा नहीं बनाता तो प्रायद्वीप युद्ध क्यों होते और उसका पतन क्यों होता? इनके अलावा वह विलासी भी था। उसमें यह अवगुण उसके दूसरे विवाह के उपरान्त अधिक प्रबल हो गया। आस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह कर वह प्रशासनिक कार्यों के प्रति दिन पर दिन उदासीन रहने लगा। जो नेपोलियन दिन–रात काम करता था और मन्त्रियों से आठ या दस घण्टे मन्त्रणा करता रहता था, वह अब कुछ घण्टे भी काम नहीं करता था। इसका उसके प्रशासन व समीप के सहयोगियों पर बुरा प्रभाव पड़ा।

3.14.4. नेपोलियन का कल्पनाशील होना :

नेपोलियन एक सैनिक था, न कि दार्शनिक। सैनिक कभी कल्पना की उड़ान नही उड़ता। वह जो भी सोचता है वह बिल्कुल सही होता है। नेपोलियन ने रूस–अभियान में कल्पना का सर्वाधिक सहारा लिया। वह रूस में आगे बढ़ता गया और सोचता गया कि रूस की सेनाएं यहां अवश्य लड़ने आवेंगी। इसके विपरीत रूस की सेनाएं पीछे हटती गई और यहां तक कि जार ने नेपोलियन को मास्को तक मार्ग खुला छोड़ दिया। वहां भी वह कल्पना ही करता रहा। चार दिन तक मास्को अग्नि मे जलता रहा तब भी उसने रूस से लौटने का इरादा नहीं किया और जब लौटा तो सर्दी में लौटा। उस समय उसके लाखों सैनिक सर्दी व मार्ग की अन्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कठिनाइयों से मारे गये। स्पेन में भी उसने कल्पना का सहारा लिया। जब वह स्वयं वहां शान्ति स्थापित करके वहां के लोगो को भयभीत करके पेरिस लौटा तो उसकी कल्पना थी कि स्पेन अब पूर्णत: उसके अधिकार में आ गया है, परन्तु परिणाम इसके विपरीत रहा। वह स्पेन के युद्ध को स्वतन्त्रता का युद्ध न समझकर उसे लुटेरों का संघर्ष समझता रहा। इसी कारण वही स्पेन आगे चलकर उसके पतन का प्रमुख कारण बन गया। एल्बा से वह जब भागकर पेरिस आया तब भी वह इस कल्पना के साथ आया था। उसने सोचा कि मित्र–राष्ट्रों में अब वाद–विवाद आरम्भ हो गये है और वह उनमें चलता रहेगा। उनके इस वाद–विवाद में मै पुन: फ्रांस का सम्राट बन जाऊँगा। उसने इसके साथ ही यह सोचने का प्रयास नहीं किया कि जब मित्र राष्ट्रों ने मुझे परास्त करने के लिए चार–चार बार संघ बनाये और वह संघ आज भी अस्तित्व में है तो वे मुझे किस प्रकार फ्रांस का सम्राट बना रहेंने देंगे।

3.14.5. समय व्यर्थ गंवाना :

नेपोलियन के दैनिक जीवन से ज्ञात होता है कि वह समय का बड़ा पाबन्द था तथा समय कभी व्यर्थ नहीं गंवाता था। भोजन पर भी केवल 15 मिनट में कर लिया करता था और उसके साथियों को टेबल पर ही छोड़ दिया करता था, परन्तु उसने दो सैनिक अभ्यासों में समय व्यर्थ नष्ट किया। उनमें प्रमुख रूस का अभियान था। यदि वह रूस में समय व्यर्थ नहीं खोता तो उसकी शक्ति का विनाश नहीं होता। मास्को में उसने हफ्ते गुजार दिए और उधर सर्दी का प्रकोप बढ़ता रहा। उसने यह नहीं देखा कि मेरे सैनिकों के पास केवल गर्मी के वस्त्र है। वे यहां की कड़ी सर्दी का मुकाबला कैसे करेगे ? इसके साथ ही उसने यह भी नहीं विचारा कि राजधानी से अधिक समय तक अनुपस्थित रहने पर वहां क्या परिस्थिति हो सकती है ? अन्त में रूस से पेरिस वह तब ही आया जबकि उसे यह ज्ञात हुआ कि स्पेन में मेरे विरूद्ध बगावत हो रही है। दूसरी घटना है, वाटरलू के युद्ध को 18 जून, 1815 के युद्ध में नेपोलियन के प्रात: काल के चार घण्टे व्यर्थ गंवा दिए। यदि वह युद्ध 11 बजे प्रारम्भ न करके प्रात: 7 बजे ही आरम्भ कर देता तो उसके जीतने की बहुत कुछ सम्भावना थी क्योकि ब्लजूचर वहां सेना लेकर सांय 4 बजे पहुंचा था। उसके आने तक वेलिंगटन ने युद्ध केवल सुरक्षात्मक लड़ा था। यहां के चार घण्टे उसको सर्वदा के लिए ले बैठे। उसके भाग्य का सूर्य सदैव के लिए अस्त हो गया।

3.14.6. उसके धार्मिक सुधार व पोप के साथ उसका व्यवहार :

उसने अपने कौसल काल में जो धार्मिक नीति अपनाई, वह वास्तव मे प्रशंसनीय एवं देश के लिए हितकारी थी। उससे देश मे शान्ति स्थापित हुई तथा देश के अधिकांश लोग उससे सन्तुष्ट भी हो गये थे। इसके साथ ही जो गत कई वर्षो से पोप के साथ उसके सम्बंध विच्छेद हो गये थे, वे उसने सुधारे और यहां तक कि पोप को अपने राज्याभिषेक के अवसर पर उसने पेरिस बुलाया भी, परन्तु इसके बाद उसने पोप से सम्बंध बिगाड़ लिए। राज्याभिषेक के अवसर पर उसने उसके हाथ से ताज भी धारण नही किया। उसे राज्य को उसने अधीन कर लिया। यहां तक कि रोम को भी उसने नहीं छोड़ा। उसकी इस नीति से पोप का उससे नाराज होना स्वाभाविक था। पोप के नाराज होने से यूरोप के समस्त कैथोलिक उससे नाराज हो गये। पोप ने यूरोप के कैथोलिक राज्यों व कैथोलिक अनुयायियों को नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध करने को प्रोत्साहित किया।

3.14.7. उसकी महाद्वीपय व्यवस्था :

नेपोलियन का यह सोचना तो सर्वथा उचित था कि इंग्लैण्ड के घुटने टिकाने के लिए उसके व्यापार पर प्रहार करना चाहिए। उसके व्यापार के विनाश के लिए उसने इस व्यवस्था को जन्म दिया, परन्तु इस व्यवस्था के लागू करने से इंग्लैण्ड को उतनी आर्थिक हानि नहीं हुई, जितनी आर्थिक हानि नेपोलियन को इसे मनवाने व दूसरे देशो से युद्ध करने में हुई। नेपोलियन ने अब इस व्यवस्था को कठोरता से यूरोप में लागू करना चाहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे रूस से युद्ध करना पड़ा तथा पुर्तगाल के राजवंश को पदच्युत करना पड़ा। इन दोनों देशों से युद्ध करना ही उसे घातक सिद्ध हुआ। रूस के दूसरे युद्ध ने उसकी सारी शक्ति को मिट्टी मे मिला दिया तथ पुर्तगाल ने प्रायद्वीप युद्धों को जन्म दियां इन युद्धो से इंग्लैण्ड की सेना पुर्तगाल व स्पेन में उतर आई और इंग्लैण्ड की सेना ने फ्रांस की सेना को स्पेन से खदेड़ दिया। प्रशासन भी चौथे संघ में इसलिए उन लोगो ने अपने सम्राट को नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध छेड़ने को बाध्य किया। यहां तक कि उसका भाई लुई नेपोलियन भी इस व्यवस्था के कारण उसका विरोधी बन गया था।

3.14.8. नेपोलियन का अधिनाकयवाद :

नेपोलियन एक असाधारण शक्ति, प्रतिभा व निर्भीक चरित्र का व्यक्ति था। नि:सन्देह उसके इन गुणों ने उसको उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुंचाया था, परन्तु वह ज्यो–ज्यो उत्कर्ष को प्राप्त होता गया, उसमे निरंकुशता घर करती गई और इस निरंकुशता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का अन्तिम सोपान होता है अधिनायकवाद। निरंकुशता से भय उत्पन्न किया जा सकता है लेकिन जनता में भक्ति व निष्ठा नहीं। भय के माध्यम से केवल आज्ञा का पालन कराया जा सकता है। इस पर नेपोलियन की प्रशासन व्यवस्था तो अत्यधिक निरंकुशता पर आधारित थी। वह व्यवस्था एक व्यक्ति पर ही अत्यधिक अवलम्बित थी और वह व्यक्ति था नोपोलियन। यूरोप का इतिहास बताता है कि दीर्घकाल तक कभी यूरोप के देश एक व्यक्ति की निरंकुशता से शाति नही हुए। इसका अन्त बुरा ही होता है और वही नेपोलियन के साथ हुआ।

3.14.9. नेपोलियन की सैनिक व्यवस्था :

सैनिक व्यवस्था मे सेना का प्रभुत्व रहता है और उसके प्रभुत्व का परिणाम होता है, सतत् युद्ध व विजय करते रहना। कोई शासक व अधिनायक आजन्म अपने दो को युद्ध में निरत् नहीं रख सकता है। ज्यों ही सैनिक व्यवस्था पर आधारित देश अपनी युद्ध प्रकृति को समाप्त करता है कि उसकी सेना विद्रोह करती है स्वयं नेपोलियन लगातार युद्ध करने से उकता गया था, परन्तु उसकी विशाल सेना उसे ऐसा करने को बाध्य करती थी। यदि वह शान्ति स्थापित कर लेता तो उसकी विशाल सेना का क्या होता ?

3.14.10 राष्ट्रीय भावना का प्रसार :

नेपोलियन के विजित देशों मे जो राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ, वह भी उसके पतन का एक प्रमुख कारण बन गया। ज्यों–ज्यों नेपोलियन अपने साम्राज्य का विस्तार करता गया, फ्रांस की राज्य–क्रांति के सिद्धान्त (समानता, स्वतन्त्रता बन्धुत्व की भावना) उन देशों में प्रसारित होते गये। इसका परिणाम यह निकला कि उन देशों में राष्ट्रीय–भावना का प्रसार होने लगा। उन देशों में राष्ट्रीय भावना ज्यों–ज्यों प्रबल होती गई वहां के लोगो के दिलो में नेपोलियन के प्रशासन के विरूद्ध घृणा फैलती गई। इसके प्रतिकार में नेपोलियन ने जनसाधारण में बलवती हुई राष्ट्रीय भावना को कुचलने का प्रयास किया। हेजन के शब्दों में, ''उस समय विश्व–इतिहास की एक धारा नेपोलियन की योजना और नीति के विरूद्ध जा रही थी और वह थी राष्ट्रीयता का सिद्धान्त।'' नेपेलियन ने इस भावना का तिरस्कार किया किन्तु अन्त में यह तिरस्कृत भावना ही उसके पतन का प्रमुख कारण बनी। उदाहरणार्थ हम प्रशा व स्पेन को ही ले सकते है।

3.14.11. फ्रांस की आर्थिक अवस्था :

निःसन्देह नेपोलियन के आर्थिक–सुधारो से फ्रांस की आर्थिक अवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ था और जब नेपोलियन ने गद्दी का परित्याग किया तो फ्रांस पर ऋण नहीं था, परन्तु उसके लगातार युद्धों व महाद्वीप व्यवस्था से देश की आर्थिक अवस्था सोचनीय हो गई और उसके समाधान के लिए सम्राट बनने के बाद वह समय नही निकाल सका। इस कारण, फ्रांस की आर्थिक अवस्था दिन पर दिन दयनीय होती गई। स्वयं नेपोलियन ने स्वीकार किया है कि सेना पेट के सहारे आगे बढ़ती है। यह जानते हुए भी वह फ्रांस की अर्थ–व्यवस्था को सुधारने के लिए कुछ नही कर सका। इसके विपरीत सम्राट बन जाने के बाद वह अपना जीवन राजसी ठाट से व्यतीत करने लगा, जिससे राजकीय खर्च में आशातीत वृद्धि हो गई। कैटलबी उसके समय की आर्थिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखता है– ''आर्थिक और सामाजिक चक्र मे घुसी फ्रांस की जनता इतनी क्षुब्ध और अधीर हो गई थी कि उसमें विद्रोह की भावनाएं जागृत हो उठी।''

3.14.12. समुद्र पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्व :

इंग्लैण्ड की प्रबल सामुद्रिक शक्ति नेपोलियन के पतन का प्रमुख कारण बनी। यदि फ्रांस व इंग्लैण्ड के बीच इंग्लिश चैनल नहीं होती तो नेपोलियन अन्य देशों की भांति इग्लैण्ड पर भी आक्रमण कर देता और अपनी विशाल सेना के सहारे उसे परास्त कर देता। इंग्लैण्ड की थल सेना फ्रांस की थल सेना से निर्बल थी, परन्तु उसकी नौ–सेना फ्रांस से कहीं अधिक प्रबल थी। इसी कारण फ्रांस इंग्लैण्ड को समुद्र पर कहीं भी परास्त नहीं कर सका। इंग्लैण्ड ही उसका कट्टर शत्रु था। आस्ट्रिया को नेपोलियन ने चार बार परास्त किया रूस को दो बार तथा प्रशा को परास्त कर उसे यूरोप में तीसरी श्रेणी का दो बना दिया था, परन्तु इंग्लैण्ड से उसने विजय नही पायी। इंग्लैण्ड इसके विरूद्ध संघ बनाता रहा और अन्त में इंग्लैण्ड ने ही नेपालियन के भाग्य के सूर्य को सदैव के लिए पश्चिम दिशा में लुप्त कर दिया। इसके अलावा फ्रांस की महाद्वीपीय व्यवस्था भी असफल इंग्लैण्ड की जन शक्ति के कारण ही हुई, जिसकी असफलता से नेपोलियन का पतन समीप आ गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.14.13. स्पेन के साथ संघर्ष :

स्पेन का राजा नेपोलियन का मित्र था, परन्तु नेपोलियन की साम्राज्यावादी भावना इतनी प्रबल हो गई थी कि वह फ्रांस का साम्राज्य येन–केन प्रकारेण बढ़ाना चाहता था। उसने स्पेन के गृह–कलह से लाभ उठाते हुए वहां का शान अपने भाई जोसफ को बना दिया। इसके लिए उसने स्पेन के सम्राट व राजकुमार को बेयोन बुलाया। उनके साथ उसने विश्वासघात करके स्पेन को अपने प्रभाव मे कर लियां सम्राट के साथ विश्वासघात करने के अलावा उसने उसका घोर अपमान भी किया। इससे वहां की जनता नेपोलियन के विरूद्ध हो गई। वे लोग राष्ट्रीय भावना से इतने ओत–प्रोत हो गये कि उन्होंने जोसफ की स्पेन में दाल नहीं गलने दी और उसे दो बार मैड्रिड छोड़ने को बाध्य कर दिया। यहां नेपोलियन को अपनी काफी सेना खपानी पड़ी और अन्त में परिणाम निराशजनक ही रहे। इसीलिए अन्त में नेपोलियन स्वयं ने यह स्वीकार किया था कि स्पेन के फोड़े ने उसका सर्वनाश कर दिया।

3.15 नेपोलियन का मूल्यांकन :

निःसन्देह नेपोलियन क्रांति की उपज था। फ्रांस की राज्य–क्रांति ने जो असाधारण और अद्‌भुत शक्ति उत्पन्न की थी, उससे सर्वाधिक प्रभावित नेपोलियन ही कहा जा सकता है। फ्रांस के साम्राज्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने वाला व समस्त यूरोप को पदाक्रान्त करने वाला नेपोलियन ही था। निःसन्देह वह एक साधारण कुल में जन्मा था और एक साधारण सैनिक से जीवन प्रारम्भ कर वह फ्रांस का सम्राट बना था, परन्तु इसका अर्थ यह नही था कि वह एक अलौकिक पुरूष था। देखा जाये तो इतिहास में कोई भी व्यक्ति अलौकिक नहीं होता। सब अपनी परिस्थितियों की उपज होते है।

अतः हम उस महान् विजेता तथा फ्रांस को नवीन स्वरूप प्रदान करने वाले नेपोलियन के सम्बन्ध में जो कुछ भी यहां लिखेंगे, वह सब कुछ उसके सेना–अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित होने से फ्रांस का सम्राट बन जाने तक के समय में उसे मिली सफलताओं के आधार पर ही होगा। उसके सत्ता में आने के समय फ्रांस में नवीन युग का सृजन हो रहा था। समानता के आधार पर सबको समान समझा जा रहा था। वहां अत्याचारी सामन्तों की समाप्ति हो रही थी, पर सम्राट बनते ही उसने रूसों व माण्टेस्क्यू के सिद्धान्तों को ताक में रख अपनी इच्छा को ही कानून का रूप दे दिया। निःसन्देह उसमे निरंकुश लुई चौदहवें के कई अवगुण आ गये थे, पर फिर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भी उसकी बहुमुखी प्रतिभा व उसकी आत्मविश्वासी निर्भकता के कारण यूरोप की राजनीति उसकी अंगुलियों पर नाचती थी तथा फ्रांसीसी उसे देव–तुल्य पूजने लग गये थे। इससे स्पष्ट है कि वह अपने युग का एक महान् व्यक्ति था।

3.16 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – नेपोलियन को प्रथम कौसिल के रूप मे कब चुना गया ?

(अ) 1804 ई. (ब) 1801 ई.

(स) 1802 ई. (द) 1803 ई.

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – वियना कांग्रेस पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – नेपोलियन के उत्कर्ष से लेकर पतन को विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 4
वियना सम्मेलन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.0 भूमिका
4.1 नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप की समस्याएं
4.2 वियना कांग्रेस
4.3 वियना कांग्रेस के प्रतिनिधि
4.4 वियना कांग्रेस की प्रमुख समस्याएं
4.5 कांग्रेस की कार्य प्रणाली
4.6 कांग्रेस के आधारभूत सिद्धान्त
4.6.1. वैधता का सिद्धान्त
4.6.2. शक्ति संतुलन का सिद्धान्त
4.6.3. पुरस्कार एवं क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त
4.7 कांग्रेस के अन्य निर्णय
4.8 वियना कांग्रेस के कार्यो की समीक्षा
4.8.1. राष्ट्रीयता की भावनाओं की उपेक्षा
4.8.2. जनमत की अवहेलना
4.8.3. प्रतिक्रियावादी नीति का प्रभाव
4.8.4. क्रांति की भावना की उपेक्षा
4.8.5. निर्णयों की अपूर्णता
4.9 वियना सम्मेलन का महत्व
4.10 बोध प्रश्न :

4.0 भूमिका :

फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप यूरोपीय राजनैतिक मंच पर महान परिवर्तन हुए। इस परिवर्तित राजनैतिक रंगमंच पर फ्रांसीसी क्रांति के पुत्र नेपोलियन प्रथम ने अत्यन्त ही मोहक अभिनय किया। उसने यूरोप की पुरानी सीमा व्यवस्था को अपनी सुविधानुसार परिवर्तित करके यूरोप के पुराने मानचित्र को ही बदल दिया। इस प्रकार 1811 ई. तक यूरोप पर सर्वत्र नेपोलियन का प्रभुत्व छा गया। किन्तु 1812 ई. के रूस अभियान की असफलता के परिणामस्वरूप उसकी शक्ति को गहरा धक्का लगा। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा ने उसके विरूद्ध मुक्ति युद्ध प्रारम्भ कर दिया। 16 से 19 अक्टूबर, 1813 ई. को लाइपजिंग नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ, जो इतिहास में सब राष्ट्रों का युद्ध के नाम से विख्यात है। इस युद्ध में नेपोलियन बुरी तरह परास्त हुआ तथा उसे राइन नदी के पार भाग जाना पड़ा। नेपोलियन का पतन अब भी बच सकता था। मित्र राष्ट्र (रूस, आस्ट्रिया व प्रशा) नेपोलियन को इस शर्त पर गद्दी पर बने रहने देने पर तैयार थे कि वह फ्रांस की प्राकृतिक सीमाओं तक रहे अर्थात उत्तर में राइन नदी तक, उत्तर–पूर्व में आल्पस की पहाड़ियों तक तथा दक्षिण में पिरेनीज पर्वतमाला तक। किन्तु ऐसी विषम स्थिति में भी उसने मित्र राष्ट्रों के समझौते के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अतः नेपोलियन के पतन के नाटक का अन्तिम दृश्य प्रारम्भ हो गया। मित्र राष्ट्रों ने नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध जारी रखा। 1 मार्च 1814 ई. को रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व इंग्लैण्ड ने संधि द्वारा नेपोलियन से पृथक रूप से संधि न करने का वचन दिया। तत्पश्चात् मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का पेरिस पर अधिकार हो गया। 6 अप्रैल को विवश होकर नेपोलियन को फ्रांस की गद्दी छोड़नी पड़ी। उसने स्वीकार किया कि फ्रांस के राज सिंहासन पर उसका कोई अधिकार नहीं है और न ही उसके परिवार का। फिर भी उसकी शान रखने के लिये उसकी 'सम्राट' की उपाधि कायम रखी गई तथा उसे 12 लाख रूपया वार्षिक पेंशन दे दी गई। उसे यह मानने के लिये भी बाध्य कर दिया गया कि वह एल्बा द्वीप में जाकर रहेगा। मित्र राष्ट्रों ने लुई 18वें को फ्रांस का सिंहासन दिया। इस प्रकार बुर्बो वंश पुनः फ्रांस के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गया।

नेपोलियन को एल्बा द्वीप मे निर्वासित करने तथा लुई 18वे को फ्रांस की गद्दी पर बैठाते समय 30 मई 1814 को विजयी राष्ट्रों ने लुई 18वें के साथ एक सन्धि की, जो पेरिस की प्रथम सन्धि कहलाती है। इस संधि के अनुसार फ्रांस व बुर्बो वंश का अधिकार स्वीकृत किया गया तथा फ्रांस की वह सीमा निश्चित की गई जो 1 नवम्बर 1792 के दिन थी अर्थात नेपोलियन द्वारा विजित बेल्जियम, इटली, जर्मनी, हालैण्ड आदि प्रदेश उसे छोड़ने पड़े। पेरिस की संधि द्वारा महत्वपूर्ण समस्याओं का तो समाधान कर दिया गया किन्तु शेष विवादग्रस्त एवं अन्य समस्याओं का समाधान करने के लिये वियना मे एक सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। वियना को सम्मेलन का मुख्य केन्द्र बनाने के दो कारण थे। प्रथम यह कि आस्ट्रिया नेपोलियन के विरूद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था और दूसरा यह कि वियना यूरोप के मध्य में स्थित तत्कालीन यूरोपीय सभ्यता का प्रमुख केन्द्र है।

सितम्बर 1814 मे इतिहास प्रसिद्ध वियना कांग्रेस आरम्भ हुई जिसमे टर्की को छोड़कर यूरोप के सभी राज्यों के शासक अथवा उनके प्रतिनिधि सम्मिलित होने वाले राजनेताओ ने भारी भूलें की तथा लूट के माल का बंटवारा करने तथा यूरोप के भावी संगठन के सम्बन्ध में वे परस्पर झगड़ने लगे। उधर बुर्बो वंश ने जिसे फ्रांस पर शासन करने के लिये पुनः प्रतिष्ठित किया गया था, विवेकहीनता का परिणाम दिया। इन सभी का परिणाम यह हुआ कि नेपोलियन को अपने जीवन का सम्बन्ध अधिक दुस्साहसपूर्ण और आश्चर्यजनक कार्य करने का अवसर मिल गया। नेपोलियन के इस कार्य से वियना कांग्रेस के कार्य में बाधा उत्पन्न हो गई।

अपने छोटे से राज्य एल्बा में मात्र दस महिने रहने के बाद नेपोलियन अपने 1300 सैनिकों के साथ बड़े ही नाटकीय ढंग से फ्रांस आ पहुंचा। लुई 18वें के शासन से निराश और असन्तुष्ट फ्रांस की जनता ने उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया तथा सेना भी उससे आ मिली। देखते ही देखते नेपोलियन के पास एक विशाल सेना एकत्रित हो गयी और वह सेना को लेकर पेरिस की और बढ़ा। लुई 18वां फ्रांस छोड़ कर भाग गया। नेपोलियन एक बार पुनः फ्रांस का सम्राट बन गया। इस घटना से समस्त यूरोप में सनसनी फैल गई। वियना कांग्रेस में सम्मिलित यूरोप के शासकों ने आपसी मतभेद भुला कर एक बार फिर यूरोप की शांति भंग करने वाले नेपोलियन से निपटने का निश्चय किया। फलतः सौ दिवसीय युद्ध आरम्भ हुआ। 18 जून 1815 को वाटरलू के ऐतिहासिक मैदान में निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें परास्त होकर नेपोलियन पेरिस की और लौट गया। मित्र राष्ट्रों की सेनाएं उसका पीछा करती हुई 7 जुलाई 1815 को पेरिस पहुंच गई। नेपोलियन ने अमेरीका की और भागना चाहा, किन्तु ब्रिटिश जहाजी बेड़ा फ्रांस के समुद्र तट पर सतर्कता से पहरा दे रहा था। अन्त में नेपोलियन ने आत्म समर्पण कर दिया। वह कैद कर लिया गया और उसे दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर के एक छोटे से द्वीप सेन्ट हेलना मे भेज दिया गया। वहां उसने 6 वर्षों तक एक कैदी का जीवन व्यतीत किया तथा अन्त में 5 मई 1821 को इसी द्वीप में इस महान विजेता की मृत्यु हो गई।

Jagadguru Vishwa Bharati Institute (Deemed University)

4.1 नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप की समस्याएं :

नेपोलियन के कार्यों का जिस प्रकार यूरोप के सभी राष्ट्रों पर प्रभाव पड़ा था, उसी प्रकार उसके पतन का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वस्तुतः नेपोलियन के पतन से यूरोप में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं इन समस्याओं ने यूरोप के विजित राष्ट्रों को चिंतित कर दिया था। प्रसिद्ध विद्वान शूमैन ने लिखा है कि ''वाटरलू के मैदान में जिन राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई थी वे क्रांति के विरूद्ध प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। जो व्यवस्था बर्बाद हो चुकी थी, उसको सुरक्षित रखने के लिये वे कटिबद्ध थे। यद्यपि नेपोलियन का पतन हो चुका था, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना लोगों में नवजीवन का संचार कर रही थी। एकतन्त्र की जगह लोकतन्त्र प्रबल हो रहा था। ये सभी प्रवृत्तियां फ्रांस की राज्य क्रांति की उपज थी। 1792 से 1815 तक के विरूद्ध जिन मित्र राष्ट्रों का गुट बना था, वे राष्ट्र इन प्रवृत्तियों का दमन कर पुनः एकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। अतः सभी विजयी मित्र राष्ट्रों के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि किन उपायों द्वारा क्रांति की भावना का दमन किया जा सकता है।

नेपोलियन ने अनेक पुराने राजवंशो को नष्ट कर दिया था तथा उन पर नेपोलियन के सम्बन्धी अथवा सेनापति शासन कर रहे थे। नेपोलियन के पतन के बाद समस्या यह थी इन विविध राज्यों में कैसी शासन व्यवस्था स्थापित की जाये। यद्यपि क्रांति की भावना को कुचलने के लिये तो सभी मित्र राष्ट्र सहमत थे, किन्तु इन राज्यों में शासन व्यवस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में मतभेद था। ये सभी राष्ट्र साम्राज्यवादी और स्वार्थी थे तथा नेपोलियन के पतन से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्य सिंहासनों के सम्बन्ध में विभिन्न राजवंशो के दावो पर भी गम्भीर विचार करना था तथा यह भी निर्णय देना था कि किस दावेदार को कौनसा राज्य प्रदान किया जाये। फ्रांस की राज्य क्रांति के फलस्वरूप फ्रांस और पश्चिमी यूरोप के अधिकांश प्रदेशों में प्राचीन चर्च व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो चुकी थी। नेपोलियन ने चर्च को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन कर दिया था। पोप को कैद कर उसके राज्य पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, जिससे चर्च का प्राचीन गौरव समाप्त हो चुका था। मित्र राष्ट्रों के समक्ष चर्च की पुनर्व्यस्था का भी प्रश्न था, ताकि चर्च पुनः अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सके।

इस सभी समस्याओं के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि किन उपायों से यूरोप में पुनः युद्ध की सम्भावना को टाला जा सकता है ? नेपोलियन के निरन्तर युद्धों से यूरोप बर्बाद हो चुका था। युद्ध से त्रस्त राज्य अब शांति चाहते थे। मित्र राष्ट्रों का यह विचार था कि यूरोपीय राष्ट्रों के जिस गुट ने नेपोलियन को परास्त किया था, उस गुट को यदि कायम रखा जाय तो भविष्य में युद्ध की सम्भावनओ को टाला जा सकता है।

4.2 वियना कांग्रेस :

इन समस्याओं की पृष्ठभूमि में वियना कांग्रेस का यह सम्मेलन सितम्बर 1814 मे प्रारम्भ हुआ। किन्तु एल्बा से नेपोलियन के पुनः फ्रांस आगमन के कारण सम्मेलन की कार्यवाही में बाधा उत्पन्न हो गयी। मित्र राष्ट्र अपने पारस्परिक मतभेद भुला कर यूरोप की शांति भंग करने वाले नेपोलियन के विरूद्ध एक हो गये। वाटरलू के युद्ध में 18 जून 1815 को नेपोलियन का अन्तिम रूप से पतन हुआ तथा दूसरी और युद्ध से कुछ ही दिन पूर्व 9 जून 1815 को कांग्रेस ने अपने निर्णयों पर हस्ताक्षर कर दिये। वियना कांग्रेस के इन निर्णयों से ही 19 वीं शताब्दी की यूरोपीय राज्य व्यवस्था की आधारशिला रखी गई।

4.3 वियना कांग्रेस के प्रतिनिधि :

वियना सम्मेलन यूरोप के इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इतिहास में इससे पहले कभी प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों का इतना विशाल सम्मेलन नही हुआ था। टर्की को छोड़कर यूरोप के अन्य सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधियो ने इसमे भाग लिया था। इसके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या मे पत्र प्रतिनिधि, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, धर्मगुरू, कुलीन आदि सम्मिलित हुए थे। इसमे आस्ट्रिया के सम्राट, रूस के जार तथा प्रशा, डेनमार्क, बुर्टनबर्ग व बवेरिया के शासक सम्मिलित हुए। पोप का प्रतिनिधित्व कार्डिनल साल्वे, ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व वहां के विदेशी मन्त्री केसलरे एवं ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने किया। फ्रांस की और से प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ तैलेरा को भेजा गया। आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिख को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। यद्यपि निरन्तर युद्धों के कारण आस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी फिर भी सम्राट फ्रांसिस तथा प्रधान मंत्री मेटरनिख ने आमन्त्रित अतिथियों को शानदार भोज तथा नृत्य आदि के कार्यक्रमों से आत्मविभोर कर दिया। इन अतिथियों पर आस्ट्रिया की सरकार का लगभग 8 लाख पौड व्यय हुआ। यद्यपि सम्मेलन में भाग लेने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वाले राजनीतिज्ञों की संख्या अधिक थी, फिर भी चार बड़े विजयी राज्यों अर्थात् ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रूस तथा प्रशा को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ तथा कुछ समय पश्चात् फ्रांस भी बड़े राज्यों की समिति का सदस्य बन गया। इन पांचों राज्यों के प्रमुख प्रतिनिधियों एवं उनकी नीति की जानकारी प्राप्त करना समीचीन होगा।

4.4 वियना कांग्रेस की प्रमुख समस्याएं :

वियना कांग्रेस के समक्ष अनेक महत्वपूर्ण एवं गम्भीर समस्याएं थी जिनका समाधान आवश्यक था। ये समस्याएं निम्नलिखित थी –

1. फ्रांस की क्रांति एवं नेपोलियन के युद्धों के फलस्वरूप यूरोप का राजनैतिक मानचित्र अस्त–व्यस्त हो चुका था। अनेक छोटे–बड़े राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया था और उन्हें फ्रांस के अधीन कर दिया गया था। आस्टरलिज के युद्ध के बाद ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री पिट ने कहा था, ''यूरोप के मानचित्र को बन्द कर दो। अगले दस वर्ष तक इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।'' अतः अब वियना कांग्रेस के समक्ष समस्या यह थी कि इन पुराने राज्यों एवं राजवंशों की पुनर्स्थापना किस प्रकार की जाय तथा उसका स्वरूप क्या हो ?

2. पेरिस की प्रथम सन्धि (30 मई 1814 ई.) द्वारा फ्रांस की सीमाओं एवं बुर्बो वंश की पुनर्स्थापना की जा चुकी थी, किन्तु फ्रांस के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक था जिससे कि वह भविष्य में यूरोप की शांति भंग न कर सके।

3. यूरोप में क्रांति की भावना बलवती हो रही थी। यद्यपि फ्रांस की क्रांति समाप्त हो चुकी थी, फिर भी समानता, स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के सिद्धान्त लगभग सारे यूरोप में फैल चुके थे। इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस स्पेन में जनता जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था स्थापित करने को उत्सुक थी। अतः वियना सम्मेलन के समक्ष सब से विकट समस्या यह थी कि इन नई प्रगतिशील प्रवृत्तियों का विरोध किस प्रकार किया जाये। सम्मेलन में भाग लेने वाले राजनीतिज्ञ घोर प्रतिक्रियावादी थे। इसलिये क्रांतिकारी एवं प्रतिक्रियावादी, परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के संघर्ष का फैसला करना सम्मेलन की मुख्य समस्या थी।

4. नेपोलियन के पतन के साथ ही चर्च की समस्या का पुनर्जन्म हुआ। फ्रांस तथा अन्य देशों के क्रांतिकारी नेताओं के चर्च की भूमि किसानों को बेच दी थी। नेपोलियन ने चर्च को एक साधारण संस्था बना दिया था तथा उसकी सम्पत्ति राज्य ने हस्तगत कर ली थी। धार्मिक अदालतें भी बन्द कर दी गई थी। अतः प्राचीन निरंकुश शासन व्यवस्था की पुनर्स्थापना के साथ ही पोप की शक्ति की पुनर्स्थापना करने का प्रश्न भी वियना कांग्रेस के लिये समस्या बन गया था।

5. वियना कांग्रेस को विजयी राष्ट्रों की आकांक्षाओं को पूरा करना, जर्मनी की नवीन व्यवस्था करना, पोलैण्ड की पुनर्स्थापना करना, नेपोलियन के मित्र सेक्सनी तथा हालैण्ड, बेल्जियम और फिनलैण्ड के भाग्य का निर्णय करना, इटली की नयी व्यवस्था करना, डेनमार्क को मित्र राष्ट्रों के विरोध का दण्ड देना तथा स्वीडन को उसकी सहायता का पुरस्कार देना भी वियना सम्मेलन के समक्ष विचारणीय प्रश्न थे।

6. वियना सम्मेलन के सम्मुख न केवल युद्ध से त्रस्त यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने की समस्या थी, वरन् भविष्य में युद्ध की संभावनाओं को रोकने के उपायों पर भी विचार करना था।

4.5 कांग्रेस की कार्य प्रणाली :

वियना सम्मेलन की कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं थी। न तो प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते थे और न मतदान की व्यवस्था थी। बड़ी–बड़ी दावतें खाते हुए, नांच घरों में नृत्य देखते हुए अथवा मधुर संगीत लहरी का रसास्वादन करते हुए राज्यों की सीमाओं की घटाने बढ़ाने के प्रश्नों पर विचार कर निर्णय ले लिया जाता था। कोई राजनीतिक हंसी मजाक में कोई बात कहता और यदि वह दूसरों को पसन्द आ जाती तो वह स्वीकार कर ली जाती। ऐसे निर्णय करते समय जनता की इच्छा या अनिच्छा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। प्रारम्भ में चार बड़े राज्य अर्थात् रूस, आस्ट्रिया, प्रशा व इगलैण्ड अपने स्वार्थों की सिद्धि हेतु अपनी इच्छानुसार सम्मेलन को संचालित करते रहे। निकोल्स ने अपनी पुस्तक 'कांग्रेस आफ वियना' मे लिखा है कि पेरिस की प्रथम सन्धि की एक गुप्त धारा द्वारा चार बड़े राज्यों ने सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार अपने लिये सुरक्षित कर लिया था, जिसकी अन्य छोटे राज्यों की जानकारी नहीं थी। किन्तु तैलेरा ने छोटे राज्यों की ओर से चार राज्यों के निर्णय लेने के अधिकार को चुनौती दी। फलतः बड़े राज्यो को आठ राज्यों की समिति बनाने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस समिति में रूस, आस्ट्रिया, प्रशा, ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पुर्तगाल और स्वीडन के प्रतिनिधि थे। इसके अतिरिक्त विशेष समस्याओं पर विचार करने के लिए दस उपसमितियां भी बनायी गई थी, किन्तु कई विषयों मे इन उप समितियों की अवहेलना कर दी जाती तथा बड़े राज्य अपनी इच्छानुसार कांग्रेस की अनुमति के बिना ही महत्वपूर्ण निर्णय कर लेते थे।

वस्तुतः बड़े राज्य अधिक से अधिक लूट का माल स्वयं हड़प जाना चाहते थे। जटिल कूटनीतिक कुचक्रों का जाल बिछ गया था। नैतिकता के सिद्धान्त ताक पर रख दिये गये विचारों के आदान–प्रदान का कोई महत्व नहीं था। बड़े राज्यों की साम्राज्य लिप्सा के कारण ऐसे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये थे कि कांग्रेस के भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। मार्च 1815 में नेपोलियन की एल्बा से वापसी तथा 18 जून को वाटरलू में उसकी अन्तिम पराजय तक सम्मेलन के कार्य में व्यवधान उत्पन्न हो गया। 9 जून 1815 को कांग्रेस के अन्तिम निर्णय पर सात राज्यों ने हस्ताक्षर किये, किन्तु फ्रांस के सम्बन्ध मे मतभेद हो जाने के कारण पेरिस की द्वितीय संधि पर 20 नवम्बर 1815 को ही हस्ताक्षर हो सके।

4.6 कांग्रेस के आधारभूत सिद्धान्त :

सम्मेलन की कोई निश्चित कार्यनीति न होने के कारण सभी राष्ट्र अपने–अपने स्वार्थों की सिद्धि में लग गये। ऐसे वातावरण में किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सम्मेलन असफल हो जायेगा। अतः सभी राज्यों ने अपने स्वार्थों को नियन्त्रित करते हुए सम्मेलन में विचारणीय मौलिक सिद्धान्तो की एकता स्वीकार की। फलस्वरूप वियना सम्मेलन में तीन मार्गदर्शक सिद्धान्त स्वीकार किये गये, जो निम्नलिखित थे –

4.6.1. वैधता का सिद्धान्त :

यह तैलेरा द्वारा प्रतिपादित एवं मेटरनिख द्वारा समर्थित सिद्धान्त था। कांग्रेस के सभी सदस्य यूरोप में यथास्थिति बनाये रखना चाहते थे। अतः वैधता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसका अर्थ यह था कि जो शासक नेपोलियन द्वारा गद्दीच्युत कर दिये गये थे, उन्हें वैधता अथवा न्याय के आधार पर उनके राज्य एवं अधिकार वापस मिलने चाहिये। इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्रांस के शासक लुई 18वें को मान्यता प्राप्त हुई स्पेन, नेपल्स एवं सिसली में बुर्बो वंशीय शासको को पुनः प्रतिष्ठित किया गया। हालैण्ड पर औरेन्ज वंश का तथा अन्य प्राचीन राज्यों पर वहां के पुराने राजवंशों का अधिकार पुनःस्थापित किया गया।

4.6.2. शक्ति संतुलन का सिद्धान्त :

यह सिद्धान्त ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे की नीति का मुख्य अंग था। इसके मूल में यह धारणा थी कि यूरोप की प्रादेशिक व्यवस्था इस प्रकार की जाये कि यूरोप का कोई भी राष्ट्र इतना शक्तिशाली न हो जाये कि वह दूसरे राज्यों के लिये खतरा बन जाये। शक्ति संतुलन के सिद्धान्त में सुरक्षा की भावना निहित थी। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए फ्रांस के चारों और बेल्जियम, हालैण्ड, प्रशा तथा सार्डिनिया के शक्तिशाली राज्य स्थापित किये गये। जर्मनी का इस प्रकार पुनर्गठन किया गया कि फ्रांस अचानक शक्तिशाली राष्ट्र न बन सके। इटली में आस्ट्रिया, पोप तथा बुर्बो वंश की प्रभुता पुनः स्थापित की गई ताकि वहां राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन न मिल सके। इस प्रकार यूरोप में शक्ति संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया ताकि भविष्य में शांति भंग न हो सके।

4.6.3. पुरस्कार एवं क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त :

जिन राज्यों ने नेपोलियन की शक्ति को समाप्त करने में मित्र राष्ट्रों को सहयोग दिया था वे इसके बदले में कुछ पुरस्कार की आशा करते थे तथा वे यह भी चाहते थे कि जिन राज्यों ने नेपोलियन को सहयोग दिया था उन्हें दण्डित भी किया जाये। इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्रांस की सीमा का पुनर्निर्धारण करते समय रूस, आस्ट्रिया व प्रशा को नेपोलियन के साम्राज्य के हिस्से दिये गये। उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान मे रखते हुए कांग्रेस ने विभिन्न देशों के लिये अलग–अलग निर्णय दिये थे तथा प्रादेशिक व्यवस्थाएं की थी।

फ्रांस : फ्रांस के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय पेरिस की द्वितीय संधि द्वारा किये गये। फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन के काल में जितने प्रदेश फ्रांस ने अपने राज्य में मिला लिये थे, वे सभी प्रदेश उससे छीन लिये गये। फ्रांस की सीमाएं वही निर्धारित की गई जो क्रांति से पूर्व थी। फ्रांस की सीमा के चारो और शक्तिशाली राज्य स्थापित किये गये ताकि फ्रांस भविष्य में कभी यूरोप की शांति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भंग न कर सके। फ्रांस में पुनः बुर्बो वंश की स्थापना की गई तथा लुई 18वें को फ्रांस के शासक के रूप में मान्यता प्रदान की गई। फ्रांस को 700 मिलियन फ्रैंक क्षति पूर्ति के रूप में देने को कहा गया, किन्तु तैलेरा के कूटनीतिक प्रयत्नों से फ्रांस क्षतिपूर्ति की राशि से स्पष्ट बच गया।

आस्ट्रिया : आस्ट्रिया से बेल्जियम का प्रदेश ले लिया गया और इसके बदले उसे इटली में वेनेशिया, लोम्बार्डी तथा इलीरिया के प्रदेश दिये गये। उसे डालमेशिया तथा कट्टोरा का बन्दरगाह भी प्राप्त हुआ। इससे इटली में आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ गया तथा उसके समुद्रतट भी उसे प्राप्त हो गये। इसके अतिरिक्त उसे बवेरियों से टाइरोल व साल्जबर्ग प्राप्त हुआ तथा पोलैण्ड में पूर्वी गेलेसिया प्राप्त हुआ। नवनिर्मित जर्मन संघ की राष्ट्र सभा का प्रधान भी आस्ट्रिया को बनाया गया। किन्तु जर्मनी में आस्ट्रिया की अपेक्षा प्रशा को अधिक भू–भाग प्राप्त हुए। सम्भवतः उस समय मेटरनिख ने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण की कल्पना ही नहीं की थी। अन्यथा प्रशा को इतना शक्तिशाली नहीं बनाया जाता। इन भू–भागों की प्राप्ति से हेप्सवर्ग (आस्ट्रिया) साम्राज्य की जनसंख्या में लगभग 40 लाख की वृद्धि हो गयी। उसे दूरस्थ कम आय वाले प्रदेशों के बदले आस्ट्रिया के नजदीक के अधिक आय वाले प्रदेश मिल जाने से केन्द्रीय यूरोप में उसकी शक्ति बढ़ गई।

प्रशा – प्रशा को अनेक प्रदेश दिये गये। राइन नदी का पश्चिमी प्रदेश, जिस पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया था, अब प्रशा को दे दिया गया। सैक्सनी के राज्य ने नेपोलियन की सहायता की थी, अतः प्रशा ने सम्पूर्ण सैक्सनी पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सैक्सनी का आधा भाग ही प्राप्त हो सका। इसके साथ ही उसे बर्ग की डची तथा वेस्टफेलिया की डची का भी कुछ भाग प्राप्त हुआ। पोलैण्ड व पोमेरेनिया का भी कुछ प्रदेश प्रशा को सौंपा गया। प्रशा की ये इतने उपहार इसलिये प्राप्त हुए कि उसने नेपोलियन को पराजित करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इन भू–भागो के प्राप्त होने से प्रशा यूरोप के प्रथम श्रेणी के राज्यों में सम्मिलित हो गया तथा उत्तरी जर्मनी का प्रमुख राज्य बन गया। उसके जर्मन क्षेत्र की जनसंख्या में जर्मन तत्व की प्रधानता हो गयी जिससे उसके द्वारा जर्मनी का नेतृत्व करने की सम्भावनाएं बढ़ गई।

जर्मनी के अन्य राज्य : कांग्रेस के समक्ष जर्मनी के नवनिर्माण का प्रश्न बड़ा जटिल था। नेपोलियन के आक्रमणों से पूर्व जर्मनी में 300 से अधिक राज्य थे। इनमे से बहुतो को नेपोलियन ने समाप्त कर दिया था तथा कुछ महत्वपूर्ण राज्यों को संगठित करके राइन राज्य संघ का निर्माण किया था। यदि वैधता के सिद्धान्त को लागू किया जाता तो उन प्राचीन राज्यों की पुनर्स्थापना करनी पड़ती, जो सम्भव नहीं था। अतः 39 राज्यों का शिथिल जर्मन संघ बनाया गया। इस नवीन संघ की एक केन्द्रीय राष्ट्र सभा बनायी गई जिसका अध्यक्ष आस्ट्रिया को बनाया गया। प्रत्येक राज्य मे प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना का निश्चय किया गया। प्रत्येक राज्य को आंतरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई, किन्तु राज्यों को आपस में युद्ध करने तथा बाहरी शक्तियों के विरूद्ध युद्ध करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मन राष्ट्रवादियों को इस व्यवस्था से बड़ी निराशा हुई, क्योंकि संघ के सुदृढ़ बनाने के लिये कुछ नहीं किया गया।

इटली – इटली के विविध राज्यों को पुनः स्थापित किया गया। सार्डीनिया के साथ पीडमाउण्ट, जिनोआ तथा सेवाय को मिलाकर फ्रांस की सीमा पर एक सुदृढ़ राज्य स्थापित किया गया। जे. मुरात जो कि नेपोलियन का भूतपूर्व सेनापति था, 1819 तक नेपिल्स का शासक था। जनवरी 1814 की एक संधि द्वारा मेटरनिख ने नेपोलियन के विरूद्ध सहायता देने के बदले उसे नेपिल्स का शासक बनाये रखने का वचन दिया था रूस, प्रशा व ब्रिटेन ने भी इसकी स्वीकृति दी थी। किन्तु तैलेरा ने वैधता के सिद्धान्त के आधार पर इस व्यवस्था का विरोध किया। मुरात की अयोग्यता के कारण भी उसका पक्ष निर्बल हो गया था। अतः बुर्बो वंश के शासक फर्डीनेण्ड सप्तम को सिसली व नेपल्स का राज्य दिया गया। पोप के प्रदेश पुनः पोप के अधीन कर दिये गये। परमा, पिआकेन्जा तथा गौस्टाला का डची नेपोलियन की महारानी मेरिया लुइसा को जो आस्ट्रिया के सम्राट की पुत्री थी, उसके जीवन काल के लिये प्रदान किये गयें टक्सनी व मोडेना दोनों ही राज्य आस्ट्रिया के हेप्स बर्ग वंश के राजकुमारों को दे दिये गये। नेपोलियन के आक्रमणों से इटली मुख्तः दो भागों में विभाजित हो गया था इटली का राज्य और नेपिल्स। किन्तु अब उसे पुनः छोटे–छोटे स्वतन्त्र राज्य में विभक्त कर दिया गया। उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रांत लोम्बार्डी तथा वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार हो जाने से तथा परमा एवं मोडेना पर आस्ट्रिया के राजवंशों से सम्बन्धित शासकों का अधिकार स्थापित हो जाने से सम्पूर्ण इटली पर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित हो गई। इससे इटली द्वारा आस्ट्रिया, पोप तथा बुर्बो वंश के शासकों के नियन्त्रण से मुक्त होने की आशा धूमिल पड़ गई।

हालैण्ड – उत्तर में फ्रांस पर नियन्त्रण रखने के लिए हालैण्ड को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। इसके लिये बेल्जियम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को, जो आस्ट्रिया का एक प्रांत था, हालैण्ड के साथ मिला दिया गया तथा लक्सम्बर्ग का क्षेत्र भी उसमें मिला दिया गया। यहां ओरेन्ज राजवंश की पुनः स्थापना की गई।

स्वीडन — स्वीडन से फिनलैण्ड का प्रदेश लेकर रूस को दे दिया गया तथा पश्चिमी पौमेरेनिया का प्रदेश प्रशा को सुपुर्द किया गया। नार्वे पहले डेनमार्क के अधीन था। किन्तु नेपोलियन की सहायता करने के दण्ड स्वरूप उससे नार्वे छीन कर स्वीडन को दे दिया गया। इस प्रकार स्वीडन व डेनमार्क दोनों को ही निर्बल बना दिया गया। फलतः उस क्षेत्र में रूस व प्रशा शक्तिशाली हो गये।

पौलेण्ड — पौलेण्ड को तीन भागों में बांट कर रूस, आस्ट्रिया व प्रशा को दे दिया गया। पोलैण्ड का मुख्य भाग रूस को सुपुर्द किया गया। नेपोलियन ने जो बारसा का राज्य बनाया था, वह भी रूस को दे दिया गया। पोसन, थार्न तथा डान्टिसग के प्रदेश प्रशा को तथा दक्षिणी गलेशिया आस्ट्रिया को दिया गया।

स्विट्जरलैण्ड — स्विट्जरलैण्ड में फ्रांस के तीन अतिरिक्त केंटन जोड़कर 22 कैन्टनों का एक संघ बनाया गया, जिससे उसका राज्य विस्तार हुआ तथा उसकी शक्ति में वृद्धि हो गयी। उसकी तटस्थता तथा स्वतन्त्रता का उत्तरदायित्व यूरोप के बड़े राज्यों ने अपने ऊपर ले लिया।

रूस : रूस के जार वियना सम्मेलन मे सम्पूर्ण डची ऑफ वारसा की मांग की, किन्तु इस मांग को पूरा करने के लिये प्रशा को अपने पौलेण्ड का भाग छोड़ना पड़ता। प्रशा पौलेण्ड के भाग को छोड़ने के लिये तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन, फ्रांस व आस्ट्रिया, रूस की शक्ति के पश्चिम में प्रसार से आशंकित थे। अतः वे भी रूस की इस मांग को स्वीकृत करने के पक्ष मे नहीं थे। इस कारण सम्मेलन में इस समस्या को लेकर बड़े राज्यों मे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया तथा सम्मेलन के भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किन्तु अन्त में समझौता हो गया। पोलेण्ड में स्थित पोसेन के गेलेशिया के भाग को छोड़कर शेष डची आफ वारसा रूस के अधीन कर दिया गया। इसके अतिरिक्त फिनलैण्ड व बेसारबिया पर भी रूस को अधिकार करने दिया गया इस व्यवस्था से रूस को काफी लाभ हुआ तथा यूरोप में उसका प्रभाव काफी बढ़ गया।

स्पेन तथा पुर्तगाल : स्पेन मे ट्रिनिडाड लेकर ब्रिटेन को दे दिया गया। स्पेन में बुर्बो वंशी फर्डीनेण्ड सप्तम का शासन पुनः स्थापित किया गया। यद्यपि पुर्तगाल ने अंग्रेजो की बड़ी सहायता की थी किन्तु उसे कुछ भी नहीं दिया गया। केवल वहां पर जॉन चतुर्थ का शासन पुनः स्थापित कर दिया गया।

ब्रिटेन : वियना सम्मेलन में सबसे अधिक लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। उसे अनेक नवीन उपनिवेश प्राप्त हुए। फ्रांस से माल्टा, सान्टालूसिया, टोबेगो तथा मोरिशस के क्षेत्र लेकर ब्रिटेन को दिये गये। स्पेन से ट्रिनिडाड प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हालैण्ड तथा आयोनिन द्वीप समूह का संरक्षण प्राप्त हुआ। इन सभी क्षेत्रों के मिलने से ब्रिटेन एक श्रेष्ठ औपनिवेशिक शक्ति बन गया। वियना सम्मेलन में जो द्वीप उसे मिले उससे भूमध्य सागर, एड्रियाटिक सागर तथा एल्बा के समुद्री तटों मे ब्रिटेन का सामुद्रिक तट सुरक्षित हो गयी।

4.7 कांग्रेस के अन्य निर्णय :

प्रादेशिक व्यवस्था के साथ ही वियना सम्मेलन में कुछ अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में भी निर्णय लिये गये जो निम्नलिखित थे —

1. ब्रिटेन के मुख्य प्रतिनिधि कैसलर के प्रयत्नों से वियना सम्मेलन मे दास व्यापार के विरूद्ध प्रस्ताव पास किया गया। दास व्यापार को विश्व सभ्यता और मानव अधिकारों के विरूद्ध बताते हुए इसे अनैतिक एवं अमानवीय घोषित किया गया। किन्तु कांग्रेस में दास व्यापार के विरूद्ध जो प्रस्ताव पास किया गया वह केवल कागजों में ही रहा। इस व्यापार का अन्त करने के लिये कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया।

2. यूरोप की कुछ समस्याओं को सुलझाने के लिये कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने का भी प्रयत्न किया। इस विधान में युद्ध और शान्ति के काल में व्यापार बड़ी नदियों में वाणिज्य नौका चालन के नियम तथा राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों के नियमों का समावेश करने का प्रयत्न किया गया।

3. यूरोप में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई जिसे यूरोप की संयुक्त व्यवस्था कहते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वाटरलू युद्ध के एक सप्ताह पूर्व 9 जून, 1815 को कांग्रेस के निर्णयों पर हस्ताक्षर हुए।

4.8 वियना कांग्रेस के कार्यों की समीक्षा :

वियना सम्मेलन नैतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण', 'राजनैतिक शक्ति के न्यायोचित्त पुनर्विभाजन पर आधारित स्थायी शांति' आदि महान आदर्शों एवं पवित्र उद्देश्यों की घोषणाओं के साथ आरम्भ हुआ था। यूरोप की जनता को इस सम्मेलन से बड़ी आशाएं थी, किन्तु कांग्रेस के निर्णयो से सभी को निराशा हुई और इसकी तीव्र आलोचना की गई। सम्मेलन के पवित्र उद्देश्य एवं आदर्श केवल दिखावा था, जबकि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत थी। सम्मेलन के सचिव गेंज ने तो यहां तक कह डाला कि, ''कांग्रेस के बड़े–बड़े सुन्दर शब्दों का केवल यही उद्देश्य है कि सर्वसाधारण की उत्तेजनाओं को शांत किया जाये तथा सम्मेलन को शान एवं प्रतिष्ठा दिलायी जाये, किन्तु कांग्रेस का वास्तविक उद्देश्य यह था कि विजयी राष्ट्रो की लूट खसोट को आपस में बांट ले।'' वस्तुतः यह सम्मेलन शक्तिशाली राष्ट्रों का एक ऐसा झमेला था जहां बड़े राष्ट्रों को केवल अपने स्वार्थों का ध्यान था। अपनी स्वार्थसिद्धि के सामने उन्होंने जन साधारण के हितों और अधिकारों को तिलांजली दे दी। शक्तिशाली राष्ट्रों ने छोटे राष्ट्रों की उपेक्षा की तथा निर्णय लेते समय उचित अनुचित तथा न्याय अन्याय का कोई ध्यान नहीं रखा। वियना सम्मेलन के राजनयिकों की आलोचना मुख्यतः निम्नलिखित आधारों पर की जाती है –

4.8.1. राष्ट्रीयता की भावनाओं की उपेक्षा :

वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता की भावनाओं की पूर्ण रूप से उपेक्षा की। हेजन ने लिखा है कि, ''वियना सम्मेलन कुलीन वर्ग के लोगों का सम्मेलन था, वे लोग राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के आदर्शों को, जिसकी फ्रांसीसी क्रांति ने घोषणा की थी, समझने में असमर्थ थे अथवा उससे घृणा करते थे।'' उन्होंने यूरोप के मानचित्र में जो परिवर्तन किये उसमें सम्बन्धित जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अवहेलना की। बेल्जियम और हालैण्ड, जो भाषा और धर्म में एक दूसरे से भिन्न थे, संयुक्त कर दिये गये। इसी प्रकार समान भाषा और संस्कृति वाले नार्वे को डेनमार्क से पृथक कर स्वीडन में मिला दिया गया। पोलैण्ड की राष्ट्रीय भावना की उपेक्षा करते हुए उसका विभाजन कर दिया गया। इटली की छोटी–छोटी रियासतों में विभाजित कर उस पर आस्ट्रिया का कठोर नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। इस प्रकार, ''इटली से कूटनीतिज्ञ खेल के मुहरे के समान व्यवहार किया गया।''

4.8.2. जनमत की अवहेलना :

सम्मेलन मे जनता की भावनाओं की भी सर्वथा अवहेलना की गई। राज्यो के शासन परिवर्तन में जनता की इच्छाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया। वस्तुतः सम्मेलन के राजनीतिज्ञों की समझ में यह बात आई ही नहीं कि जनता के भी कुछ अधिकार होते है। वियना सम्मेलन में जनता का कोई प्रतिनिधि नहीं बुलाया गया, जो जनता की इच्छा व्यक्त कर सके। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों की दृष्टि में यदि किसी के अधिकार थे तो वे केवल उच्च राजवंशों के थे, क्योंकि इन राजवंशों को ईश्वर ने अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था। इसलिए राज्यों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण करते समय जनता की इच्छाओं की ओर ध्यान न देकर केवल सम्राटो के स्वार्थों और लाभो की ओर ही ध्यान दिया गया। शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की आड़ में उन्होंने कि ''उनकी व्यवस्था कोई व्यवस्था नहीं थी क्योंकि उन्होंने उन्हीं तत्वों की उपेक्षा की जिनसे उन्हें स्थायी बनाया जा सकता था। 1815 ई. के बाद यूरोप का इतिहास वियना कांग्रेस की इस भूल को सुधारने का इतिहास है।''

4.8.3. प्रतिक्रियावादी नीति का प्रभाव :

सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही में प्रतिक्रियावादी नीति का बोलबाला रहा जिसका प्रतिनिधित्व मेटरनिख कर रहा था। क्रांति से उत्पन्न नवीन प्रवृतियों का दमन करना ही सम्मेलन का एक मात्र उद्देश्य था। डॉ. ई. सी. वार्ड के मतानुसार, ''प्रादेशिक पुनर्व्यवस्था ने कांग्रेस में तो वैधता के सिद्धान्त का या किसी अन्य सिद्धान्त का निरन्तर पालन किया, वास्तव में उसने जैसाकि स्वाभाविक ही था, अधिकतर नेपोलियन की व्यवस्था को ही पुनर्स्थापना की। कांग्रेस का यह विचार भी प्रतिक्रियावादी था कि यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने का एक मात्र उपाय प्राचीन राजवंशों का पुनरूद्धार है। अतः यूरोप की बिगड़ी हुई व्यवस्था को सुधारने के लिये जो आधार बनाया गया वह प्रतिक्रियावादी एवं त्रुटिपूर्ण था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.8.4. क्रांति की भावना की उपेक्षा :

वियना कांग्रेस ने सबसे भारी भूल यह की कि उसने क्रांति के कारण उत्पन्न समस्त भावनाओं एवं प्रवृत्तियों की ही उपेक्षा कर दी। सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने स्थिति से पूर्ण परिचित होते हुए भी अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की। क्रांति ने स्वतन्त्रता, समानता और जनता की सम्प्रभुता के सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिये थे और ये सिद्धान्त जनता में लोकप्रिय होते जा रहे थे। किन्तु उन्होने इन विचारों की कोई परवाह नहीं की, क्योंकि स्वतन्त्रता और समानता जैसे उच्च आदर्शों से वे घृणा करते थे। वस्तुतः कांग्रेस द्वारा क्रांति की विश्व को व्याप्त कर लिया था, बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था। सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने स्थाई शांति की आड़ में जनता को बेवकूफ बनाया गया तथा हर प्रकार से अपनी स्वार्थ सिद्धि की। अतः वियना सम्मेलन में जो कुछ हुआ वह सर्वथा अनुचित और अस्वाभाविक था।

4.8.5. निर्णयों की अपूर्णता :

वियना सम्मेलन ने अपने कुछ कार्यों को अपूर्ण छोड़ दिया था तथा कुछ महत्वपूर्ण समस्याओ की और ध्यान ही नहीं दिया। यूरोप की शांति को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिये कैसलरे ने एक गारंटी की संधि की योजना प्रस्तावित की थी, जिसके अन्तर्गत एक स्थाई सुरक्षा परिषद की भी व्यवस्था की गई थी। इस योजना का तैलेरा ने भी समर्थन किया था। किन्तु उसी समय नेपोलियन की वापसी से संकट उत्पन्न हो गया तथा इस योजना पर पुनः कभी विचार नहीं हुआ। इस प्रकार सही दिशा मे एक आवश्यक कदम विफल हो गया। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने पूर्वी समस्या की और भी ध्यान नही दिया, जो उस समय तक अत्यधिक महत्व अर्जित कर चुकी थी। इसी प्रकार यूनान के भविष्य और दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशो के भविष्य पर भी ध्यान नहीं दिया। अतः कांग्रेस के निर्णय सर्वथा अपूर्ण थे।

वियना सम्मेलन के निर्णयों में उपर्युक्त दोष होने के कारण अगली एक शताब्दी के यूरोपीय इतिहास ने वियना सम्मेलन के निर्णयों की काया पलट दी। स्वीडन व नार्वे का एकीकरण केवल दस वर्ष चला तथा हालैण्ड व बेल्जियम का एकीकरण केवल 15 वर्ष चला। इटली व जर्मनी की व्यवस्थाओ का 1870 ई. मे अन्त हो गया। अन्त में प्रथम महायुद्ध ने राज्यों की सीमाओ को राष्ट्रीयता के आधार पर निश्चित कर दी जिससे उन्हीं सिद्धान्तों की विजय हुई जिसकी वियना सम्मेलन ने उपेक्षा की थी।

4.9 वियना सम्मेलन का महत्व :

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि वियना कांग्रेस की व्यवस्था में कई दोष थे। किन्तु उसके कार्यों का मूल्यांकन करते समय हमें उसकी कठिनाइयों एवं उसकी सीमाओं तथा दूसरी और उसकी उपलब्धियों को ध्यान में रखना होगा। जिन समस्याओं का उसे सामना करना पड़ा वे अत्यन्त ही जटिल थी। इसके अतिरिक्त सम्मेलन आरम्भ होने से पूर्व कुछ राज्यों के बीच सन्धियां हो चुकी थी, जिनका पालन करना भी आवश्यक था। बड़े राज्यों के पारस्परिक स्वार्थों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता होना अपने आप में बड़े महत्व की बात थी।

नेपोलियन के युद्धो मे लगभग 60 लाख व्यक्ति मारे गये थे तथा अपार सम्पत्ति की हानि हुई थी। युद्ध से त्रस्त यूरोप में शान्ति स्थापित करना वियना सम्मेलन की महत्वपूर्ण सफलता थी। केटलबी ने लिखा है कि, "इस सम्मेलन में राजनीति, संयम और दूरदर्शिता से काम लिया गया तथा इससे एक ऐसा आधार तैयार किया जिस पर भविष्य के यूरोप की नींव रखी गई।" इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री कैसलरे ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुये कहा था कि वे लोग शस्त्र सम्पत्ति का बंटवारा करने के लिये एकत्र नहीं हुए है बल्कि ऐसी व्यवस्था करने के लिए एकत्रित हुए है जिससे भविष्य मे यूरोप में शांति बनी रह सके। वियना सम्मेलन के निर्णयों को प्रतिक्रियावादी कहकर इसकी आलोचना की जाती है किन्तु ग्राण्ट तथा टेम्परले ने इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए लिखा है कि, "वियना के शान्ति संस्थापक को अत्यन्त प्रतिक्रियावादी और अनुदार कहकर उनकी आलोचना करना एक परम्परा बन गई है। यह सत्य है कि वे प्राचीन व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते थे और अधिकांश रूप में नवीन विचारों से अछूते थे किन्तु वे प्राचीन शासन के निकृष्ट रूप के नहीं बल्कि उत्कृष्ट रूप के प्रतिनिधि थे तथा उनकी व्यवस्था से यूरोप अगले 40 वर्षों तक युद्धों से बचा रहा।"

इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि वियना व्यवस्था 1919 की पेरिस व्यवस्था से कहीं अधिक अच्छी व्यवस्था थी। जहां तक सम्भव हो सका समझौते के सिद्धान्त को अपनाया गया तथा किसी भी प्रकार से फ्रांस को अपमानित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। 1919 में जर्मनी यूरोप की शांति को भंग करने के लिए उत्तरदायी ठहराया गया तथा उसे अपने प्रदेशों से, उपनिवेशों, सम्पत्ति तथा प्रभाव से वंचित कर दिया। यूरोप के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जबकि यूरोप के समस्त राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। इस सम्मेलन द्वारा यूरोप के राज्यों को यह अनुभव हुआ हो कि परस्पर बातचीत द्वारा ही किसी समस्या का समाधान खोजा जा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सकता है। अपनी कठिनाइयों और सीमाओं के बावजूद कांग्रेस के निर्णयों के फलस्वरूप यूरोप के विभिन्न राज्यों के बीच सहयोग की भावना का संचार हुआ।

प्रादेशिक पुनर्व्यवस्था के क्षेत्र में उसके कुछ निर्णय महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। जर्मनी और इटली के एकीकरण की दिशा में कांग्रेस ने कुछ कार्य अनजाने में ही कर डाले। जिनोओं और सार्डीनिया को मिला कर उसने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। इसी प्रकार जर्मनी में प्रशा को शक्तिशाली बनाकर उसे जर्मनी के एकीरकण आंदोलन का नेतृत्व करने योग्य बना दिया। प्रशा की भांति पीडमान्ट को भी शक्तिशाली बनाया गया जो आगे चलकर इटली के एकीकरण आंदोलन का नेता बना। केटलबी के शब्दों में, ''उसने ऐसा आधार प्रदान किया जिस पर भविष्य के यूरोप की नीवं रखी गई।''

इस बात को लेकर कि, वियना व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य वैध सत्ता की पुनर्स्थापना, प्राचीन राजवंश के शासकों एवं राजकुमारों को उनके अधिकार दिलाना था और जनता के अधिकारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, वियना व्यवस्था की आलोचना करना न्याय संगत नहीं है। यह आलोचना उस जगह समाप्त हो जाती है जब हम व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करते है। पश्चिम जर्मनी, पोलैण्ड, सैक्सनी, नार्वे, आस्ट्रियन, नीदरलैण्ड और उत्तरी इटली मे इस विचारधारा का बिल्कुल परित्याग कर दिया गया था। यह तो केवल फ्रांसीसी राजवंश पर ही अधिक लागू होता है और इसका निर्माण भी फ्रांस के राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ के लिये किया था।

यूरोप में शांति स्थापित करने की दिशा में भी वियना सम्मेलन ने एक निश्चित कदम उठाया था। उसने यूरोपीय व्यवस्था का निर्माण किया जिससे भविष्य के युद्धों को रोका जा सका सके। यह यूरोपीय व्यवस्था प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था और इसी आधारशिला पर आगे चलकर राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी भव्य व्यवस्थाओं का निर्माण सम्भव हो सका।

यदि हम तत्कालीन परिस्थितियो का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सम्मेलन के समक्ष अनेक जटिल समस्याएं थी। यदि उन समस्या जनक परिस्थितियों में जनमत को निर्णयो का आधार बनाया जाता तो यूरोप में पुनः युद्ध के बादल मंडराने लगते क्योंकि उस समय प्रवृत्तियों का केवल विकास आरम्भ हुआ था। ये प्रवृत्तियां अभी परिपक्व अवस्था में नहीं थी। अतः अपरिपक्व प्रवृत्तियों के आधार पर निर्णय करना यूरोप की शांति भंग करना था। सन् 1815 में स्वतन्त्र बेल्जियम की कल्पना करना ही दुस्साध्य था क्योकि बेल्जियम और फ्रांस के सम्बन्धों को देखते हुए बेल्जियम का जीवित रहना असंभव दिखाई पड़ता था। इसके अतिरिक्त उस समय स्वयं बेल्जियम स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना के पक्ष मे नहीं था। यह तो तभी संभव हो सका जबकि यह विश्वास हो गया कि फ्रांस उसका विरोधी नहीं रहा है। यदि उस समय बेल्जियम को स्वतन्त्रता दे दी जाती तो निर्बल बेल्जियम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता था और शीघ्र ही यूरोप की शांति भंग होने की संभावना थी।

वियना व्यवस्था की इस बात को लेकर भी आलोचना की जाती है, कि इसके निर्णय स्थायी नहीं रह सके। इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए हार्नशा ने लिखा है कि 'वियना सम्मेलन के प्रतिनिधि ईश्वर के अवतार नहीं थे। जितना स्थायित्व मानव शक्ति प्रदान कर सकती है, उतना ही स्थायित्व उन्होंने देने का प्रयत्न किया।'' इसके अतिरिक्त इतिहास का विद्यार्थी इस तथ्य से भली–भांति परिचित है कि किसी भी सम्मेलन की व्यवस्थाएं कभी स्थायी नहीं रह सकी है। अतः वियना सम्मेलन के निर्णयो को स्थायी न होने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का दोष लगाना न्याय संगत नहीं है। अन्त में हम प्रोफेसर फाइफ के शब्दों में कह सकते है कि, ''दो युगों की सीमा रेखा पर स्थित वियना के निर्णय इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है।

4.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – वियना कांग्रेस कब आरम्भ हुई?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – वियना कांग्रेस के प्रतिनिधियों पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – वियना कांग्रेस को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 5
यूरोप की संयुक्त व्यवस्था

5.0 भूमिका
5.1 संयुक्त व्यवस्था की स्थापना के कारण
5.2 पवित्र मैत्री
5.2.1 पवित्र मैत्री की विशेषताएं
5.2.2 पवित्र मैत्री की स्वीकृति
5.3 चतुर्राष्ट्रीय मैत्री
5.3.1चतुर्राष्ट्र मैत्री के उद्देश्य
5.4 यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की कार्य प्रणाली
5.4.1एक्स ला शैपल का सम्मेलन
5.4.2 ट्रोपो का सम्मेलन
5.4.3 लाइबेख का सम्मेलन
5.4.4 पीडमान्ट का विद्रोह
5.4.5 वेरोना का सम्मेलन
5.4.6 कांग्रेस व्यवस्था और मुनरो का सिद्धान्त
5.4.7 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास
5.5 संयुक्त व्यवस्था की असफलता के कारण
5.5.1. परस्पर विरोधी हितों का संघर्ष
5.5.2. प्रतिक्रिया का साधन
5.5.3. छोटे राज्यों की अपेक्षा
5.5.4. आंतरिक हस्तक्षेप की नीति
5.5.5. संगठनात्मक दोष
5.6 संयुक्त व्यवस्था का इतिहास में महत्व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.7 बोध प्रश्न

5.0 भूमिका :

वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था यूरोप के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस व्यवस्था को यूरोप की संयुक्त व्यवस्था भी कहा जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शांति की एक योजना थी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम था। रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने मिलकर नेपोलियन को युद्ध में परास्त किया था तथा यूरोप को फ्रांस के विध्वंसकारी युद्धो से मुक्त कराया था। अतः अब यूरोप में शांति बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी इन्हीं राज्यों पर आ पड़ा। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की स्थापना इन्हीं राज्यों अर्थात् रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने परस्पर मिलकर की थी। केटलबी ने लिखा है कि, ''वियना की संधियों के पालन की गारण्टी यूरोपीय शक्तियों ने मिलकर की थी, किन्तु पिछले कुछ वर्षों के अनुभव ने सभी के हृदयों में ऐसी इच्छा जाग्रत कर दी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये कुछ और ठोस कदम उठाने चाहिये और कुछ ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे सबकी पारस्परिक रक्षा हो सके। इस इच्छा को पूर्ण करने की दिशा में ही यूरोप के स्वेच्छाचारी शासकों ने जो यूरोप के अधिपति थे, उस शताब्दी का सबसे अनोखा राजनीतिक प्रयोग किया। यूरोप में संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में यह एक व्यावहारिक कदम था।''

5.1 संयुक्त व्यवस्था की स्थापना के कारण :

यूरोप के शासकों द्वारा पारस्परिक रक्षा हेतु संयुक्त राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने के मुख्य कारण निम्न थे –

1. वियना कांग्रेस ने नेपोलियन के युद्धों के बाद शांति स्थापित कर यूरोप में पुनः एक राजनैतिक व्यवस्था स्थापित की थी। किन्तु युद्ध की विभीषिका से मुक्त होकर भी वे युद्ध के कटु अनुभवो को नही भूल सके थे वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि यदि सम्मेलन द्वारा किये गये परिवर्तनों को स्थायित्व देना है और यूरोप का भावी युद्ध की सम्भावनाओं से बचाना है तो उन्हें संगठित रूप से रहना होगा। तात्कालिक राजनीतिज्ञों को भय था कि फ्रांस की क्रांति द्वारा उत्पन्न नवीन प्रवृतियो के फलस्वरूप वियना सम्मेलन द्वारा स्थापित शांति एवं व्यवस्था पुनः भंग न हो जाये। अतः यूरोप के सभी शासक स्थायी शान्ति की इच्छा रखते थे।

2. वियना सम्मेलन के राजनीतिज्ञो ने देखा कि यूरोप की पुनर्व्यवस्था प्राचीन व्यवस्था के अनुरूप तो हो गई थी, किन्तु उन राज्यों में, नवीन युग के अनुरूप कई समस्याएं उत्पन्न हो गई थी, यूरोप के कुछ भागों में राष्ट्रीय जागृति से प्रभावित क्रांति विरोधी तत्व, बदले की भावना से प्रेरित होकर हिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन कर रहे थे। क्रांति द्वारा उत्पन्न उदारवाद की लहर बड़ी तेजी से फैल रही थी। धार्मिक क्षेत्र भी इस प्रतिक्रिया से अछूता नहीं था। सर्वत्र अव्यवस्था, अराजकता एवं विनाश के चिन्ह स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। निरन्तर लम्बे युद्धो के कारण चारों ओर विनाश ही विनाश दिखाई दे रहा था। जनजीवन उद्योग और व्यापार अस्त–व्यस्त हो गया था। बेकारी की भंयकर समस्या उठ खड़ी हुई थी तथा वस्तुओं के मूल्य बढ़ रहे थे। इस अव्यवस्थापूर्ण स्थिति के कारण यूरोपीय राज्यो के समक्ष नव निर्माण का कार्य भी था। यूरोपीय राज्यों का नव निर्माण तभी संभव था जबकि यूरोप में शान्ति को स्थायी आधार प्रदान किया जा सके और स्थायी शान्ति यूरोपीय राज्यों के परस्पर सहयोग पर ही निर्भर थी।

3. मित्र राज्यो ने पारस्परिक सहयोग और संगठन के बल पर ही नेपोलियन जैसे प्रचण्ड शत्रु का सामना किया था और उसे पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी। अतः यूरोप के राजनीतिज्ञों के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि वे पारस्परिक सहयोग द्वारा नेपोलियन को परास्त करने में सफल हुए तो उसी सहयोग द्वारा नेपोलियन को परास्त करने में सफल हुए है।

4. यूरोप के शासकों के व्यक्तिगत स्वार्थों की दृष्टि से भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता थी। राष्ट्रीयता की भावना और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का प्रसार बढ़ता जा रहा था। इटली, जर्मन, पोलैण्ड तथा बाल्कन राज्यो में उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा था। प्रतिक्रियावादी एवं निरंकुश शासकों को इन नवीन प्रवृत्तियों के कारण भय उत्पन्न हो गया था। मेटरनिख, राष्ट्रीय एवं लोकतंत्रीय भावनाओं का कट्टर शत्रु था तथा उन्हें राजतन्त्र का प्रबल शत्रु मानता था। यूरोप के अन्य शासक भी उसके विचारों से प्रभावित थे। इसलिये वे सभी राष्ट्रीयता और उदारवाद की भावनाओं का दमन करने के लिए पारस्परिक सहयोग चाहते थे। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था स्थापित करके उन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति की।

अतः पारस्परिक सहयोग की भावना से प्रेरित यूरोप में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने के लिए दो योजनाएं प्रस्तुत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की गई – प्रथम पवित्र मैत्री जिसका प्रस्ताव रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने किया था। दूसरी चतुर्राष्ट्र मैत्री जिसका प्रस्ताव आस्ट्रिया के चान्सलर मेटरनिख ने किया था तथा ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे ने उसका समर्थन किया था। इन्ही दोनों योजनाओं के आधार पर यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का निर्माण हुआ।

5.2 पवित्र मैत्री :

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप हमें 'पवित्र मैत्री' में देखने को मिलता है। इस योजना को बनाने का श्रेय रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम को प्राप्त था। रूस का जार सुन्दर योजनाएं बनाने में निपुण था, किन्तु उन्हे किस प्रकार कार्यान्वित किया जाये, वह यह नहीं जानता था। उसके सम्बन्ध में कहा जा था कि वह काल्पनिक जगत में विचरण करने वाला व्यक्ति था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के बारे में हेजन ने लिखा है, ''पिछले वर्षों की घटनाओं तथा नेपोलियन के पतन का उस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था और वह समझने लगा था कि मानव जीवन को नियंत्रित एवं संचालित करने वाली कोई उच्च सत्ता है तथा उसके निर्णय से ही यह सब कुछ हुआ है इसलिये धर्म की और उसका विशेष झुकाव हो गया था। लोगों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी तथा नेपोलियन को काला फरिश्ता तथा उसके मुकाबले में उसे सफेद फरिश्ता बतलाया था और विश्व का मुक्ति दाता कह कर उसका अभिनन्दन किया था।

26 सितम्बर 1815 को रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने पेरिस के निकट वर्टस के मैदान में मित्र राष्ट्रों के सैनिको की एक परेड के अवसर पर रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के शासकों की पवित्र मैत्री, की घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि ''हम भविष्य में अपनी स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति में ईसाई धर्म के उपदेशों का अनुसरण करेंगे। हम एक दूसरे को भाई समझेंगे तथा एक दूसरे को हर स्थान पर सहायता देंगे। जो शक्तियां इन पवित्र सिद्धान्तों के मानने के लिये तैयार होंगी उनको पवित्र संघ में हार्दिक प्रेम से स्वीकार किया जायेगा। इस लिखित घोषणा से सहमत होते हुए रूस, आस्ट्रिया व प्रशा ने अपना एक गुट बना लिया जिसे पवित्र मैत्री अथवा पवित्र संघ कहा जाता है। इसे पवित्र इसलिये कहा गया, क्योकि इसमें ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को राजनैतिक व्यवस्था का आधार माना गया था।

पवित्र मैत्री की यह योजना कोई नई नही थी। यूरोप में संयुक्त रूप से शान्ति स्थापित करने हेतु इससे पहले भी दो योजना बन चुकी थीं प्रथम तो प्रशा के सम्राट हेनी चतुर्थ द्वारा निर्मित महान योजना तथा दूसरी फ्रांस के विद्धान एबो द सेन्टपीयर द्वारा बनाई गई संघ योजना। किन्तु ये दोनों ही योजनाएं कार्यान्वित नहीं हो सकी थी। 1804 में जार अलेक्जेण्डर ने इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट के समक्ष इन योजनाओं के आधार पर संयुक्त व्यवस्था की योजना रखी थी। किन्तु नेपोलियन के पतन के बाद इस योजना को उसके पवित्र मैत्री का जामा पहनाया तथा उसे धर्म का रूप दे दिया था।

5.2.1 पवित्र मैत्री की विशेषताएं :

पवित्र मैत्री की इस योजना की प्रस्तावना में कहा गया था कि पिछले 20 वर्षों की घटनाओ के आधार पर रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के शासक इस निर्णय पर पहुंचे है कि यूरोप में शांति स्थापना के लिए ईसाई धर्म के महान् सिद्धान्तों के आधार पर पवित्र मैत्री की स्थापना हो। योजना की धाराओं में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें कही गई थी –

1. यूरोप के सभी राजाओ के आपसी सम्बन्ध ईसाई धर्म के सिद्धान्त न केवल तत्कालीन निर्णयो को प्रभावित करेंगे वरन् भविष्य में भी नीति निर्धारण करने में उनका मार्गदर्शन करेंगे। यूरोप के सभी राजा परस्पर एक विशाल परिवार के सदस्यों की भांति व्यवहार करेंगे और इसी उद्देश्य से एक दूसरे की सहायता करेंगे।

2. यूरोप के सभी राजा भ्रातृत्व के अटूट बंधन में बंधे रहेंगे तथा अपनी प्रजा व सेना से पितृवत् व्यवहार करेंगे। सभी एक ही ईसाई राष्ट्र के सदस्य के समान आचरण करते हुये धर्म, न्याय और शांति की रक्षा करेंगे।

3. जनता ईसाई धर्म के पवित्र कर्त्तव्यों का आचरण करे और यह स्वीकार करे कि वास्तव में विश्व में परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई सम्राट होने योग्य नहीं है। सम्पूर्ण शक्ति का वही स्वामी है जिसके आदेश सर्वोपरि है।

5.2.2 पवित्र मैत्री की स्वीकृति :

पोप और टर्की के सुल्तान को छोड़कर यूरोप के लगभग सभी शासको ने इस पवित्र मैत्री के अभिलेख पर हस्ताक्षर किये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इंग्लैण्ड के प्रिन्स रीजेन्ट ने पवित्र मैत्री के सिद्धान्तों की बड़ी प्रशंसा की, किन्तु उस पर हस्ताक्षर करने में अपनी असमर्थता प्रकट की क्योंकि ब्रिटिश संविधान के अनुसार जब तक इस लेख पर किसी उत्तरदायी मन्त्री के हस्ताक्षर नहीं हो जाते जब तक उसके हस्ताक्षर अर्थहीन होंगे। प्रशा और आस्ट्रिया के शासकों ने रूस के जार को प्रसन्न करने के लिए उस पर हस्ताक्षर कर दिये। किन्तु इसका अनुमोदन और इस पर हस्ताक्षर करने के बाद भी रूस के शासक को छोड़कर, अन्य किसी ने भी, इसके सिद्धान्तों का पालन करने का प्रयत्न नही किया। फलतः यह पवित्र मैत्री आरम्भ से ही प्रभावहीन रही। फिर भी जब तक जार अलेक्जेण्डर प्रथम जीवित रहा तब तक यह पवित्र मैत्री नाम मात्र के लिये चलती रही, किन्तु 1825 ई. उसकी मृत्यु के साथ ही पवित्र मैत्री का यह संघ भी समाप्त हो गया।

5.3 चतुर्राष्ट्रीय मैत्री :

जहां नैतिकता एवं धार्मिकता को उद्घोषित करने वाली पवित्र मैत्री का निर्माण हुआ था वहां उसकी अवधि में एक राजनैतिक गुट का जन्म हुआ जिसे चतुर्राष्ट्र मैत्री कहा जाता है। इसका प्रवर्त्तक मेटरनिख था जो रूस के जार की तरह कल्पना की दुनियां में विचरण करने वाला व्यक्ति नहीं था बल्कि उसके विचारों में व्यावहारिक कार्यक्रम था। मेटरनिख के प्रस्ताव पर 20 नवम्बर 1815 को वियना सम्मेलन के चार बड़े राज्यों – रूस, आस्ट्रिया, प्रशा और ब्रिटेन ने एक समझौते द्वारा चतुर्राष्ट्र मैत्री की स्थापना की। यह मैत्री बहुत समय तक यूरोप के राजनैतिक मामलो का संचालन करती रही तथा इस चतुर्राष्ट्र मैत्री के आधार पर ही यूरोप की संयुक्त व्यवस्था कार्य प्रारम्भ हुआ।

5.3.1चतुर्राष्ट्र मैत्री के उद्देश्य :

चतुर्राष्ट्र मैत्री एक ऐसा शक्तिशाली राजनैतिक संगठन था जो यूरोपीय समस्याओं का शांतिपूर्ण तरीकों से हल खोजने के लिए बनाया गया था। इस संगठन की स्थापना मुख्यतः निम्निलिखित उद्देश्यों को लेकर हुई थीं

1. शामो तथा वियना के सिद्धान्तो पर आधारित व्यवस्था का पालन करना तथा यूरोप की राजनैतिक स्थिरता एवं शान्ति को सुरक्षित रखना।

2. फ्रांस के साथ की गई पेरिस की द्वितीय संधि का पालन करना।

3. यूरोप की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का हल करने के लिए शान्तिमय साधनों का प्रयोग करना।

4. यदि किसी राज्य की आन्तरिक समस्याओं के कारण शांति भंग होने की सम्भावना हो तो अन्य राज्यों द्वारा (चतुर्राष्ट्र मैत्री पर हस्ताक्षर करने वाले) उस राज्य के आन्तरिक मामलों में, शांति स्थापित करने के लिये हस्तक्षेप करना।

5. नेपोलियन तथा उसके किसी सम्बन्धी की फ्रांस का राजा बनने से रोकना।

6. विश्व कल्याण के लिये चारो राज्यों (रूस, आस्ट्रिया, प्रशास व ब्रिटेन) के बीच स्थापित घनिष्ठ सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समय–समय पर शासकों अथवा उनके मन्त्रियों के सम्मेलन आयोजित करना, जिनमें यूरोप की शांति तथा जनता की सुख समृद्धि के लिये विभिन्न उपायों के बारे में विचार विमर्श करना।

7. क्रांति युक्त राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करना तथा निरंकुश शासकों के अधिकारों को स्थाई बनाये रखना।

इस सन्धि के अनुसार एक ऐसी नवीन कूटनीतिज्ञ पद्धति की नीव रखी जा सकती थी, जिसके द्वारा बड़े राज्यों के मतभेदों के समाधान के साथ–साथ मानवता का अधिक कल्याण किया जा सकता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की एक नई व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था को यूरोप की संयुक्त व्यवस्था या कांग्रेस प्रणाली के नाम से पुकारते है।

5.4 यूरोप की संयुक्त व्यवस्था की कार्य प्रणाली :

इस प्रकार 'पवित्र मैत्री' तथा चतुर्राष्ट्र मैत्री को मिलाकर जो व्यवस्था की गई वह यूरोप की संयुक्त व्यवस्था के नाम से विख्यात हुई। इस व्यवस्था में चतुर्राष्ट्र मैत्री के अन्तर्गत यूरोप की समस्याओं को सुलझाने के लिये 1818 ई. में एक्स ला शैपल, 1820 ई. में ट्रोपों, 1821 ई. में लाईबेख, 1822 ई. में वेरोना में सम्मेलन हुए और 1825 ई. मे सेन्टीपीटर्स वर्ग मे अन्तिम सम्मेलन हुआ। इस प्रकार लगभग दस वर्ष तक सम्मेलनों द्वारा यूरोप की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न किये गये। इसलिये इस काल को 'कांग्रेस का युग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी कहते है। संयुक्त व्यवस्था के समय जो सम्मेलन हुए तथा जो प्रमुख घटनाएं घटित हुई उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

5.4.1एक्स ला शैपल का सम्मेलन :

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अक्टूबर 1818 ई. में एक्स ला शैपल नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन के समक्ष कुछ छोटे यूरोपीय राज्यों से सम्बन्धित विषयों से अतिरिक्त मुख्य प्रश्न फ्रांस का था। फ्रांस ने संधि की शर्तों का पालन किया था अतः फ्रांस की संतोषजनक आंतरिक स्थिति को देखते हुए वहां से मित्र राष्ट्रों की सेनाएं हटा ली गई। फ्रांस के प्रतिनिधि ड्यू–द–रिशल ने अपने राज्य को समानता के आधार पर चतुर्राष्ट्र मैत्री अब पंच राष्ट्र संघ में परिवर्तित हो गई। इसके साथ ही एक घोषणा द्वारा जिसमें फ्रांस भी सम्मिलित था, पांचों राज्यों ने अपने घनिष्ठ सम्बन्धों को बनाये रखने तथा सन्धियों की मान्यताओं के आधार पर शांति की रक्षा करने के अपने उद्देश्य की पुष्टि की।

उपर्युक्त मुख्य प्रश्न के अतिरिक्त छोटे राज्यो से सम्बन्धित विषयों पर भी विचार किया गया जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. स्वीडन के शासक बर्नाडोट से, डेनमार्क से सम्बन्धित कील की संधि की शर्तों का उल्लंघन करने का कारण पूछा गया। बर्नाडोट ने इसका प्रत्युत्तर दिया कि बड़े राष्ट्रों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार कर रहे है।

2. मोनेको के शासक को अपने राज्य मे व्यवस्थित शासन स्थापित करने का आदेश दिया गया तथा हेस के शासक को सम्राट की उपाधि प्रदान करने से इन्कार कर दिया गया।

3. बेडन के उत्तराधिकारी का प्रश्न तथा बवेरिया के सीमा सम्बन्धी विवाद पर भी विचार किया गया, किन्तु इसके विषय में अन्तिम निर्णय फ्रेंकफर्ट की संधि (20 जुलाई 1819) द्वारा हुआ।

4. सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि यूरोप के अन्य राज्यों की आर्थिक स्थिति को कैसे सुधारा जाये।

5. पारस्परिक सहयोग की भावना का प्रचार करने तथा धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ सदस्यों का एक बोर्ड गठित किया गया।

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था को सबसे अधिक सफलता इसी सम्मेलन से प्राप्त हुई। उसकी शक्ति और प्रभाव में काफी वृद्धि हुई। मेटरनिख इस सम्मेलन की कार्यवाही से बड़ा सन्तुष्ट हुआ और उसने कहा, मैने अपने जीवन मे ऐसी सुन्दर छोटी बैठक नहीं देखी। इस सम्मेलन में यह भी निर्णय लिया गया कि यदि सम्मेलन में छोटे राज्यों के मामलों पर विचार हो रहा हो तो वे छोटे राज्य भी सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि भेज सकते है।

यद्यपि एक्स–ला–शैपल सम्मेलन ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये थे, किन्तु वास्तव में इसी समय से ब्रिटेन और निरंकुश राज्यों में सैद्धान्तिक मतभेद आरम्भ हो गया। हेरल्ड निकलसन ने लिखा है कि, सभी विचारशील प्रेक्षकों की दृष्टि में यही उसके अन्त का आरम्भ था। 'एक्स–ला–शैपल' का सम्मेलन समाप्त होते ही कुछ घटनाएं ऐसी घटी जिनके कारण पंच राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेद बढ़ने लगे तथा संयुक्त व्यवस्था के विघटन की समस्या उत्पन्न हो गयी । मुख्य विवादपूर्ण घटनाएं निम्नलिखित थी –

1. जर्मनी के राज्यों मे क्रांतिकारी सिद्धान्तों का प्रभाव बढ़ रहा था। 23 मार्च 1819 को प्रसिद्ध नाटककार काटजेब जो रूस का वेतन भोगी था, की कर्लसेण्ड नामक युवक ने हत्या कर दी। इस घटना से मेटरनिख को जर्मनी मे उदारवाद का दमन करने तथा अपनी प्रतिक्रियावादी नीति को कार्यान्वित करने का अवसर मिल गया। उसने प्रशा और जर्मनी के शाकसें को कार्ल्सवाद के आदेश की स्वीकृति देने के लिये तैयार कर लिया। इस आदेश के अनुसार जर्मनी में विद्यार्थी आन्दोलनों, समाचार पत्रों, विश्वविद्यालयों आदि पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मेटरनिख का उद्देश्य जर्मनी में उदारवाद को रोकना तथा जर्मनी में आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित करना था। किन्तु जब मेटरनिख ने अन्य बड़े राज्यों से अपनी जर्मन नीति का अनुमोदन कराना चाहा तो रूस के जार ने कार्ल्सवाद की नीति का विरोध किया। ब्रिटेन की ओर से कैसलरे ने भी इस नीति का समर्थन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योंकि वह दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना अनुचित समझता था।

2. मित्र राज्यों में मतभेद उत्पन्न करने वाली दूसरी समस्या स्पेन के दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों की थी। जब स्पेन पर नेपोलियन का अधिकार हुआ तभी इन उपनिवेशों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। नेपोलियन के पतन के बाद स्पेन के शासक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

फर्डीनेण्ड ने मित्र राज्यों से अपील की कि विद्रोही उपनिवेशों को पुनः स्पेन के आधिपत्य में लाने के लिए उसे सैनिक मदद की जाये। रूस और आस्ट्रिया सैनिक सहायता देने के पक्ष मे थे, किन्तु ब्रिटेन ने उसका विरोध किया क्योकि इन उपनिवेशों में ब्रिटेन को व्यापक व्यापारिक सुविधाएं मिली हुई थी और उसे भय था कि इन उपनिवेशों पर पुनः स्पेन का अधिकार हो जाने से उससे व्यापारिक हितों को आघात पहुंचेगा। ब्रिटेन के विदेश मन्त्री कैसलरे ने इसे स्पेन का ऐसा आन्तरिक मामला बताया जिससे यूरोप की शांति भंग होने की कोई सम्भावना नही थी। मेटरनिख स्पेन की मदद करना चाहता था किन्तु ब्रिटेन के तीव्र विरोध के कारण वह कुछ नहीं कर सका। इस घटना से यह स्पष्ट हो गया कि मित्र राष्ट्रों के पारस्परिक हितों में घोर टकराव है।

3. वियना कांग्रेस ने दास व्यापार की निन्दा की थी, किन्तु यह अनैतिक व्यापार अभी तक पूर्ववत् चल रहा था। अतः दास व्यापार का अन्त करने के लिये ब्रिटेन ने सुझाव दिया कि सभी राष्ट्रो को दूसरे के जहाज की तलाशी लेने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु ब्रिटेन का यह प्रस्ताव अमान्य कर दिया गया। इसी प्रकार अफ्रीका के समुद्री डाकुओं से सुरक्षा हेतु रूस द्वारा प्रस्तावित तथा प्रशा द्वारा समर्थित एक सम्मिलित जहाजी बेड़े को भूमध्यसागर भेजने का प्रस्ताव ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया, क्योंकि इससे ब्रिटेन की समुद्री शक्ति को भय उत्पन्न हो सकता था। इस प्रकार बड़ी शक्तियों के बीच मतभेद निरन्तर बढ़ रहे थे।

4. मार्च 1820 मे नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड के विरूद्ध हुआ। रूस के जार ने अपनी सेना भेजकर स्पेन के शासक की मदद करने का प्रस्ताव रखा किन्तु मेटरनिख ने इस हस्तक्षेप को अनावश्यक बताकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटेन भी स्वतन्त्र राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का समर्थक था।

5. स्पेन की क्रान्ति के प्रभाव से जुलाई 1820 में नेपिल्स में भी क्रांति हो गई और वहा के शासक फर्डीनेण्ड प्रथम को स्पेन संविधान को स्वीकार करना पड़ा। मेटरनिख इस क्रांति से चिन्तित था क्योंकि इससे इटली में आस्ट्रिया के प्रभाव को धक्का पहुंचता था। स्पेन के विद्रोह के समय मेटरनिख ने रूस को हस्तक्षेप करने से रोका था, किन्तु नेपिल्स के विद्रोह को वह दबाना चाहता था। रूस और फ्रासं यह नहीं चाहते थे कि नेपिल्स मे अकेले आस्ट्रिया को हस्तक्षेप करने दिया जाये। इसी प्रकार अगस्त 1820 में पुर्तगाल में भी क्रांति हो गयी और वहां के शासक को स्पेन के 1812 में वहां के शासक को स्पेन के 1812 के संविधान को स्वीकार करना पड़ा।

इस प्रकार मित्र राज्यों में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को लेकर मतभेद बढ़ता गया। मेटरनिख की मान्तया थी कि उसे यूरोपीय शान्ति को खतरा पहुंचने की संभावना होने पर दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। किन्तु ब्रिटेन इस विचार से सहमत नहीं था। इस प्रकार चतुर्राष्ट्र मैत्री की स्थापना के बाद से ही हस्तक्षेप और हस्तक्षेप के सिद्धान्तों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन के विरोध के बावजूद मेटरनिख, जर्मनी मे जो जी में आया करता रहा, किन्तु कैसलर के विरोध ने संयुक्त व्यवस्था के विनाश का बीजारोपण कर दिया था।

5.4.2 ट्रोपो का सम्मेलन :

मुख्य रूप से नेपिल्स की समस्या को सुलझाने तथा विद्रोह का दमन करने की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए संयुक्त व्यवस्था का दूसरा सम्मेलन आस्ट्रिया के सम्राट फ्रसिस प्रथम तथा प्रधानमन्त्री मेटरनिख, रूस के जार अलेक्जेण्डर, प्रशा के युवराज एवं मन्त्री हार्डनबर्ग उपस्थित थे किन्तु फ्रांस और ब्रिटेन की और से कोई विशेष प्रतिनिधि इस सम्मेलन मे नहीं भेजे गये। मेटरनिख ब्रिटेन और फ्रांस की उपेक्षा करके प्रशा तथा रूस से अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के सिद्धान्तो का पूर्ण समर्थन चाहता था अतः मेटरनिख ने अपने सिद्धान्तों के आधार पर एक मसविदा तैयार किया जिस पर 19 नवम्बर 1820 को रूस, प्रशा व आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर कर दिये। इस मसविदे मे मुख्य रूप से दो बातें कही गई थीं –

1. रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप के सिद्धान्त से सहमत होते हुए घोषणा की कि जनता अपने राजा को विवश करके उससे कोई अधिकार नहीं छीन सकती।"

2. यदि किसी राज्य में राष्ट्रीय आन्दोलन होने लगे, जिसके परिणाम स्वरूप पड़ौसी राज्य के लिये खतरा उत्पन्न हो जाये या खतरे की संभावना हो तो पड़ौसी राज्य को अपनी सेनाएं भेजकर आन्दोलन का दमन करने का अधिकार होगा। कांग्रेस को यह भी अधिकार होगा कि वियना व्यवस्था की रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रो की सेना का उपयोग करे।" इस प्रकार मेटरनिख ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'ट्रोपों सिद्धान्त' कहते है।

उपर्युक्त मसविदे को रूस, प्रशा व आस्ट्रिया ने तो स्वीकार कर लिया था किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बाद में फ्रांस ने कुछ आरक्षणों के साथ इसे स्वीकार कर लिया, किन्तु कैसलरे ने इसका इस आधार पर विरोध किया कि किसी भी राज्य में आन्तरिक क्रांति या विद्रोह के कारण सशस्त्र हस्तक्षेप करने से उसकी आन्तरिक सम्प्रभुता की उचित मान्यताएं नष्ट हो जायेगी। उसने यह भी कहा कि इस व्यवस्था से शासक और प्रजा के बीच गहरी खाई उत्पन्न हो जायेगी तथा शासकों को अपने सिंहासन की रक्षा के लिये बाहरी शक्तियों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार इस सम्मेलन में पंचराष्ट्र संघ स्पष्टः दो गुटों में विभाजित हो गया, एक और रूस, प्रशा और आस्ट्रिया थे तो दूसरी और फ्रांस और ब्रिटेन थे। महान् शक्तियों के पारस्परिक विरोध के कारण कुछ भी निश्चय नहीं हो पाया। इन सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद संयुक्त व्यवस्था अभी टूटी नहीं थी।

5.4.3 लाइबेख का सम्मेलन :

इटली की समस्या पर बिना कोई निर्णय लिये ट्रापो सम्मेलन कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया गया तथा जनवरी 1821 में लाइबेख में पुनः उसका अधिवेशन हुआ। इस समय इटली के राज्यों में विद्रोह हो रहे थे तथा नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड को वहां से भगा दिया था। इन्हीं विद्रोहों को दबाने के लिये लाइबेख में सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड को भी बुलाया गया। फर्डीनेण्ड की प्रार्थना पर सम्मेलन में आस्ट्रिया को अधिकार दिया गया कि वह नेपिल्स के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर विद्रोह का दमन करे। रूस के जार ने इस कार्य के लिये सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। ब्रिटेन की और से लार्ड स्टेवर्ट ने इस नीति का विरोध किया, किन्तु आस्ट्रिया को इटली मे अपना प्रभाव बढ़ाने का जो अवसर मिला था उसे वह खोने वाला नही था। मार्च 1821 मे आस्ट्रिया की 800,000 सेना नेपिल्स में प्रविष्ट हुई तथा बड़ी निर्दयता से विद्रोह को कुचल कर फर्डीनेण्ड को पुनः सिंहासन पर आसीन कर दिया। इस प्रकार वहां पुनः निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित हो गया।

5.4.4 पीडमान्ट का विद्रोह :

जब नेपिल्स का विद्रोह दबाया जा रहा था उसी समय 10 मार्च 182। को पीडमान्ट में भी विद्रोह की ज्वाला धधक उठी। पीडमान्ट और इटली से आस्ट्रिया को बाहर निकालने तथा स्पेन के संविधान को लागू करने के लिये यह विद्रोह हुआ था। आरम्भ मे विद्रोहियों को कुछ सफलता मिली उसका भाई चार्ल्स फैलिक्स गद्दी पर बैठा जो स्वभाव से निरंकुश था। चार्ल्स फैलिक्स ने आस्ट्रिया की सहायता से 8 अप्रेल 1821 को क्रांतिकारियों को पूर्णतः परास्त कर दिया।

लाइबेख के सम्मेलन में मेटरनिख के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी नीति का प्राधान्य रहा। यद्यपि ब्रिटेन ने इस नीति का दृढ़ता से विरोध किया किन्तु उसने विद्रोहियों तथा क्रांतिकारियों को किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुंचायी। फिर भी इंग्लैण्ड के विरोध ा के कारण महाशक्तियों में मतभेद कटुता के साथ उभर कर आया। परिणामस्वरूप संयुक्त व्यवस्था पहले की अपेक्षा अधिक निर्बल हो गयी तथा चतुराष्ट्र मैत्री का विघटन अब अवश्यंभावी प्रतीत होने लगा।

5.4.5 वेरोना का सम्मेलन :

लाइबेख में यह निर्णय किया गया था कि कांग्रेस का अगला अधिवेशन इटली के प्रसिद्ध नगर वेरोना में होगा। अतः 1822 में संयुक्त व्यवस्था का चौथा अधिवेशन वेरोना में हुआ। इस सम्मेलन में प्रमुख रूप से तीन समस्याओ पर विचार करना था —

1. यूनान और टर्की का प्रश्न
2. स्पेन एवं उसके दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेश
3. इटली की स्थिति।

सम्मेलन आरम्भ होने से पहले 12 अगस्त 1822 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री कैसलरे की मृत्यु हो चुकी थी तथा जार्ज केनिंग नया विदेश मन्त्री बना। सम्मेलन में ड्यूक आफ वेलिंगटन को ब्रिटेन के प्रतिनिधि के रूप में भेजा गया।

यूनान ने टर्की के विरूद्ध विद्रोह कर दिया था। रूस यूनान को टर्की के विरूद्ध सहायता देना चाहता था किन्तु आस्ट्रिया व ब्रिटेन रूस को यूनान में स्वतन्त्र रूस में कार्यवाही नहीं करने देना चाहते थे क्योंकि उन्हें भय था कि रूस यूनान को सहायता देने के बहाने भूमध्यसागर व बाल्कन प्रायः द्वीप में अपना प्रभाव बढ़ा लेगा। सम्मेलन में यूनान की समस्या पर विचार स्थगित कर दिया गया। आस्ट्रिया व ब्रिटेन के संयुक्त प्रयासों से रूस और टर्की के युद्ध की आशंका टल गई थी जिससे रूस, यूनान में हस्तक्षेप नहीं कर सका।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

सम्मेलन में मुख्य रूप में स्पेन के विद्रोह के सम्बन्ध में विचार किया गया। स्पेन के शासक फर्डीनेन्ड सप्तम् ने जब विद्रोह के दमन हेतु फ्रांस से सहायता मांगी तो वह स्पेन में उसी प्रकार हस्तक्षेप करने को तैयार हो गया जैसा कि आस्ट्रिया ने इटली में किया था। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और कहा कि स्पेन में हस्तक्षेप करना न केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से आपत्तिजनक है, वरन् व्यवहारिक रूप से उसे कार्यान्वित करना भी कठिन है। किन्तु रूस, आस्ट्रिया व प्रशा तो हस्तक्षेप करने के प्रबल समर्थक थे। अतः सम्मेलन मे स्पेन में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया गया तथा हस्तक्षेप करने का काम फ्रांस को सौपा गया। ब्रिटिश प्रतिनिधि ड्यूक आफ वेलिंगटन सम्मेलन से निकल आया। 7 अप्रेल 1823 को फ्रांसिसी सेना स्पेन में प्रविष्ट हुई तथा छः महीनो में स्पेन को रौद डाला। फर्डीनेण्ड स्पेन का पुनः निरंकुश शासक बन गया।

वेरोना सम्मेलन संयुक्त व्यवस्था एक प्रकार से अन्तिम सम्मेलन था। यद्यपि इसके बाद संयुक्त व्यवस्था के दो सम्मेलन हुए किन्तु वे नाम मात्र के थे वेरोना में रूस, प्रशा व आस्ट्रिया की नीति से क्षुब्ध होकर ब्रिटेन संयुक्त व्यवस्था से अलग हो गया और इस प्रकार संयुक्त व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ के अलग हो जाने से संयुक्त व्यवस्था का अन्त निश्चित हो गया।

5.4.6 कांग्रेस व्यवस्था और मुनरो का सिद्धान्त :

स्पेन में फर्डीनेण्ड सप्तम् की सत्ता पुनः स्थापित हो जाने के बाद स्पेन के दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों की समस्या सामने आई। स्पेन का शासक अन्य यूरोपीय राज्यों की सहायता से दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों पर अपना पुनः आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। फ्रांस ने इस प्रकार का प्रस्ताव कांग्रेस के समक्ष रखने का प्रयत्न किया तो ब्रिटिश विदेश मंत्री केनिग ने इसका उग्र विरोध किया तथा घोषणा की कि स्पेनिश उपनिवेशों में स्पेन के अतिरिक्त यूरोप के किसी अन्य राज्य ने हस्तक्षेप किया तो ब्रिटेन इसका विरोध करेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर तलवार भी उठायेगा। इधर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी नहीं चाहता था कि दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों पर यूरोपीय राज्य का पुनः आधिपत्य हो। अमेरिकी राष्ट्रपति जेम्स मुनरो ने 2 दिसम्बर 1823 को अमेरीकी कांग्रेस को दिये गये संदेश में दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की जो मुनरो सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार भविष्य में अमेरीकी महाद्वीपों में यूरोपीय राज्यों के उपनिवेश स्थापित नहीं किये जायेंगे। यदि कोई यूरोपीय शक्ति इन महाद्वीपों में यूरोपीय राज्यों के उपनिवेश स्थापित नहीं किये जायेगे। यदि कोई यूरोपीय शक्ति इन महाद्वीपो की राजनैतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने अथवा नये क्षेत्रों पर अधिकार करने का प्रयत्न करेगी तो संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे प्रयत्न को अपने प्रति शत्रुता का व्यवहार समझेगा। इस घोषणा से स्पेन की आशाओं पर पानी फिर गया। 1830 ई. तक स्पेनिश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये। इस परिस्थिति के विषय में केनिंग ने बड़ी प्रसन्नता से कहा, मैने पुरानी दुनिया के शक्ति संतुलन को ठीक रखने के लिये नई दुनिया का सृजन किया है।"

5.4.7 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास :

यूरोप के हित को ध्यान में रखते हुए जार अलेक्जेण्डर ने जून 1824 में सेंटीपीटर्सबर्ग में बड़े राज्यो का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसका उद्देश्य सामूहिक हस्तक्षेप द्वारा यूनान एवं टर्की की समस्या को सुलझाना था। केनिंग का दृष्टिकोण यह था कि यदि दोनो पक्ष इस सम्मेलन के निर्णय को स्वीकार करने तथा बिना शक्ति प्रयोग के शांति स्थापित की जा सके तो यह सम्मेलन मध्यस्थ के रूप में उपयोगी हो सकता है। इसीलिये ब्रिटेन ने सम्मेलन की प्रारम्भिक बैठको मे भाग लेने के लिये अपना प्रतिनिधि भेजा। इधर टर्की के सुल्तान ने बड़ी शक्तियो के हस्तक्षेप का विरोध किया और दूसरी ओर यूनानियों ने केनिंग से शिकायत की कि उन्हें हाथ पैर बांध कर टर्की को समर्पित किया जा रहा है।" यूनानियों ने यह भी कहा कि टर्की के समक्ष समर्पण करने की अपेक्षा वे अपने अन्तिम वीर के नष्ट होने तक संघर्ष करना उचित समझेंगे। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटेन ने सम्मेलन की कार्यवाही से अलग होना ही उचित समझा। इस प्रकार ब्रिटेन का संयुक्त व्यवस्था से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इधर रूस और आस्ट्रिया में भी मतभेद बढ़ गये। सेंटपीटसैबर्ग की सभा टर्की के सुल्तान को एक संयुक्त प्रपत्र द्वारा दोनों पक्षो में समझौता करने हेतु मध्यस्थता का सुझाव देकर विसर्जित हो गयी। इससे रूस के जार को यह विश्वास हो गया कि भविष्य में पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में यूरोप का प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपनायेगा। अतः अब रूस ने भी निश्चय किया कि भविष्य में पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में रूस भी अपनी स्वतन्त्र नीति अपनायेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास भी विफल हो गया तथा यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का विघटन हो गया।

5.5 संयुक्त व्यवस्था की असफलता के कारण :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नेपोलियन के दीर्घकालीन युद्धों के बाद यूरोप में शांति बनाये रखने हेतु जिस संयुक्त व्यवस्था का निर्माण किया गया वह अपने अल्प जीवन में ही समाप्त हो गई तथा यूरोप में शान्ति बनाये रखने का प्रयास विफल हो गया। इस संयुक्त व्यवस्था की असफलता के कई कारण थे, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित है –

5.5.1. परस्पर विरोधी हितों का संघर्ष :

यूरोपीय संयुक्त व्यवस्था मे सदस्य राष्ट्रों के अपने–अपने हित निहित थे जिनमें कोई साम्यता नहीं थी। उनके राजनैतिक एवं व्यापारिक हितों में भिन्नता थी तथा उनके राजनैतिक दृष्टिकोण भी भिन्न थे। एक ओर ब्रिटेन और फ्रांस में संवैधानिक राजतन्त्र थे, तो दूसरी ओर रूस, प्रशा और आस्ट्रिया में निरंकुश राजतंत्र थे। शासन प्रणाली में सैद्धान्तिक भिन्नता के कारण किसी भी समस्या पर उनका दृष्टिकोण समान हो ही नहीं सकता था। कोई संघात्मक व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसके सदस्यों के सामान्य हित समान न हो। संयुक्त व्यवस्था के सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक हित एक दूसरे से भिन्न थे। थॉमसन ने लिखा है कि "आस्ट्रिया, रूस एवं प्रशा संयुक्त व्यवस्था का प्रयोग प्रजातंत्र की बाढ़ को रोकने के लिये बांध के रूप मे करना चाहते थे, किन्तु इंग्लैण्ड इसे एक खुले दरवाजे के रूप में देखना चाहता था ताकि उदारता एवं राष्ट्रीयताओं की भावनाओं का आवश्यकतानुसार प्रवेश होता रहे।" इसी प्रकार पूर्वी समस्या के सम्बन्ध में रूस और आस्ट्रिया के स्वार्थों का संघर्ष हुआ तथा इन दोनो के बीच तीव्र कटुता उत्पन्न हो गयी।

5.5.2. प्रतिक्रिया का साधन :

संयुक्त व्यवस्था की असफलता का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कारण यह था कि मेटरनिख के नेतृत्व में वह प्रतिक्रिया का साधन बन गयी। इंग्लैण्ड को छोड़कर व्यवस्था की सभी नीतियां राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिए बनाई गयी थी जिससे जनता के हृदय में उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। डेविड थॉमसन ने लिखा है कि "इस व्यवस्था का दुर्भाग्य था कि मेटरनिख ने अप्रगतिशील उद्देश्य से उसका प्रयोग परिवर्तन को रोकने के लिये, ऐसे युग में किया जब कि प्रगतिशील विचारधाराएं प्रतिक्रियावादी व्यवस्था के विरूद्ध अधिक प्रभावशाली होती जा रही थी। लोकतंत्र, उदारवाद और राष्ट्रीयता की प्रगतिशील विचारधाराओं के प्रबल वेग के समक्ष निरंकुश शासको की प्रतिक्रियावादी नीति पर आधारित व्यवस्था का टूटना स्वाभाविक ही था।" वस्तुतः राष्ट्रीय भावनाओ की अवहेलना के कारण संयुक्त व्यवस्था ने अपनी मृत्यु घंटिका स्वयं ही बजा दी थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी प्रतिक्रियावादी शक्तियां प्रगतिवादी शक्तियों से टकराती है तो प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पराजय निश्चित हो जाती है।

5.5.3. छोटे राज्यों की अपेक्षा :

संयुक्त व्यवस्था केवल पांच बड़े राज्यो – रूस, प्रशा, आस्ट्रिया, फ्रांस और ब्रिटेन का संगठन था तथा इसमें छोटे राज्यों का कोई स्थान नहीं था। बड़े राष्ट्र ही यूरोपीय समस्याओं पर, चाहे वह छोटे राज्यों से सम्बन्धित ही क्यों न हो, विचार करते थे और निर्णय देते थे। छोटे राज्य केवल दर्शक की भांति उसके कार्यो में भाग ले सकते थे। अतः वे इस व्यवस्था से बड़े क्षुब्ध और असन्तुष्ट थे। एक्स–ला–शैपल के सम्मेलन मे स्वीडन के शासक ने बड़े राज्यों की तानाशाही का विरोध किया था। बड़े राज्य छोटे राज्य के आन्तरिक मामालों में मनचाहा हस्तक्षेप करते थे। यद्यपि बड़े राज्यों का हस्तक्षेप असहनीय होता था, किन्तु भय और निर्बलता के कारण छोटे राज्य कुछ भी कर सकने की स्थिति में नहीं थे। अतः छोटे राज्य अन्दर ही अन्दर बड़े राज्यों के विरोधी बनते गये तथा 1825 के बाद तो उन्होंने अपनी समस्याओं को स्वयं ही सुलझाना उचित समझा।

5.5.4. आंतरिक हस्तक्षेप की नीति :

प्रोफेसर केटलबी ने ब्रिटेन की इस व्यवस्था से अलग होना, संयुक्त व्यवस्था के विघटन का एक प्रमुख कारण माना है। ट्रापो के सम्मेलन में ही ब्रिटेन ने मेटरनिख की दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करने की नीति का विरोध किया था। वेरोना सम्मेलन में स्पेन की समस्या के सम्बन्ध में केनिंग ने फ्रांस द्वारा प्रस्तावित मित्र राज्यों के हस्तक्षेप का विरोध किया था तथा वेलिंगटन सभा से अलग हो गया। इस प्रकार ब्रिटेन संयुक्त व्यवस्था के सम्मेलन में दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामालों मे हस्तक्षेप की नीति का सदैव विरोधी रहा, जबकि अन्य सदस्य आन्तरिक हस्तक्षेप की नीति पर डटे रहे। इस कारण संयुक्त व्यवस्था में गहरी खाई उत्पन्न हो गयी। वेरोनी के पश्चात् केनिंग द्वारा स्पेन के दक्षिणी अमेरीकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का समर्थन तथा मुनरो के सिद्धान्त की घोषणा से संयुक्त व्यवस्था को भारी आघात लगा। इसीलिये मेटरनिख ने केनिंग के विषय में कहा था कि, वह क्रुद्ध विधाता द्वारा यूरोप पर प्रक्षेपित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनिष्टकारी उल्का था। जब इंग्लैण्ड अपनी अहस्तक्षेप की नीति के लिए अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं कर पाया तो उसके समक्ष केवल एक ही मार्ग रह गया था, संयुक्त व्यवस्था से अलग हो जाना। सेटपीटसबर्ग के सम्मेलन में केनिंग ने कुछ समय पश्चात् ही अलग होने का निर्णय लिया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अन्तिम प्रयास भी विफल हो गया। इंग्लैण्ड जैसे स्तम्भ राष्ट्र के अलग होते ही संयुक्त व्यवस्था की भव्य इमारत चरमराकर ध्वंस्त हो गयी।

5.5.5. संगठनात्मक दोष :

सयुंक्त व्यवस्था से संगठन में अनेक दोष विद्यमान थें प्रोफेसर चार्ल्स वैबस्टर ने लिखा है कि, ''संयुक्त व्यवस्था बहुत अंशों तक, एक विशिष्ट समय पर, विभिन्न यूरोपीय शासकों के व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर स्थापित की गई थी। उसको निश्चित संविधान द्वारा स्थायित्व प्रदान नहीं किया जा सका। इसीलिये उसके उद्देश्यों एवं अधिकारों के सम्बन्ध में सदैव अनिश्चितता बनी रही। इसका न तो कोई स्थायी कार्यालय था और न कर्मचारी ही थे यह तो केवल नेपोलियन के युद्धो के बाद यूरोप मे शांति बनाये रखने की इच्छा का परिणाम था। इसकी सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि इसकी सदस्यता सभी राष्ट्रों के लिए खुली नहीं थी तथा इसकी नीव किसी ठोस आधार पर नहीं रखी गयी थी। कमजोर और खोखली नींवों पर आधारित महल का निकट भविष्य में ढह जाना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक हितों का संघर्ष और उनके उद्देश्यों की विभिन्नता, राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने की इच्छा, छोटे राज्यों की उपेक्षा ब्रिटेन का व्यवस्था से अलग होना आदि के कारण संयुक्त व्यवस्था का पतन हो गया। वियना से वेरोना तक बड़े राज्यों का उद्देश्य यही रहा कि लोकतन्त्रीय शक्तियों का विरोध तथा दमन किया जाये। लोकतन्त्रीय भावनाओं के पीछे जनमत का प्रबल प्रवाह होता है और जो भी शक्ति इस प्रवाह को रोकने का प्रयास करती है वह स्वयं उस प्रवाह में वह जाती है तथा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। संयुक्त व्यवस्था ने लोकतन्त्र के प्रबल प्रवाह को रोकने का प्रयास किया जिससे उसका अस्तित्व समाप्त होना स्वाभाविक ही था।

5.6 संयुक्त व्यवस्था का इतिहास में महत्व :

यूरोप की संयुक्त व्यवस्था असफल रही, किन्तु इसकी असफलता के बावजूद यूरोप के इतिहास में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है। पांच बड़ी शक्तियों ने सामूहिक रूप से विचार–विमर्श द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने तथा यूरोप मे शान्ति बनाये रखने का प्रथम महत्वपूर्ण प्रयोग किया। यह प्रयोग सर्वथा निरर्थक नहीं रहा। 1815 से 1844 तक इन व्यवस्था ने यूरोप में शांति और समृद्धि के अवसर प्रदान किये जिसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक प्रवृतियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस व्यवस्था ने पारस्परिक सहयोग की भावना के आधार पर शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने की एक परम्परा स्थापित कर दी। आधुनिक काल के राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना मे इसी संयुक्त व्यवस्था से प्रेरणा प्राप्त की। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की दिशा में संयुक्त व्यवस्था एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रयोग सिद्ध हुआ। अतः यदि इसे विश्व संगठन का अग्रदूत कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी। वस्तुतः अंतराष्ट्रीयता के विकास के इतिहास मे यह व्यवस्था एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। इसके अतिरिक्त संयुक्त व्यवस्था के प्रयत्नो के फलस्वरूप 1815 से 1854 की अवधि मे कोई बड़ा युद्ध नहीं हो पाया। ग्रान्ट और टेम्परले ने ठीक ही लिखा है कि, ''अन्तर्राष्ट्रीय शासन के इस गम्भीर प्रथम प्रयास को महत्वहीन मानकर रद्द कर देना उचित नहीं है। बाद में यूरोप में अनेक सम्मेलन हुए तथा उनका नेतृत्व यद्यपि बड़े राष्ट्रो के हाथ मे ही रहा, किन्तु राजतन्त्र को पुनर्जीवित करने अथवा क्रांति की निन्दा करने अथवा दूसरे राज्यों में सशस्त्र हस्तक्षेप करने सम्बन्धी नीति की घोषणायें नहीं की गई। इन सम्मेलनों को संयुक्त व्यवस्था से प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा इन सम्मेलनों ने प्रतिक्रियावादी नीतियों के ध्वंस्त खंडहरों पर प्रगतिशील नीतियों का प्रासाद तैयार किया।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या संयुक्त व्यवस्था ने तात्कालिक युग की मांग को पूरा किया? जब कि सम्पूर्ण यूरोप नेपालियन के युद्धों से त्रस्त अशान्ति के सागर में डूबा हुआ था, संयुक्त व्यवस्था ने इस अशान्त सागर में शान्ति एवं स्थिरता उत्पन्न करने में भारी योगदान दिया। यद्यपि नेपिल्स, स्पेन, पीडमान्ट आदि अन्य स्थानों पर विद्रोह हुए, किन्तु ये विद्रोह केवल स्थानीय रहे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तथा इन विद्रोह के कारण यूरोप में कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। इन विद्रोहों के बावजूद यूरोप में शान्ति बनाये रखने में इस व्यवस्था ने अपूर्व योगदान दिया। इस व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ तथा पारस्परिक विचार–विमर्श द्वारा आपसी मतभेदों को सुलझाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई यद्यपि इस व्यवस्था से तात्कालिक युग की सभी आवश्यकताएं तो पूरी हो न सकी फिर भी कुछ अंशो तक इस व्यवस्था ने तात्कालिक युग की सभी मांगों को पूरा किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई संगठन, तात्कालिक युग की सभी मांगों को पूरा नही कर पाया। अतः संयुक्त व्यवस्था इसका अपवाद कैसे रह सकती थी ? निसन्देह संयुक्त व्यवस्था, युद्ध से जर्जर यूरोप में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई थी।

5.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – चतुर्राष्ट्र मैत्री किन–किन राष्ट्रों के बीच में सम्पन्न हुई ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – संयुक्त व्यवस्था की कार्यप्रणाली पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – संयुक्त व्यवस्था को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ईकाई – 3

इकाई 1

1848 की फ्रांसीसी क्रांति

1.0 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
1.1 1830 की क्रांति
1.2 लुई फिलिप और 1848 की क्रांति
1.2.1 लुई का व्यक्तित्व
1.2.2 लुई फिलिप की कठिनाइयाँ
1.2.3 लुई फिलिप की मध्यमार्गी नीति
1.3 लुई फिलिप की गृह नीति
1.4 लुई फिलिप की विदेश–नीति
1.4.1. बेल्जियम का मामला
1.4.2. पोलैण्ड और इटली की क्रांतियाँ
1.4.3. मिस्र का मामला
1.4.4. स्विट्जरलैण्ड का गृह–युद्ध
1.5 1848 की क्रांति के कारण
1.5.1. मध्यम वर्ग की प्रधानता
1.5.2. समाजवाद का उदय
1.5.3. लुई फिलिप की निर्बल संवैधानिक स्थिति

1.5.4. लुई फिलिप की दमनकारी नीति

1.6 क्रांति के परिणाम :

1.6.1. आर्लिया वंश का अंत

1.6.2. द्वितीय गणराज्य की घोषणा

1.6.3. मताधिकार का विस्तार

1.6.4. उदार संविधानवादी विचारधारा का विकास

1.6.5. सैनिकवादी भावना का उदय

1.6.6. सामाजिक परिवर्तन

1.6.7. प्राचीन मान्यताओं का अंत

1.6.8. जनसत्ता का महत्त्व बढ़ा

1.7 क्रांति की असफलता के कारण

1.7.1 क्रांति का केवल नगरों के मध्य वर्ग तक ही सीमित रहना

1.7.2. क्रांतिकारियों के उद्देश्य प्राप्ति के साधनों में भिन्नता

1.7.3. क्रांति के विभिन्न स्वरूप होना

1.7.4. क्रांति का नगरों तक सीमित रहना

1.7.5. राष्ट्रवाद का नारा सर्वव्यापक नहीं बन सका

1.7.6. शहरी लोगों में फूट

1.7.7. सैन्य शक्ति का अभाव

1.7.8. प्रतिवादात्मक क्रांति का प्रारंभ

1.7.9. फ्रांस व अन्य देशों से सहायता न मिलना

1.7.10. अनुभवी एंव योग्य नेता का अभाव

1.8 क्रांति का स्वरूप और उसका महत्त्व

1.9 बोध प्रश्न

1.0 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

1789 ई. में फ्रांसीसी जनता ने सदियों से चले आ रहे बुर्बों वंश के निरंकुश शासन का अंत करके फ्रांस में प्रथम गणतंत्र की स्थापना की। परन्तु 1808 ई. मे नेपोलियन बोनापार्ट ने गणतंत्र का गला घोटकर अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। नेपोलियन बोनापार्ट के पतन के बाद मित्र राष्ट्रों का वियना में एक सम्मेलन बुलाया गया। वियना सम्मेलन ने फ्रांस में पुनः बुर्बो वंश के निरंकुश शासन की घोषणा की और तदनुसार लुई सोलहवें के भाई लुई अठारहवें को फ्रांस के सिंहासन पर बैठाया गया।

15 सितम्बर, 1824 को लुई अठारहवे की मृत्यु के बाद उसका भाई काउण्ट आर्तुआ, चार्ल्स दशम के नाम से फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। वह क्रांति का कट्टर विरोधी एवं राजा के दैवी–अधिकारों का प्रबल समर्थक था। उसके संकेत पर प्रधानमंत्री विलेल उत्साह के साथ प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन करने लगा।

1.1 1830 की क्रांति :

सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के फलस्वरूप लोगो मेंअसंतोष बढ़ने लगा 1827 ई. में निम्न सदन के लिये नये चुनाव कराये गये जिसमें सरकार विरोधी दलों को बहुमत प्राप्त हो गया। प्रधानमंत्री विलेल को त्याग–पत्र देना पड़ा। उसके स्थान पर विकाम्टे–डि–मार्टिगनेक ने नया मंत्रिमण्डल बनाया। परन्तु वह सरकार विरोधी असंतोष को कम करने में असफल रहा। तब प्रिन्स जूल्स–डि–पोलिगनेक को प्रधानमंत्री बनाया गया। विरोधी दलों ने तत्काल ही पोलिगनेक के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया। सम्राट चार्ल्स दशम ने सदन को भंग कर जुलाई, 1830 में नये चुनाव कराये। चुनाव के बाद सदन में सरकार विरोधियों की संख्या और भी बढ़ गई।

सरकार विरोधियों का प्रभाव नष्ट करने के लिए 25 जुलाई, 1830 को चार्ल्स दशम ने चार अध्यादेश जारी किये जिनके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अन्तर्गत– 1. समाचार–पत्रों की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया, 2. नव–निर्वाचित सदन को भंग कर दिया गया, 3. निर्वाचन कानून में ऐसा संशोधन किया गया कि लगभग 75 प्रतिशत व्यक्ति मताधिकार से वंचित हो गए और 4. नये कानून के अन्तर्गत सितम्बर में नये चुनाव कराने की घोषणा की गई। इन अध्यादेशों से जन–असंतोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 26 जुलाई, 1830 को रातभर पेरिस नगर क्रांति के नारों एवं स्वाधीनता की जय–जयकार से गूँजता रहा। 27 जुलाई को चार्ल्स दशम के सैनिकों एवं क्रांतिकारियों में सशस्त्र संघर्ष शुरू हो गया। पेरिस की तंग एवं सर्पीली सड़कों में सशस्त्र सेना न तो तोपों का प्रयोग कर सकीं और न नागरिकों की मोर्चाबन्दी ही तोड़ सकी। 29 जुलाई को सेना की दो टुकड़ियाँ क्रांतिकारियों से जा मिली तथा क्रांतिकारियों ने पेरिस पर अधिकार कर लिया। क्रांति के ये तीन दिन फ्रांस के इतिहास में ''गौरवशाली तीन दिन'' के नाम से विख्यात है। ऐसी परिस्थिति में 30 जुलाई को चार्ल्स दशम अध्यादेशो को वापस लेने के लिए तैयार हो गया, लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। 31 जुलाई को चार्ल्स ने अपने पौत्र ड्यूक ऑफ बोद्रो के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया और स्वयं इंग्लैण्ड भाग गया। परन्तु जन नेताओं को बुर्बो वंश और उसके उत्तराधिकारी ड्यूक ऑफ बोद्रो में बिल्कुल विश्वास नहीं था। उन्होंने राजवंश की छोटी शाखा आर्लियाँ के ड्यूक लुई फिलिप को नया शासक चुना। 17 अगस्त, 1830 को सदन में उसे विधिवत् ''फ्रांसीसी जनता का राजा'' घोषित किया। इस प्रकार, फ्रांस में बुर्बो वंश की सत्ता समाप्त हो गई।

1.2 लुई फिलिप और 1848 की क्रांति :

1.2.1 लुई का व्यक्तित्व :

लुई फिलिप एक वैधानिक शासक की स्थिति एवं उसकी मर्यादाओं को भली–भाँति जानता था। फ्रांस में निरंकुश शासन के प्रति जो घृणा व्याप्त थी, उससे भी वह सुपरिचित था। अतः वह लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर शासन करना चाहता था। वह साधारण ढंग से रहता था। बगल में छाता दबाये पैदल ही पेरिस की सड़कों पर घूमने निकल जाता था। सभी प्रकार के लोगों से वह निःसंकोच मिलता था और कभी–कभी मजदूरो के साथ बैठकर शराब भी पी लेता था। इन दिखावटी कार्यो से आरम्भ मे उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ी। किन्तु वह अवसरवादी था। कुछ समय बाद यह स्पष्ट होने लगा कि उसके इस दिखावटीपन के पीछे सत्ता की भूख छिपी हुई थी। वह न तो उदारवादी था और न प्रतिक्रियावादी। उसमे सम्राट की महानता न होकर एक व्यापारी की नम्रता थी। उसने अपने शासनकाल में सभी पक्षो को संतुष्ट करने का प्रयास किया। किन्तु फिर भी उसकी कुछ कठिनाइयाँ और गृह तथा विदेश नीति की दुर्बलताएँ अंत में उसके पतन और 1848 की क्रांति का कारण बन गई।

1.2.2 लुई फिलिप की कठिनाइयाँ :

संवैधानिक दृष्टि से उसके अधिकार कमजोर थे, क्योंकि उसका निर्वाचन जनता द्वारा नहीं हुआ था बल्कि निम्न सदन द्वारा हुआ था। निम्न सदन द्वारा राजा चुनने का अधिकार भी संदिग्ध था क्योंकि चार्ल्स दशम ने निम्न सदन को भंग कर दिया था। इसके अतिरिक्त अनेक राजनैतिक दल उसके विरोधी थे। ड्यूक ऑफ बोद्रो के समर्थक भी उसके विरोधी थे। गणतंत्रवादी तो उसके प्रबल विरोधी थे। लुई फिलिप ने फ्रांस को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाना स्वीकार कर लिया था। इससे कैथोलिक लोग भी उससे नाराज हो गये। फ्रांस में केवल संविधानवादी उसके समर्थक थे।

1.2.3 लुई फिलिप की मध्यममार्गी नीति :

लुई के समर्थकों मे दो विचारधाराओं के लोग सम्मिलित थे। एक तो प्रगतिवादी थे, जो क्रांति के बाद कुछ और सुधार करने तथा उग्र विदेश नीति अपनाने के समर्थक थे। दूसरी तरफ रूढिवादी थे, जो यह मानते थे कि मौजूदा व्यवस्था में और किसी सुधार की आवश्यकता नहीं है। लुई ने प्रगतिवादी और रूढिवादी दोनों विचारधाराओ के मध्य ''न्याय संगत मध्यममार्गी नीति'' का अवलम्बन किया, जिसे ''स्वर्णिम मध्यममार्गी नीति'' भी कहा जाता है। वस्तुतः उसने सभी पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। गणतंत्रवादियों को प्रसन्न करने के लिए उसने बुर्बो राजवंश के सफेद झण्डे के स्थान पर क्रांति के प्रतीक तिरंगे झण्डे को राष्ट्रीय ध्वज बनाया। बोनापार्टिस्टों को संतुष्ट करने के लिए उसने नेपोलियन के अवशेषों को पेरिस के एक भव्य मंदिर में स्थापित किया। कट्टर राजसत्तावादियों को प्रसन्न करने के लिए उसने उच्च–मध्यम वर्ग को शासन में अधिक–से–अधिक महत्त्व दिया। जन–साधारण को संतुष्ट करने के लिए उसने स्वतंत्रताओं पर लगे सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिये। 25 वर्ष के उन सभी व्यक्तियो को जो 200 फ्रेंक प्रतिवर्ष कर देते थे, मताधिकार प्रदान किया गया।

यद्यपि लुई फिलिप ने अपनी मध्यममार्गी नीति द्वारा सभी पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु फ्रांस का कोई भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दल उससे संतुष्ट नही हुआ।

1.3 लुई फिलिप की गृह नीति :

यद्यपि लुई फिलिप केवल वैध राजसत्तावादियों एवं उच्च–मध्यम वर्ग के समर्थन पर निर्भर था, किन्तु वह अपनी इच्छानुसार अपना मंत्रिमण्डल बदलता रहा। कभी वह प्रगतिवादी दल का मंत्रिमण्डल बनाता तो कभी रूढ़िवादी दल का। यदि किसी कारणवश कोई मंत्रिमण्डल उसकी नीति से सहमत नहीं होता तो वह उसे बर्खास्त कर देता। इस प्रकार, धीरे–धीरे वह स्पष्ट रूप से स्वेच्छाचारी बनता गया। वह स्वयं को केवल वैधानिक शासक नहीं बनाना चाहता था, अपितु वह स्वयं शासन करना चाहता था। यही बात उसके पतन का कारण बनी।

अगस्त, 1830 में ड्यूक डी ब्रोगली के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल बना। अक्टूबर, 1830 में पेरिस में दंगा हो गया क्योंकि जनता पुराने मंत्रियों को दण्ड देने तथा हॉलैण्ड के विरूद्ध बेल्जियम की सहायता करने की माँग कर रही थी। मंत्रिमण्डल दंगाइयों के विरूद्ध दमनकारी नीति अपनाना चाहता था किन्तु लुई फिलिप तैयार नहीं हुआ। अतः ब्रोगली ने त्याग–पत्र दे दिया। उसके स्थान पर नवम्बर, 1830 में क्रांतिकारी लफायेत के नेतृत्व में प्रगतिवादी मंत्रिमण्डल बनाया गया, किन्तु बेल्जियम सम्बन्धी नीति पर मतभेद हो जाने के कारण उसने भी त्याग–पत्र दे दिया। मार्च, 1831 मे केसीमीर पेरियर का रूढ़िवादी मंत्रिमण्डल बना, जिसने गणतंत्रवादियों के प्रति दमनकारी नीति अपनायी। अक्टूबर, 1832 में केसीमीर पेरियर की मृत्यु हो गई और मार्शल सूल का मंत्रिमण्डल बना। इसने भी गणतंत्रवादियों का दमन जारी रखा। किन्तु गणतंत्रवादियों की गुप्त समितियाँ कार्य करती रहीं। मजदूरों में असंतोष के कारण दंगा हो गया। हिंसा को रोकने के लिए दमनकारी नीति अपनाई गई। सितम्बर, 1835 में विरोधी दलों का दमन करने के लिए कठोर नियम बनाये गये जिससे गणतंत्रवादियों की शक्ति चकनाचूर हो गई। परन्तु इस दमनकारी नीति के कारण मंत्रिमण्डल में फूट पड़ गई तथा कुछ कठोर मंत्रियों ने अपना पृथक् दल बना लिया। लुई फिलिप ने इसे संरक्षण दिया क्योंकि वह मंत्रिमण्डल की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित हो चुका था। मंत्रियों की आपसी फूट के कारण मार्शल सूल ने त्याग–पत्र दे दिया (फरवरी, 1836 में)। अब थीयर्स ने नया मंत्रिमण्डल बनाया। थीयर्स ने सम्राट के अधिकारों को सीमित करना चाहता ताकि मंत्रिमण्डल को स्वतंत्रतापूर्वक काम करने का अवसर मिल सके। दूसरी तरफ लुई फिलिप स्वयं शासक बनना चाहता था। थियर्स स्पेन को सहायता देना चाहता था, किन्तु फिलिप इसके पक्ष मे नहीं था अतः सितम्बर, 1836 में थीयर्स ने भी त्याग–पत्र दे दिया। अब लुई फिलिप ने अपने मित्र मोल को प्रधानमंत्री बनाया जिसका निम्न सदन में बहुमत नहीं था। उसने सभी पक्षो के प्रति समझौतावादी नीति अपनाई, जिसके फलस्वरूप 1839 तक देश में शांति बनी रही। विदेशी नीति के क्षेत्र मे वह शांतिपूर्ण नीति का समर्थक था परन्तु जनता गौरवपूर्ण नीति चाहती थी। अतः निम्न सदन में उसकी विदेश नीति का कड़ा विरोध होने लगा। इस पर जनवरी, 1839 में निम्न सदन को भंग कर नये चुनाव कराये गये जिसमें मोल पराजित हुआ। उसकी पराजय अप्रत्यक्ष रूप से लुई फिलिप की पराजय थी। परन्तु लुई फिलिप ने अपनी बिगड़ती हुई स्थिति को संभाल लिया। उसने मई, 1839 में मार्शल सूल को दुबारा प्रधानमंत्री बनाया, परन्तु वह अधिक समय तक काम न कर सका और फरवरी, 1840 ने त्याग–पत्र दे दिया। मार्च, 1840 में थीयर्स ने त्याग–पत्र दे दिया। मार्च, 1840 मे थीयर्स दुबारा प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया, किन्तु मिस्र के मेहमत अली को समर्थन देने के प्रश्न पर जनता उससे नाराज हो गई और लुई ने भी उसकी नीति को समर्थन नहीं दिया। फलतः अक्टूबर, 1840 में थीयर्स ने त्याग–पत्र दे दिया। इसके बाद मार्शल सूल को तीसरी बार प्रधानमंत्री बनाया गया, किन्तु मंत्रिमण्डल का वास्तविक नेता गिजो था, जो 1848 में लुई फिलिप के पतन तक अपने पद पर कार्य करता रहा।

यद्यपि लुई फिलिप ने अपनी आंतरिक नीति मे औद्योगिक और सामाजिक सुधारो की ओर विशेष ध्यान दिया, परन्तु इससे मजदूरों, किसानों और निर्धनों को कोई लाभ नहीं मिला। मजदूरो ने अपने छोटे–छोटे संघ बनाकर आंदोलन शुरू कर दिये। समाजवादी नेता लुई ब्लां ने जनतंत्रीय आधार पर सरकार का पुनर्गठन करने तथा राष्ट्रीयकरण करने पर बल दिया। लुई फिलिप ने भाषण, लेखन व समाचार–पत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया तथा सरकार की आलोचना करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाने लगा। उसकी दमनकारी नीति से क्षुब्ध होकर विद्रोहियों ने उसे 6 बार मार डालने के भी असफल प्रयास किये किन्तु सैन्य–शक्ति के बल पर विद्रोहियों का दमन कर दिया गया।

1.4 लुई फिलिप की विदेश–नीति :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लुई फिलिप ने युद्ध से बचने के लिए शांतिपूर्ण एवं समझौतावादी नीति अपनाई। इंग्लैण्ड के साथ 'मित्रतापूर्ण सहयोग' उसकी विदेश–नीति का महत्त्वपूर्ण अंग था, क्योंकि रूस और आस्ट्रिया को फ्रांस के नये राजतंत्र में विश्वास नहीं था। इसके विपरीत फ्रांसीसी जनता गौरवपूर्ण एवं क्रियाशील विदेश नीति चाहती थी। लुई ने बेल्जियम, पोलैण्ड, इटली, मिस्र, स्पेन और स्विट्जरलैण्ड के प्रति जो नीति अपनाई, उससे फ्रांस की जनता अत्यधिक रूष्ट हो गई।

1.4.1. बेल्जियम का मामला :

बेल्जियम पर हॉलैण्ड का अधिकार था। अक्टूबर, 1830 में बेल्जियम मे क्रांति हो गई। लन्दन में पाँच बड़े राज्यों– रूस, प्रशा, आस्ट्रिया, ब्रिटेन और फ्रांस का सम्मेलन हुआ जिसमें बेल्जियम की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया गया। परन्तु जब लुई फिलिप के द्वितीय पुत्र को बेल्जियम का नया शासक चुना गया तो इंग्लैण्ड ने इसका विरोध किया। तब इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया के चाचा लियोपोल्ड को शासक चुना गया। फ्रांस की जनता को इससे गहरा धक्का लगा। 1839 में फ्रांस और इंग्लैण्ड की संयुक्त कार्यवाही के कारण हॉलैण्ड को झुकना पड़ा तथा उसने बेल्जियम की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया।

1.4.2. पोलैण्ड और इटली की क्रांतियाँ :

लुई फिलिप के शासनकाल में पोलैण्ड में क्रांति हो गई। फ्रांस की जनता पोलैण्ड के क्रांतिकारियों को सहायता देने के पक्ष में थी। किन्तु लुई फिलिप रूस को अपना शत्रु नहीं बनाना चाहता था। अतः उसने पोलैण्ड को कोई सहायता नहीं दी। रूस ने सैन्य शक्ति के सहारे पोल क्रांति को कुचल दिया।

इसी प्रकार, इटली की क्रांति के समय भी लुई फिलिप ने जन–इच्छा के विरूद्ध इटली को कोई सहायता नहीं दी क्योंकि इटली को सहायता देकर वह आस्ट्रिया से युद्ध लड़ने को तैयार नहीं था, लुई की इस दब्बू नीति से जनता उसके विरूद्ध हो गई।

1.4.3. मिस्र का मामला :

नवम्बर, 1831 में मिस्र के पाशा मेहमत अली के पुत्र इब्राहीम ने तुर्की के प्रदेशों दमिश्क तक सीरिया पर आक्रमण कर दिया तथा तुर्की की सेनाओ को परास्त करता हुआ तुर्की की राजधानी कुस्तुनतुनिया की ओर बढ़ने लगा। सुल्तान ने यूरोपीय राष्ट्रों से सहायता की प्रार्थना की। इंग्लैण्ड व फ्रांस इस समय बेल्जियम में उलझे हुए थे। रूस ने तत्काल सुल्तान की सहायता के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं। इंग्लैण्ड और फ्रांस को तुर्की में रूसी हस्तक्षेप पसन्द नहीं आया और दोनों देशों ने तुर्की के सुल्तान पर दबाव डालकर दोनों पक्षों में संधि करवा दी। संधि के अनुसार मेहमत अली को दमिश्क, सीरिया और फिलिस्तीन मिल गये।

सुल्तान ने दबाव मे आकर दमिश्क, सीरिया आदि क्षेत्र मेहमत अली को दे दिये थे, परन्तु वह इन क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अतः अप्रैल, 1839 में सुल्तान ने सीरिया पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसे परास्त होना पड़ा। जुलाई, 1839 में उसकी मृत्यु हो गई और उसका सोलह वर्षीय पुत्र अब्दुल मजीद सुल्तान बना जिससे तुर्की की स्थिति और भी दयनीय हो गई। इधर रूस मेहमत अली की बढती हुई शक्ति से चिन्तित था। उसने इंग्लैण्ड के साथ मिलकर उसकी शक्ति को रोकने का निश्चय किया। दूसरी तरफ, फ्रांस की जनता मेहमत अली को सहायता देने के पक्ष मे थी। 1840 में रूस, प्रशा, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने मिलकर लन्दन में एक समझौता किया जिसके अनुसार मेहमत अली को तुर्की के साथ समझौता करने हेतु बाध्य किया। इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन मे फ्रांस को आमंत्रित नहीं किया गया। इस घटना से फ्रांसीसी जनता क्रुद्ध हो उठी। जनता ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा और इसके लिए लुई फिलिप की दब्बू नीति को उत्तरदायी ठहराया गया।

1.4.4. स्विट्जरलैण्ड का गृह–युद्ध :

वियना कांग्रेस ने 22 केण्टनों (जिलों) का एक शिथिल संघ बनाकर स्विट्जरलैण्ड का निर्माण किया था। इनमें 7 केण्टन कैथोलिक थे और 15 प्रोटेस्टेण्ट थे। 1845 में कैथोलिक केण्टनों ने 'सौदरबन्द' नामक एक संघ बनाया और प्रोटेस्टेण्ट केण्टनों के विरूद्ध संघर्ष छोड़ दिया। आस्ट्रिया, प्रशा और रूस कैथोलिको को सहयोग देने की सोचने लगे। फ्रांस भी उनके साथ सहमत हो गया। परन्तु इंग्लैण्ड ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और अपनी कूटनीति से बड़ी शक्तियो को कैथोलिकों को सहायता नहीं करने दी। लुई फिलिप द्वारा प्रतिक्रियावादी केण्टनों को सहायता देना फ्रांस के उदारवादियों को पसन्द नहीं आया।

इस प्रकार, लुई फिलिप की असफल एवं दुर्बल विदेश–नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फ्रांस की प्रतिष्ठा को भारी ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ाक्का लगा। फ्रांस की जनता इसे सहन न कर सकी। जनता के मस्तिष्क मे यह धारणा दृढ़ हो गई कि इसका मूल कारण लुई फिलिप की दुर्बलताएँ एवं अयोग्यता है।

फरवरी, 1848 की क्रांति तथा लुई फिलिप का पतन– लुई फिलिप की आंतरिक एवं विदेश–नीति के विरूद्ध समूचे फ्रांस में असंतोष बढ़ता जा रहा था। ऐसे समय में 1846–47 में खराब मौसम के कारण फसले नष्ट हो गई जिससे अनाज की कीमतें बढ़ गई। दूसरी तरफ उद्योगों में मंदी आ गई तथा बेरोजगारी बढ़ने लगी। इस आर्थिक संकट में सुधारवादियों ने सुधारो की माँग की। परन्तु लुई फिलिप ने सुधारों की माँग को ठुकरा दिया। इससे विरोधी दल उत्तेजित हो उठे। उन्होंने जनता के हस्ताक्षरों से युक्त सुधारों के लिये माँग–पत्र सरकार के पास भेजने का निश्चय किया। हस्ताक्षरों के लिए अधिक–से–अधिक लोगों को एक स्थान पर एकत्र करने के लिए देश में स्थान–स्थान पर 'सहभोज' आयोजित किये जाने लगे जिन्हें ''सुधार सहभोज'' कहा जाता था। इस प्रकार के आयोजनों में जोशीले भाषण होते थे तथा सरकार की जोरदार आलोचना की जाती थी।

22 फरवरी, 1848 को पेरिस में एक विशाल 'सुधार सहभोज' आयोजित करने का निश्चय किया गया परन्तु सरकार ने उस पर रोक लगा दी। जनता सुधारों की माँग के साथ–साथ मंत्रिमण्डल के प्रमुख गिजो को बरखास्त करने की माँग करने लगी। दूसरे दिन सरकार ने शांति स्थापना के लिए नेशनल गार्ड (रक्षक दल) को बुला लिया, परन्तु अधिकांश सैनिक जनता के साथ मिल गये। इससे लुई फिलिप घबरा गया। उसने गिजो को बरखास्त कर दिया और सुधारों का आश्वासन दिया। 23 फरवरी को प्रदर्शनकारियों की भीड़ विदेश–मंत्रालय जा पहुँची। किसी व्यक्ति ने रक्षक दल पर गोली चला दी। इसके प्रत्युत्तर मे रक्षक दल ने भी गोली चलाना आरम्भ कर दिया जिससे लगभग 20 व्यक्ति मारे गये तथा 50 से अधिक घायल हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए गणतंत्रवादियों ने जनता को क्रांति के लिए भड़काया। 24 फरवरी को जनता विद्रोही हो उठी और पेरिस की गलियों व सड़कों पर मोर्चाबन्दी कर ली। सम्पूर्ण पेरिस में सशस्त्र संघर्ष आरम्भ हो गया तथा विद्रोही 'गणतंत्र जिन्दाबाद' के नारे लगाने लगे। क्रांतिकारियों की एक उत्तेजित भीड़ ने राजमहल को घेर लिया तथा सेना ने लुई फिलिप की रक्षा करने में असमर्थता प्रकट की। लुई घबरा गया तथा वह अपने पौत्र काउण्ट डि पेरिस को राजा बनाने की घोषणा कर अपनी पत्नी सहित भेष बदलकर इंग्लैण्ड चला गया। उसके पलायन के साथ ही राजतंत्र का अंत हो गया। फ्रांस में क्रांति सफल रही।

1.5 1848 की क्रांति के कारण :

1848 की फ्रांसीसी क्रांति के मुख्य कारण लुई फिलिप की प्रतिक्रियावादी आंतरिक एवं दब्बू विदेश–नीति तथा गिजो की दमनकारी नीति थी, अन्य कारण निम्न लिखित थे–

1.5.1. मध्यम वर्ग की प्रधानता :

लुई फिलिप ने सिंहासन पर बैठने के बाद जो नया संविधान प्रदान किया था उसमें उन्हीं लोगों को मताधिकार दिया गया था जो एक निश्चित मात्रा में वार्षिक कर अदा करते हों। परिणामस्वरूप निम्न सदन में मध्यम वर्ग के लोगों का ही वर्चस्व बना रहा। आम आदमी के लिए सदन में पहुँचना लगभग असंभव था। मध्यम वर्ग ने अपने हितों का ही ध्यान रखा और जनसाधारण के हितों की उपेक्षा की। इससे आम आदमी को कोई लाभ नहीं मिला और वे लुई फिलिप को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अवसर मिलते ही वे एकजुट हो गये और उसकी सत्ता को उखाड़ फेंका।

1.5.2. समाजवाद का उदय :

ज्यों–ज्यो फ्रांस में औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रांति का विस्तार होता गया त्यों–त्यों वर्ग–संघर्ष बढ़ता गया और समाजवाद का उदय हुआ। समाजवादी नेता लुई ब्लांक (ब्ला) ने मजदूरो को अपनी ट्रेड यूनियन स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने प्रभावशाली तरीके से मजदूरो के हितों का प्रतिपादन भी किया। मजदूरो ने अपने वेतन बढ़ाने तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए सरकार से माँग की। परन्तु लुई फिलिप ने हमेशा पूँजीपतियो का पक्ष लेकर मजदूरो तथा अन्य समाजवादियों को अपना विरोधी बना दिया। फरवरी, 1848 की क्रांति में मजदूरो ने बढ़–चढ़कर भाग लिया।

1.5.3. लुई फिलिप की निर्बल संवैधानिक स्थिति :

संवैधानिक दृष्टि से लुई फिलिप की स्थिति काफी कमजोर थी। वह फ्रांस–सम्राट न होकर फ्रांसीसी जनता का राजा था। जिस निम्न सदन ने उसको राजा चुना था, उसे चार्ल्स दशम ने पहले ही भंग कर दिया था। उस निम्न सदन के 430 सदस्यों मे से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

केवल 219 ने ही उसके पक्ष में मत दिया था। अर्थात् निम्न सदन के लगभग आधे सदस्य उसके विरोधी थे।

1.5.4. लुई फिलिप की दमनकारी नीति :

वैसे तो अधिकांश राजनैतिक दल लुई फिलिप की नीतियों से असंतुष्ट होकर उसके विरोधी बन गये थे, परन्तु गणतंत्रवादी तो उसकी सत्ता ही उखाड़ फेंकना चाहते थे। अतः लुई ने भी गणतंत्रवादियों के प्रति दमनकारी नीति अपनाई। चारों तरफ गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। भाषण, लेखन व समाचार–पत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा सरकार की आलोचना करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाने लगा। इससे लुई फिलिप के विरूद्ध असंतोष बढ़ता ही गया और उसे खत्म करने के लिए 6 बार प्रयास किया गया।

1.6 क्रांति के परिणाम :

1.6.1. आर्लिया वंश का अंत :

1830 की क्रांति ने पंस के बुर्बो वंश का अंत करके उसकी छोटी शाखा आर्लियाँ के लुई फिलिप को सिंहासन प्रदान किया था। 1848 की क्रांति ने आर्लियाँ के "काउण्ट डि पेरिस" (जिसे लुई फिलिप अपना उत्तराधिकारी घोषित कर भाग गया था) को ठुकरा कर उसकी सत्ता का अंत कर दिया।

1.6.2. द्वितीय गणराज्य की घोषणा :

लुई फिलिप के पलायन के बाद निम्न सदन ने काउण्ट डि पेरिस को नया राजा बनाना स्वीकार कर लिया परन्तु गणतंत्रवादियों और समाजवादियों ने निम्न सदन को घेर लिया और उसे राजतंत्र को समाप्त करने को बाध्य कर दिया। वे गणतंत्र की स्थापना के लिए दृढ़ संकल्प थे। निम्न सदन ने एक "अस्थायी सरकार" की स्थापना की घोषणा की जिसमें क्रांतिकारी नेता लामार्तीन, समाजवादी नेताओं– लुई ब्लां और अल्बर्ट को भी सम्मिलित किया गया। अस्थायी सरकार ने 24 फरवरी, 1848 को गणतंत्र की घोषणाा कर दी। इस प्रकार, फ्रांस में एक बार पुनः राजतंत्र के स्थान पर गणतंत्र स्थापित हो गया।

1.6.3. मताधिकार का विस्तार :

क्रांति के बाद जो नया संविधान लागू किया गया उसके अन्तर्गत मताधिकार का विस्तार किया गया जिससे लाखों लोगों को मत देने का अधिकार मिला। इससे मध्यम वर्ग के प्रभाव में थोड़ी कमी आ गई।

1.6.4. उदार संविधानवादी विचारधारा का विकास :

यद्यपि 1848 की क्रांतियो को सफलता नहीं मिली, तथापि वे सर्वथा निष्फल नहीं रहीं। क्रांति का दमन हो जाने के बाद विकास की गति कुछ समय के लिए रुक गई, किन्तु प्रगतिशील विचारधाराओं को सदैव के लिए नहीं दबाया जा सका। क्रांतिकाल में किये गये कुछ सुधार तो उसी प्रकार बने रहे। आस्ट्रिया के साम्राज्य में दास–प्रथा जो क्रांतिकाल में समाप्त कर दी गई थी, पुनर्जीवित नहीं हुई। कुछ राज्यों में वैधानिक शासन, कुछ अंशों में बना रहा। स्विट्जरलैण्ड में जो गणतंत्र स्थापित हुई, वह स्थायी हो गया। इस प्रकार 1850 के बाद यूरोप में उदार संविधानवादी विचारधारा किसी–न–किसी रूप में जीवित रही।

1.6.5. सैनिकवादी भावना का उदय :

क्रांति के परिणामस्वरूप इटली और जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी। क्रांति के बाद राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया था कि उदार और जनतंत्रीय उपायों से वे अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः उन्होंने अब सैनिकवादी साधनों का सहारा लिया। बिस्मार्क ने इस प्रसंग में कहा था कि, "हमारे समय की बड़ी–बड़ी समस्याएँ व्याख्यानों या बहुमत के प्रस्तावों द्वारा नहीं सुलझ सकती वरन् रक्तपात एवं शस्त्र–प्रयोग से सुलझती है।" फ्रांस में भी 1850 के बाद गणतंत्र का पतन हो गया और नेपोलियन तृतीय ने सैनिक शक्ति के आधार पर राजतंत्रीय शासन स्थापित किया। इस प्रकार 1848 के बाद राजनैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया तथा सैनिकवादी भावनाओं का उदय हुआ।

1.6.6. सामाजिक परिवर्तन :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रांतियों के फलस्वरूप यूरोप के सामाजिक जीवन में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। क्रांतिकाल में अनेक राज्यों में सामन्तवाद को समाप्त कर दिया गया था, जो क्रांति के बाद भी पुनर्जीवित नहीं हो सका। इससे किसानो को कुलीनों से मुक्ति प्राप्त हो गई तथा उन्हे व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त हुई। आर्थिक परिवर्तनों के कारण अब राजनैतिक और आर्थिक विचारों मे सामंजस्य स्थापित किया गया। शिक्षा, रीति–रिवाज आदि धार्मिक बन्धनों से मुक्त हो गये। इस प्रकार 1848 की क्रांतियों ने यूरोप के लिये वह कार्य किया जो 1789 की क्रांति ने फ्रांस के लिये किया था। इतना होने पर भी मजदूरों की दशा में कोई परिवर्तन नही हुआ। परिणामस्वरूप इस समय से मजदूर –वर्ग और मध्यम–वर्ग के बीच वर्ग–संघर्ष उत्पन्न हो गया।

1.6.7. प्राचीन मान्यताओं का अंत :

इन क्रांतियों ने प्राचीन मान्यताओं को समाप्त कर दिया। क्रांतिकारियों ने शासकों की प्रभुसत्ता के स्थान पर लोकप्रिय प्रभुसत्ता, राज्य के स्थान पर राष्ट्रों तथा आनुवंशिकता के स्थान पर बौद्धिकता को प्रधानता दी। अब प्रत्येक मान्यता को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा तथा परम्परागत मान्यताओ को चुनौती दी जाने लगी। वस्तुत: 1848 की क्रांतियों के पश्चात् यूरोप ने अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था।

1.6.8. जनसत्ता का महत्त्व बढ़ा :

1848 की क्रांतियों ने जन–समूह के महत्त्व को प्रकट कर दिया जिससे अब 'जन–समूह युग' आरम्भ हो गया। 1848 के पहले आंदोलन का रूप व्यक्तिगत होता था। क्रांतिकारी नेता आंदोलन के लिए जनता को भड़काते थे तथा उनमें नेतृत्व के लिए होड़ लग जाती थी, किन्तु 1848 के बाद धीरे–धीरे उसका स्वरूप सामूहिक हो गया। अन्याय के विरूद्ध खड़ा होने के लिए जनता ने किसी नेता की प्रतीक्षा किए बिना ही स्वयं आंदोलन करना आरंभ कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक आंदोलनों की कुँजी जनता के पास है। इस जन–समूह में राष्ट्रीयता की भावना शनै:–शनै: दृढ़ होती गई जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर जर्मनी और इटली का एकीकरण संभव हो पाये।

1.7 क्रांति की असफलता के कारण :

1848 की क्रांति फ्रांस तक ही सीमित न रहकर यूरोप के अन्य देशों में भी प्रसारित हुई और इस कथन को भी सत्य सिद्ध किया कि जब फ्रांस के जुकाम होता है तो सारा यूरोप छींकता है। मार्च से जून के अन्तराल में यह क्रांति यूरोप के अधिकांश देशों में सफल रही, परन्तु उसकी यह सफलता अस्थायी सिद्ध हुई। जून, 1848 के उपरान्त अनुदारवादी शासकों का क्रांतिकारियों के विरूद्ध दमन चक्र आरंभ हो गया और क्रांति का प्रभाव दिनोंदिन क्षीण होने लगा। अत: इस क्रांति को भी असफलता ही मिली, परन्तु इस क्रांति की असफलता का दोषारोपण केवल अनुदारवादी शासकों पर ही नहीं किया जा सकता। इसकी असफलता के लिए इसके नेता भी उत्तरदायी थे। सच पूछा जाय तो 1848 की क्रांति यूरोप के विभिन्न देशों में विभिन्न उद्देश्यों के साथ विभिन्न स्वरूपों में आरम्भ हुई थी। अत: उसकी असफलता के कारण भी उन देशों की परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न ही रहे। अत: क्रांति से प्रभावित देशों के विशेष कारणों का हवाला देते हुए उसकी असफलता के सामान्य कारणों का ही उल्लेख करेंगे। वे कारण निमन माने जाते है –

1.7.1 क्रांति का केवल नगरों के मध्य वर्ग तक ही सीमित रहना :

1848 की क्रांति यूरोप के मध्य वर्गों में ही प्रभावकारी रही, परन्तु इस क्रांति में सक्रिय भाग मध्य वर्ग के बुद्धिजीवियो ने ही लिया। मध्यवर्ग के लोगों ने न तो कस्बो के निवासियों को अपनी और मिलानेका प्रयास किया और न कृषक वर्ग को ही प्रभावित किया। हालांकि इतिहासकार रूडे इस क्रांति को निम्न वर्ग की सफलता बताते है, परन्तु यथार्थ मे ऐसा नहीं था। इसके अलावा मध्य यूरोप में इस क्रांति का स्वरूप राष्ट्रीय न होकर सामाजिक अधिक रहा। इस कारण सब वर्ग के व्यक्ति इसमें सहयोगी नही बन सके। उदाहरणार्थ हंगरी मे क्रांति आरम्भ हुई। यहां यह राष्ट्रीय आन्दोलन न होकर जातीय आन्दोलन बन गया। वहाँ (आस्ट्रिया) के शासक ने क्रांतिकारियों की मांगे भी स्वीकार कर ली, परन्तु वहां के स्लाव, क्रोट, सर्व आदि मग्यार जाति के नेता कोसूथ के नेतृत्व में सरकार बनाने को राजी नहीं हुए। वे आपस में ही झगड़ पड़े क्रांति ने आन्तरकि कलह का रूप धारण कर लिया। परिणामत: आस्ट्रिया के शासक ने हंगरी की क्रांति को आसानी से दबा दिया। इस कारण हंगरी मे कोसूथ का शासन कुछ हफ्तें ही रहा। यही हाल बोहमिया में हुआ।

1.7.2. क्रांतिकारियों के उद्देश्य प्राप्ति के साधनों में भिन्नता :

1848 की क्रांति के पीछे क्रांतिकारियों का मूल उद्देश्य अनुदारवादी मैटरनिख द्वारा वियना सम्मेलन के माध्यम से थोपी व्यवस्था को समाप्त करना था, परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारियों ने साधन विभिन्न अपनाये। फ्रांसवासी तो 1789 की क्रांति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के ही आदर्शों व परिणमों को अपने देश में पुनः दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहते थे। वियना सम्मेलन के अन्तर्गत स्थापित राजतन्त्र व्यवस्था को अन्य देश बदलना चाहते थें इटली और जर्मनी के क्रांतिकारियों का प्रमुख उद्देश्य मैटरनिख पद्धति के अन्तर्गत स्थापित हेप्सबर्ग वंश की प्रभुसत्ता को समाप्त करना तथा अपने राज्योंका एकीकरण करना था। आस्ट्रिया के क्रांतिकारी मैटरनिख के आस्ट्रिया से भाग जाने के उपलक्ष्य में संवैधानिक एवं उदार शासनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। विभिन्न क्षेत्रों के क्रांतिकारियों ने अपने उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न ही कार्यप्रणाली अपनाइ। उन प्रणालियों में रात–दिन का अन्तर था। अतः 1848 की क्रांति का असफल होना स्वाभाविक था।

1.7.3. क्रांति के विभिन्न स्वरूप होना :

इटली व जर्मनी के राष्टवादी क्रांतिकारी तो अपने यहां सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना चाहते थे। अतः वहां के क्रांतिकारियों का दृष्टिकोण केन्द्राभिमुखी था जबकि आस्ट्रिया और हंगरी के क्रान्तिकारी सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार के विरोधी थें इन दोनों देशों मे विभिन्न जातियों के लोग निवास करते थे। वे अपने यहां किसी एक विशेष जाति का प्रभुत्व देखना नहीं चाहते थें इटली और जर्मनी के राष्ट्रवादी 1848 में आस्ट्रिया के प्रभुत्व व हस्तक्षेप के कारण अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हुए तो आस्ट्रिया में उदारवादी और राष्ट्रवादी मिलकर कार्य नहीं कर सके। इस कारण वहां राजतन्त्र ही बना रहा और मध्यम वर्ग को सन्तुष्ट करने हेतु कुछ शासन सुधार कर दिए। हंगरी और बोहमिया में क्रांति राष्ट्रीय न रह कर जाति संघर्ष में परिणित हो गई तो आस्ट्रिया के अनुदार शासक ने अपनी दमनपूप्र नीति से उसे दबा दिया।

1.7.4. क्रांति का नगरों तक सीमित रहना :

प्रोफेसर डेविड थॉमसन ने लिखा है कि 1848 की क्रांति का जन्म और प्रेरणा नगरों को देन थी। इस क्रांति का प्रारंभ यूरोप के नगारो में हुआ और प्रसार भी नगरों में ही हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि इस क्रांति का नेतृत्व शहरी बुर्जुआ वर्ग ही करता रहा। ग्रामवासियों को प्रभावित करने का उस वर्ग ने प्रयास ही नहीं किया। हालांकि औद्योगिक क्रांति दिन पर दिन प्रभावशाली होती जा रही थी तथापि नगरो की संख्या अभी अधिक नहीं हुई थी और शहरी बुर्जआ की आबादी भी अधिक नहीं थी। अतः ग्रामवासियों के सहयोग के बिना यह क्रांति सामूहिक और वपक किस प्रकार हो सकती थी। ग्रामीण अपने सामन्तों के पूर्ववत आज्ञाकारी व स्वामि भक्त बने रहे। यही बात ग्रामीण धर्माधिकारी व सरकारी कर्मचारियों के साथ रही। इसके अलावा वह शरी बुर्जुआ भी तो एक मत नही रहा। वह दो दलों में विभक्त हो गया – नरम दल और सुधारवादी दल। नरम दल के लोग अपने स्वार्थों का अहित करने वाली शासन–व्यवस्था के विरोधी थे जबकि उग्र सुधारवादी क्रांति को प्रजातन्त्र की ओर ले जाने का प्रयास कर रहे थे। इन दोनों दलों की फूट तथा ग्रामीणों के असहयोग के कारण प्रतिक्रियावादी पुनः सत्ता तथा प्रभाव में आ गये और यह क्रांति अपने उद्देश्य में असफल हो गई।

1.7.5. राष्ट्रवाद का नारा सर्वव्यापक नहीं बन सका :

क्रांति का आरंभ तो राष्ट्रवाद के नारे के साथ ही हुआ था, परन्तु यह नारा क्रांति से प्रभावित प्रत्येक देश मे सच्चे स्वरूप्प में स्वीकार नहीं कियागया। जिस प्रकार उदारवाद केवल सम्पन्न बुर्जुआ वर्ग तक सीमित रहा, उसी प्रकार राष्ट्रवाद का नारा इटली व जर्मनी मे ही अपना वास्तविक प्रभाव प्रदर्शित कर सका। हंगरी में यह नारा बुलन्द हुआ लेकिन जाति वर्ग के संघर्ष ने इसे प्रभावहीन बना दिया। पोलैण्ड में भी राष्ट्रवाद अधिक प्रभाव नहीं प्रदर्शित कर सका। इसीलिए एल.सी.बी. सीमेन ने ठीक ही लिखा है कि उदारवादियों की असफलता का मूल कारण तत्कालीन सामाजिक स्थिति का स्वरूप था। क्रांतिकारीन तो अपने कार्यक्रम की कमियों को ही ठीक से समझते थें और न अपने नारों के मतलब को ही।

1.7.6. शहरी लोगों में फूट :

1848 की क्रांति जैसा कि इसमें बताया गया कि शहरों तक ही सीमित रही, परन्तु आश्चर्य तो इसमें है कि शहरी लोग भी एकमत होकर क्रांति में सहयोगी नही बने। उनकी कार्य प्रणाली ने श्रमिक वर्ग की कार्य प्रणाली से मेल नही खाया। श्रमिको ने सरकार को अधिक राष्ट्रीय एवंसंवैधानिक बनाने के लए जब अधिक उत्पात मचाना आरंभ कियातो मध्यम वर्ग देश की सुरक्षा व शान्ति केलिए अपने हितों का बलिदानदेने को उद्यत हो गया। इसके अलावा जिस देश भक्ति की भावना पर उदारवादी एवं राष्ट्रवादी जोर देते थे, उसी देश–भक्ति की भावना का उपयोग कर प्रतिक्रियावादियों ने बहु संख्यक जनता को क्रांति से विलग कर दिया और उदारवादियों का बड़ी सरलता से दमनकर दिया।

1.7.7. सैन्य शक्ति का अभाव :

हालांकि क्रांतिकारियों से यह आशा नहीं की जाती थ्क वे क्रांति के क्षेत्र में शस्त्रो से सुसज्जित होकर ही उतरें परन्तु यूरोप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में जनता उस समय महात्मा गांधी की अहिंसा से तो अपरिचित थी। फ्रांस ने प्रथम व दूसरी क्रातियो मे हिंसा का सहारा लेकर उपलब्ध शस्त्रों का प्रयोग किया था और फ्रांस में तो 1848 की क्रांति में भी शक्ति का सहारा लिया गया और फ्रांस में यह क्रांति बहुत कुछ सीमा तक सफल भी रही, परन्तु अन्य देशों ने जिन्होंने इस क्रांति में भाग लिया वे सैन्य शक्ति से सुसज्जित नहीं थे। उनका संगठन सैनिक तरीकों पर नही था। मैटरनिख के इंग्लैण्ड भाग जाने पर भी आस्ट्रिया निवासियों ने शक्ति का सहारा लेकर संवैधानिक सरकार का गठन नहीं किया। वे अपने सम्राट के प्रति ही निष्ठावान बने रहे। यही दशा हंगरी, बोहमिया व इटली की रही। इटली में भी शक्ति का सहारा 1848 के उपरान्त ही लिया गया था। इस सैन्य शक्ति के अभाव में भी यह क्रांति असफल रही।

1.7.8. प्रतिवादात्मक क्रांति का प्रारंभ :

ग्रीष्म काल के प्रारंभ होते ही 1848 की क्रांति ने यूरोप के कई देशों में प्रतिवादात्मक क्रांति का स्वरूप धारण कर लिया। कुछ देशों में उसका नेतृत्व किया गया उग्र प्रतिक्रियावादियो द्वारा। उदाहरणार्थ आस्ट्रिया ने 12 जून को विसेनजा पर अधिकार कर लिया तो पिडेमाण्ट के शासक चार्ल्स अलबर्ट ने उसका प्रतिरोध किया, परन्तु 23 जुलाई को कसटोजा पर आस्ट्रिया के साथ अस्थायी सन्धि करनी पड़ी। इस प्रकार इटली की आजादी की यह पहली लड़ाई हार में बदल गई, क्योंकि चार्ल्स अलबर्ट द्वारा आरंभ किया गया संघर्ष समस्त इटली प्रायद्वीप की स्वतन्त्रता के लिए न होकर केवल उसके राज्य की स्वतन्त्रता के लिए था। इसी प्रकार हंगरी और बोहमिया में हुआ। हंगरी में जब कोसूथ के नेतृत्व में आस्ट्रिया का शासक उसके राष्ट्रीय आन्दोलन से भयभीत होकर नवीन सरकार बनाने को राजी हो गया तो हंगरी की अन्य जातियों (क्रोटियन, रूमानियन, सीबियन आदि) ने उसका विरोध किया। वे आस्ट्रिया के शासक के नेतृत्व में रहते हुए ही लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। इन जातियों के सहयोग से आस्ट्रिया के शासक ने कोसूथ और डीक के स्वतन्त्र राज्य कीस्थापना के प्रयासों को असफल कर दिया। इसी प्रकार बोहनिया में चैक लोगों ने अपने अधिकारों के लिए 15 मार्च को आस्ट्रिया के सम्राट के पास प्रार्थना पत्र भेजा तो जर्मन लोगों के विरोध के कारण वह प्रयास असफल हो गया।

1.7.9. फ्रांस व अन्य देशों से सहायता न मिलना :

मई के अन्त तक तो मध्यम यूरोप के लोगो को अपनी क्रांति में सफलता मिलती रही और इस सफलता प्राप्ति में उन्होने अपनी सारी शक्ति नष्ट कर दी। इटली के लोगों ने आस्ट्रिया के शासक से अपने यहां उदारवादी संविधान बनाने की धमकी देकर स्वीकृति लेने का प्रयास किया। वेनिस व मिलान में विद्रोह हुए। मार्च, 1848 मे आस्ट्रिया के शासक ने इन विद्रोहों को दबाने हेतु जब शक्ति का प्रयोग किया तो पिडेमाण्ट के शासक नेअपनी सेना भेजकर उनकी सहायता की, परन्तु मई में सैनिक शक्ति की कमी के कारण वह आजादी की लड़ाई हार के कगार पर आ पहुंची। फ्रांसवासी उन्हें क्रांति के प्रारंभ से ही सहायता देने का आश्वासनदे रहे थे, परन्तु दूसरे गणतन्त्र की स्थापना हो जाने पर भी फ्रांस वालों ने इटली के क्रांतिकारियों को कोई सहायात नहीं भेजी प्रशा में भी ऐसा ही हुआ। आस्ट्रिया से मैटरनिख पलायन अवश्य कर गया था पर वहां की उदारवादी सरकार ने क्रांतिकारियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। इस प्रकार 1848 की क्रांति इटली व प्रशा में भी बाहरी सहायता न मिलने के कारण असफल हो गई।

1.7.10. अनुभवी एंव योग्य नेता का अभाव :

1848 की क्रांति का नेतृत्व बुद्धिजीवियों ने किया था। वे कोरे आदर्शवादी थे। उन्होंने अपने संभाषणों व लेखों के माध्यम से जन साधारण में राष्ट्रीय भावना का उफान अवश्य ला दिया परन्तु वे क्रांति का सफल संचालननही कर सके। हर देश में नेता तो कई न गये वर वे अनुभवहीन तथा क्रांति की व्यावहारिकता से शून्य थे। अतः वे क्रांति के सफल संचालन में असफल रहे और उधर अनुदारवादी शासको ने अपनी दमन नीति से क्रांति का दमन कर दिया।

1.8 क्रांति का स्वरूप और उसका महत्त्व :

फ्रांस की 1848 की क्रांति एक आकस्मिक घटना थी, अर्थात् क्रांति की कोई योजना नहीं थी। क्रांतिकारी तो केवल सुधारों की माँग कर रहे थे। किन्तु क्रांति के तीसरे दिन क्रांति का स्वरूप गणतंत्रीय हो गया। लुई फिलिप के वैधानिक राजतंत्र के स्थान पर गणतंत्र की स्थापना कर दी गई। गणतंत्रवादियों को विवश होकर समावादियों को 'अस्थाई सरकार' में सम्मिलित करने के अलावा उनकी कुछ माँगों को भी पूरा करना पड़ा। फिर भी दोनों में तनाव एवं मतभेद बना रहा। जून के विद्रोह मे समाजवादी परास्त हुए क्योंकि किसानों तथा मध्यम वर्ग के लोगो ने गणतंत्रवादियों का साथ दिया। इसके साथ ही क्रांति का तीसरा चरण समाप्त हुआ। चतुर्थ एवं अंतिम चरण में बोनापार्टिस्टों की विजय हुई तथा लुई नेपोलियन तृतीय गणतंत्र का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। उसने अपने चाचा नेपोलियन बोनापार्ट के पदचिह्नों पर चलते हुए 1852 मे द्वितीय गणतंत्र का अंत करके अपना साम्राज्य स्थापित किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1848 की क्रांति फ्रांस के राजनैतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस क्रांति ने मताधिकार का विस्तार करके मध्यम वर्ग में सत्ता छीनकर समाज को सौप दी। इस क्रांति ने जनतंत्र के विकास में भी अभूतपूर्व योगदान दिया। 25 फरवरी, 1848 को अस्थायी सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें कहा गया कि प्रत्येक नागरिक को रोजगार उपलब्ध करने का अधिकार होगा। अतः यह क्रांति मजदूरों और कारीगरों के लिए भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। 1848 की क्रांति से फ्रांस में वैधानिक राजतंत्र का प्रयोग असफल हो गया। ग्राण्ट और टेम्परले ने लिखा है कि ''लुई फिलिप के असफल शासन ने यह सिद्ध कर दिया कि फ्रांस के लिए ब्रिटेन के ढंग का संवैधानिक राजतंत्र उपयुक्त नहीं है।'' इस क्रांति का सर्वाधिक महत्त्व तो इस बात में है कि इसने यूरोप के अनेक राज्यों में क्रांतिकारी एवं उदार आंदोलनों को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार, 1848 की फ्रांसीसी क्रांति ने समस्त यूरोप को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया। इस क्रांति के परिणाम अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। निरंकुश शासकों की नीवें हिल गईं तथा संवैधानिक स्वतंत्रता के विचारों का प्राबल्य बढ़ता गया। 1848 की क्रांतियों ने यूरोप में मूलभूत परिवर्तन कर दिये। प्राचीन मान्यताएँ समाप्त होकर नई मान्यताओं का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1.9 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – लुई अठाहरवें की मृत्यु कब हुई ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – 1830 की फ्रांस की क्रांति पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – 1848 की क्रांति को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 2
इटली का एकीकरण

2.0 भूमिका

2.1 1815 में इटली की स्थिति

2.2 एकीकरण के मार्ग में बाधाएं

2.3 इटली में राष्ट्रीयता का प्रसार

2.3.1. फ्रांस की राज्य–क्रांति तथा नेपोलियन

2.3.2. 1789 व 1848 के बीच फ्रांस में घटने वाली घटनाएं

2.3.3. वियना कांग्रेस के निर्णय

2.3.4. नेपोलियन के सैनिकों व अधिकारियों को सेवा मुक्त करना

2.3.5. पडौसी देशों में राष्ट्रीय संघर्ष होना

2.3.6. देश–भक्त लेखकों का आविर्भाव

2.3.7. देश भक्तों का आविर्भाव

2.4 इटली की एकता के लिए प्रयत्न

2.4.1 कार्बोनेरी संस्था व इटली का एकीकरण

2.5 मैजिनी का एकीकरण में योगदान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.11848 की क्रांति और मैजिनी

2.5.2 क्रांति की असफलता

2.6 गैरीबाल्डी और इटली के एकीकरण में उसका योगदान

2.6.1 गैरीबाल्डी द्वारा इटली के एकीकरण का प्रयास

2.6.2 सिसली व नेपिल्स की विजय

2.6.3 गैरीबाल्डी का रोम के लिए कूंच करना

2.7 विक्टर इमेनुअल द्वितीय (1849–70) और एकीकरण में उसका योगदान

2.8 काउन्ट काबूर (1810–1851)

2.8.1 काबूर के राजनैतिक विचार एवं उद्देश्य

2.8.2 काबूर की आन्तरिक नीति

2.8.3 काबूर की विदेश नीति

2.8.4 क्रीमिया का युद्ध और काबूर

2.8.5 प्लोम्बियर्स का समझौता

2.8.6 आस्ट्रिया से युद्ध

2.8.7 विलाफ्रेंका की सन्धि

2.8.8 विनेशिया की प्राप्ति

2.8.9 रोम की प्राप्ति

2.9 बोध प्रश्न

2.0 भूमिका :

नेपोलियन बोनापार्ट की विजयों के परिणामस्वरूप इटली का एक संगठित स्वरूप स्थापित हुआ था। किन्तु वियना कांग्रेस ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए इटली को पुनः छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया। मेटरनिख के शब्दों में वह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र रह गया था। इटली के ये छोटे–छोटे राज्य आपस में लड़ते रहते थे। 1815 से 1850 तक का इटली का इतिहास पारस्परिक फूट, विदेशी प्रभुत्व तथा विदेशी प्रभुत्व के विरूद्ध असफल संघर्ष का ही इतिहास है। फिर भी इन असफल संघर्षो ने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। तत्पश्चात् जर्मनी के बिस्मार्क की भांति ही इटली में भी मेजिनी एवं काबूर जैसे देशभक्त पैदा हुए, जिन्होंने इटली के एकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता उत्पन्न कर दी। इसी एकीकरण की गतिशील प्रक्रिया में काबूर का महान् योगदान रहा, जिसने इटलीवासियों के स्वप्न को साकार किया तथा 1870 मे इटली का एकीकरण पूर्ण हुआ।

2.1 1815 में इटली की स्थिति :

नेपोलियन के आक्रमणों से इटली में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ था। वहां संगठित एवं एकरूप शासन स्थापित होने के फलस्वरूप इटली के लोगों में राष्ट्रीय एकता एवं स्वतन्त्रता की भावना जागृत हो उठी थी। किन्तु 1815 की वियना व्यवस्था से इटली पुनः छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इटली के उत्तर पश्चिम में सार्डीनिया पीडमान्ट का राज्य था जहां सेवाय वंश का शासन था। उसके उत्तर पूर्व में लोम्बार्डी और वेनेशिया के प्रदेश थे जिन पर आस्ट्रिया का आधिपत्य था। परमा, मेडोना और टस्कनी के यद्यपि स्वतन्त्र राज्य था। दक्षिण में नेपिल्स और सिसली थे जहां बुर्बो वंश के फर्नीनेण्ड प्रथम का शासन था। यह नई व्यवस्था पूर्णतः निरंकुश, प्रतिक्रियावादी एवं भ्रष्ट थी। इटली की इस दयनीय स्थिति का चित्र मैजिनी ने करते हुए कहा था कि हमारा कोई एक झण्डा नहीं है, हमारा कोई एक राजनैतिक काम नहीं है और न यूरोपीय राष्ट्रों मे हमारा कोई स्थान है। मैजिनी ने यह भी कहा कि हम आठ राज्यों में विभाजित है जो सभी एक दूसरे से स्ततन्त्र है। इन आठ राज्यों की भिन्न–भिन्न मुद्राएं हमको एक दूसरे से अलग करके हमें अजनबी बना देती है। मेटरनिख ने भी कहा था कि यहां का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के विरूद्ध है, एक नगर दूसरे नगर के विरूद्ध है, एक वंश दूसरे वंश के विरूद्ध है तथा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरूद्ध है। इटली के लोग भी क्रांतिजनित विचारध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ारा से प्रभावित थे। नेपोलियन महान् के समय से उनमे राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत हो चुकी थी। अतः वे निरंकुश, स्वेच्छाचारी, प्रतिक्रियावादी और अत्याचारपूर्ण शासन को सहन करने को तैयार नहीं थे। अतः इटली के देशभक्त अपने देश को स्वतन्त्र एवं संगठित करने के प्रयत्न करने लगे। इटली के लेखकों एवं साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीयता की भावनाओ को उत्तेजित करने में योगदान दिया।

2.2 एकीकरण के मार्ग में बाधाएं :

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली के एकीकरण में अनेक बाधाएं थी। इटली के उत्तरी भाग में आस्ट्रिया का प्रबल प्रभुत्व था। परमा, मोडेना तथा टस्कनी में आस्ट्रिया के हेप्सबर्ग वंश के सम्बन्धी तथा मित्र शासन करते थे। नेपिल्स और सिसली मे बुर्बो वंश का शासन था। ये सभी छोटे–छोटे राज्य भी आस्ट्रिया के प्रभाव के अन्तर्गत थे। आस्ट्रिया का लान्सलर मेटरनिख राष्ट्रीयता और उदारवाद का कट्टर शत्रु था। प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व इटली के एकीकरण के मार्ग में कठिनाई थी। मध्य इटली में पोप का राज्य भी शक्तिशाली था। पोप का राज्य मध्य में होने से वह उत्तरी और दक्षिणी इटली को दो अलग–अलग टुकड़ों मे विभाजित करता था, जिससे इटली के एकीकरण में एक बड़ी बाधा थी। पोप का राज्य एक धार्मिक बाधा के रूप में भी था। पोप के राज्य को यदि इटली मे मिलाने का प्रयत्न किया जाता तो यूरोप की समस्त रोमन कैथोलिक जनता के नाराज होने का भय था। अतः पोप के राज्यको यूरोप के प्रमुख राज्यों का समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त इटली के अलग–अलग राज्यों की अलग–अलग परम्पराएं थी। उनका पारस्परिक द्वेष अत्यधिक तीव्र था तथा उसमें राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। सम्पूर्ण इटली में प्रान्तीयवाद के कारण फूट फैली हुई थी। इटली के विभिन्न राजवंशो मे एकता के लिये त्याग करने की भावना नहीं थी। वे अपने निरंकुश शासन को बनाये रखने के स्वार्थ के समक्ष राष्ट्रीय एकता को तुच्छ समझते थे। इन बाधाओं के कारण इटली के एकीकरण का भविष्य धूमिल दिखाई दे रहा था।

2.3 इटली में राष्ट्रीयता का प्रसार :

सेंट हेलना में बन्दी जीवन व्यतीत करते हुए नेपोलियन ने कहा था, इटली एक राष्ट्र है, वह भविष्य में एक राष्ट्र रहेगा तथा उसकी राजधानी रोम होगी। इसका आशय यह है कि उस दूरदर्शी नेपोलियन को यह आभास हो गया था कि विभिन्न समस्याओं के रहते हुए भी इटली एक दिन एक सरकार से शासित होगा। समस्त इटली प्रायद्वीप में एक से कानून होंगे और उसने 1796 ई. में इटली में गणराज्य की स्थापना कर इसके लिए मार्ग भी प्रशस्त कर दिया था, परन्तु उसके पतन के बाद इटली की राजनीतिक अवस्था ही बदल गई। वियना कांग्रेस में उसे प्रतिक्रियावाद का एक सुदृढ़ दुर्ग बना दिया गया। उसमें विभिन्न राजवंश अपनी–अपनी इच्छानुसार शासन करने लगे थे।

आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री मैटरनख ने हर चन्द प्रयास किया कि इटली प्रायद्वीप में राष्ट्रीय चेतना जागृत न हो, परन्तु उसका यह विचार अधिक दिनो तक सत्य नहीं रह सका। 1818 के उपरान्त ही इटलीवासियों मे राष्ट्रीय भावना शनैः शनैं प्रबल होने लगी। राष्ट्रीय भवना के प्रसार के कारण निम्नलिखित थे –

2.3.1. फ्रांस की राज्य–क्रांति तथा नेपोलियन :

फ्रांस की राज्य–क्रांति के परिणामस्वरूप समानता व स्वतंत्रता की भावना प्रबल हुई। फ्रांस के पड़ोस में स्थित इटली में भी ये दोनों भावनाएं प्रसारित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि तीसरे वर्ग के लोग भी अपने को सामन्त व धर्माधिकारियों के समान समझने लगे। सदियों से उनके बीच जो असमानता की दीवार थी वह धराशायी हो गई। नेपोलियन की विजय ने समस्त इटली को एकता के सूत्र में पिरो दिया। उसने अपने प्रशासन से सारे इटली प्रायद्वीप में राजनीतिक एकता स्थापित कर वहां के लोगों में एकता की भावना उत्पन्न कर दी। वे अब अपने इतिहास को कर्म न समझकर कर्ता समझने लगे। इससे स्पष्ट है कि फ्रांस की राज्य–क्रांति तथा नेपोलियन युग ने इटली के सुप्त लोगों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर दी।

2.3.2. 1789 व 1848 के बीच फ्रांस में घटने वाली घटनाएं :

यह पहले ही बता आये है कि जब फ्रांस के जुकाम होता था तो यूरोप के अन्य देशों को छींक आती थी। 1789 और 1815 के मध्य फ्रांस मे जो घटनाएं घटी उनका इटली पर भी महान् प्रभाव पड़ा। फ्रांस की राज्य–क्रांति जिन सिद्धान्तों पर हुई, वे सिद्धान्त इटली में भी प्रबल बन गये। इटली की विजय नेपोलियन ने की और उसके बाद फ्रांस में जो घटनाएं घटी उनसे इटलीवासियों में भी नवीन उत्साह का स्फुरण हुआ। इन घटनाओं मेंफ्रांस की 1830 व 1848 की क्रान्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका प्रभाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इटली पर विशेष रूप से पड़ा। इटली के लोग भी विदेशी सत्ता से स्वतन्त्र होने के प्रयास करने लगे।

2.3.3. वियना कांग्रेस के निर्णय :

इटली का जो पुनर्गठन वियना कांग्रेस के अन्तर्गत हुआ था, उससे तो यह स्पष्ट था कि वियना कांग्रेस की महान शक्तियां इटली को राष्ट्रीय चेतना से दूर रखना चाहती थी पर परिणाम इसके विपरीत हुआ। वियना कांग्रेस द्वारा थोपी व्यवस्था उल्टी इटली में राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख कारण बन गई। जब इटली में विभिन्न राज्यों में राजा दैवी सिद्धान्त के आधार पर निरंकुश शासन चलाने लगे तो जनता गणतन्त्र की मांग करने लगी। लोग उदारवादी सुधार व स्वायत्त शासन की मांग करने लगे। राजाओं ने उनकी मांग स्वीकार करने के बजाय उन पर नाना प्रकार के नियन्त्रण लगा दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता राजतन्त्र के विरूद्ध संघर्ष करने लगी। जगह–जगह वैधानिक अधिकारो की मांग को लेकर आन्दोलन हुए जिनके प्रभाव से इटली में राष्ट्रीय भावना दिन पर दिन प्रबल होने लगी। नि:सन्देह चार्ल्स अलबर्ट जैसे नरेशों ने जनता के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते उदार संविधान भी स्वीकार किये और वे मैटरनिख विरोधी बन गये, और राष्ट्रीय भावना के प्रसार में उनका सहयोग भी प्रशंसनीय रहा।

2.3.4. नेपोलियन के सैनिकों व अधिकारियों को सेवा मुक्त करना :

नेपोलियन की विशाल सेना में हजारों इटली के सैनिक तथा सैकड़ों पदाधिकारी थे। चार्ल्स दशम् के शासन–काल मे उनको पदच्युत कर दिया गया। वे लोग अब बेरोजगार हो चुके थे। अत: इटली में आकर वे अपना संगठन बना रहे थे उनका साथ विद्यार्थी वर्ग तथा कुछ विचारको ने भी दिया। वे लोग इस निष्कर्ष पर पहुंच गये थे कि उत्तर में आल्प्स पर्वत से दक्षिण में भूमध्य सागर तक विस्तृत इस प्रायद्वीप में राजनीतिक एकता स्थापित करने का समय आ गया।

2.3.5. पडौसी देशों में राष्ट्रीय संघर्ष होना :

फ्रांस की राज्य–क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के लगभग समस्त देशों में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई थी जैसा कि हम इकाई के प्रारंभ में बता आये है। यूरोप में 19वीं सदी का आरंभ ही राष्ट्रवाद से हुआ। यही कारण था कि फ्रांस की अन्य दो क्रांतियों (1830–1848) के साथ–साथ यूरोप के अन्य देशों मे भी राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ गये। स्पेन, बेलजियम, पोलैण्ड, जर्मनी, हंगरी, बेहमिया आदि सब देशों के लोग अपने यहां वैधानिक सुधारों की मांग करने लगे थे। वहां राष्ट्रीय चेतना दिन पर दिन प्रबल होती जा रही थी। हालांकि आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री मैटरनिख, रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम व फ्रांस के प्रधानमंत्री विलेल अपनी कठोर दमन नीति से उन्हें दबाने का प्रयास कर रहे थे, परन्तु यह हम जानते है कि इस प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन शक्ति के द्वारा सदैव के लिए नहीं दबाये जा सकते। जब पडौसी देशो मे राष्ट्रीय आन्दोलन हो रहे तो इटली उनसे किस प्रकार अप्रभावित कर सकता था? उनके प्रभाव से यहां के लोगों में भी राष्ट्रीय एकता के लिए उत्साह उत्पन्न हुआ।

2.3.6. देश–भक्त लेखकों का आविर्भाव :

अठारहवीं शती के अन्त मे तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली में कई लेखक, कवि तथा विचारक उत्पन्न हुए। उन्होंने अपनी देश–प्रेम की रचनाओं ने इटलीवासयों में देश प्रेम की भावना उत्पन्न की विल्लोरियों एलफेरी तथा यूगो फोस्कोला जैसे कवियों ने अपनी कविताओ से इटलीवासियों के दिलों में राष्ट्रीय चेतना की लहर उद्वेलित कर दी। इसके साथ ही विदेशी विचारको के विचारों से भी इटली में अच्छा रंग दिखाया। मैजिनी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इटली में राष्ट्रीय भावना सृजित की। लेखकों की कृतियां इटली प्रायद्वीप के वाचनालयों में सहर्ष पढ़ी जाने लगी और उनसे यहां के लोगों को अच्छी प्रेरणा मिली।

2.3.7. देश भक्तों का आविर्भाव :

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली की पुण्य भूमि पर देश भक्तो ने भी जन्म लिया। उनमें मैजिनी व गैरीबॉल्डी के नाम अति उल्लेखनीय है। मैजिनी ने अपनी तरूण इटली व गैरी बाल्डी ने लाल कुर्ती दल संस्थाओं की स्थापना से इटलीवासियों की रंगों में देश प्रेम का अनुरा संचारित कर दिया। कार्बोनेरी संस्था ने भी इटलीवासियों को देश–प्रेम में रंगने का कार्य किया था। मैजिनी ने उत्तरी व मध्य इटली में राष्ट्रीय भावना जागृत की तो गैरी बाल्डी ने दक्षिण इटली मे की। इन दोनों के विचारों को साकार बनाने में पीडमॉण्ट का शासक विक्टर एमेनुअल तथा उसका प्रधानमंत्री काबूर बड़े सहायक सिद्ध हुए। यह उनके प्रयत्नों का परिणाम था कि 1870 में सारा इटली एक राष्ट्र बन गया और वह रोम राजधानी से शासित होने लगा। मैजिनी ने इटलीवासियों में वह विचारध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ाारा उत्पन्न कर दी जो सारे प्रायद्वीप में प्रबल रही तथा जिसने वर्तमान गणतन्त्र इटली की नींव रख दी।

2.4 इटली की एकता के लिए प्रयत्न :

इटली का एकीकरण कोई एक आकस्मिक घटना नहीं है। इसके लिए प्रयत्न वियना–कांग्रेस के उपरान्त ही होने लगे थे और वे प्रयत्न 1870 में जाकर सफल हुए। इस प्रकार इसका एकीकरण किसी अमुक व्यक्ति द्वारा व अमुक संगठन द्वारा ही सम्पन्न नहीं हुआ वरन् इसे समय–समय पर विभिन्न लोगों व विभिन्न संगठनों का सहयोग मिलता रहा। उनके परिणामस्वरूप ही इटली का यह एकीकरण 1870 में जाकर पूरी तरह से सम्पन्न हो सका।

2.4.1 कार्बोनेरी संस्था व इटली का एकीकरण :

वियना कांग्रेस द्वारा थोपी गई व्यवस्था इटली में अधिक समय नहीं रही। वहां के प्रतिक्रियावादी राजतन्त्र से क्रुद्ध हो इटली निवासी जगह–जगह गुप्त संस्थाएं स्थापित करने लगे। उन संस्थाओं में कार्बोनरी संस्था का नाम अधिक उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना 1820 में हुई। इसका प्रभाव दक्षिणी इटली में अधिक रहा। इसके अधिकांश सदस्य कोयले की खानों मे काम करने वाले मजदूर थे। नेपोलियन तृतीय भी फ्रांस का सम्राट बनने से पहले इसका सदस्य रह चुका था। मैजिनी इसका सक्रिय सदस्य रहा। इसके सदस्य देशभर में उपद्रव कराते रहे तथा उपद्रवों के माध्यम से वे इटलीवासियो में राष्ट्रीय प्रेम का शंख फूंकते रहे। 1820 में इसके सदस्यों ने ही नेपिल्स में विद्रोह किया था। इस प्रकार गुप्त संस्थाओं द्वारा आयोजित क्रांतिकारी आन्दोलनों का सिलसिला आरम्भ हुआ और यह तीस वर्ष तक चलता रहा। वे लोग फर्डीनेण्ड प्रथम के अत्याचारी शासन के विरूद्ध थे। शासक फर्डीनेण्ड सेना की सहायता न मिलने पर भयभीत हो स्पेन का 1812 का संविधान नेपल्स में लागू करने को तैयार हो गया परन्तु अगले वर्ष मैटरनिख के हस्तक्षेप ने इस विद्रोह को असफल बना दिया। शासक फर्डीनेण्ड अपने वचन मे मुकर गया। उसने पुनः अपने राज्य में निरंकुश व प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित कर दिया, परन्तु इस विद्रोह का इटली के अन्य भागों पर भी प्रभाव पड़ा और इस संस्था के नेतृत्व में इटली में 1830 तक स्वतन्त्रता संग्राम चलता रहा। इस क्रांति के परिणामस्वरूप पोप के राज्य, परमा और मेडोना में विद्रोह हुए। हालांकि यह संस्था एकीकरण के उद्देश्य प्राप्ति में विशेष सफल नहीं रही तथापि इटलीवासियों में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में इसका बड़ा हाथ रहा है। इस संस्था के दो उद्देश्य थे – 1. विदेशियों को इटली से निकालना तथा 2. इटली मे वैधानिक शासन की स्थापना करना।

2.5 मैजिनी का एकीकरण में योगदान :

ज्यूस्प मैजिनी का इटली के एकीकरण में महान योगदान रहा है। इसने इटली के राष्ट्रीय तथा लोकतन्त्रवादी आन्दोलन में एक नवीन चेतना का सृजन किया। इटली के इस महान देश भक्त का जन्म जिनेवा में हुआ था। इसके पिता एक ख्याति प्राप्त चिकित्सक तथा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। उन्होने फ्रांस की राज्य–क्रांति की घटनाओ को देखा था। वे अपने पुत्र मैजिनी को क्रान्ति की हृदय विदारक घटनाएं सुनाया करते थे। परिणामतः मैजिनी बाल्यावस्था से ही क्रातिकारी विचारों से प्रभावित हो देश की स्वतन्त्रता के लिए सोचने लगा था। अतः विद्यार्थी जीवन के समाप्त होते ही वह कार्बोनेरी संस्था का सदस्य बन गया। 1830 की क्रांति के समय वह बन्दी बना लिया गया और सेवोना दुर्ग में भेज दिया गया। छः मास के उपरान्त उसे बन्दी जीवन से मुक्ति अवश्य मिल गई पर इटली मे निवास करने से उसे वंचित कर दिया। इस कारण उसे सार्डिनिया छोड़कर मार्सलीज नगर जाना पड़ा। अपने चालीस वर्ष के प्रवास काल में मैजिनी को इंग्लैण्ड, फ्रांस व स्विट्जरलैण्ड देशों का भ्रमण करने का अवसर मिला और उन देशों से प्राप्त अनुभवों के आधार उसने अपने विचारों को ढालना आरम्भ किया। युवक इटली की स्थापना उसने मार्सलीज नगर में 1831 में ही कर दी थी। इस संस्था ने शीघ्र की कार्बोनेरी संस्था का स्थान ले लिया और वह इटली के क्रांतिकारी आन्दोलन का केन्द्र बिन्दु बन गई। मैजिनी का यह विश्वास था कि इटली के नवयुवकों में इटली के प्राचीन गौरव और देश प्रेम की भावना भर कर देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संगठित किया जाना चाहिए। उसने कहा था "यदि समाज मे क्रांति लाना है तो विद्रोह का नेतृत्व युवकों के हाथ में दे दो युवकों के हृदय में असीम शक्ति छिपी है, जनसाधारण पर उनकी आवाज का जादू के समान असर होता है। अपनी इस संस्था के माध्यम से उसने इटली की जनता को तीन नारे दिए परमात्मा मे विश्वास रखो सब भाइयों को एक साथ मिलाओ और इटली को मुक्त कराओ, मैजिनी के उद्देश्य स्पष्ट थे इटली की एकता और स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा स्वतन्त्रता, समानता और जनकल्याण पर आधारित राज्य की स्थापना। इस प्रकार इटली की स्वतन्तत्रा के विचार को जन आन्दोलन के रूप में बदल देना युवक इटली की बड़ी सफलता थी। मैजिनी एक अच्छा वक्ता ही नहीं वरन् साहित्यकार भी था। उसने अपने उपन्यासो के माध्यम से इटली के लोगों में नवीन जीवन फूंक दिया। उसने राष्ट्र के प्रति गौरव की भावना, बलिदान करने का साहस तथा राष्ट्रीय एकता की चेतना और दृढ़ विश्वास उत्पन्न किया,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिससे वे इटली से विदेशी शासन को अन्त करने के लिए कटिबद्ध हो गये। यह उसकी उत्तेजक प्रेरणा ही थी कि जिसके फलस्वरूप 1833 में ही युवक इटली की सदस्य संख्या 60,000 हो गई। उसकी अल्पकाल में उत्साहवर्धक सफलता देखकर मैजिनी ने 1834 में ही युवक यूरोप की स्थापना कर दी, इसकी स्थापना से जर्मनी पोलैण्ड तथा स्विट्जरलैण्ड में इसी प्रकार के स्वतन्त्रता आन्दोलन आरम्भ हो गये।

2.5.11848 की क्रांति और मैजिनी :

1848 में फ्रांस में ज्योंही क्रांति आरम्भ हुई कि उसकी प्रतिक्रिया इटली में भी हुई। जनवरी, 1848 में नेपिल्स और सिसली के राज्य में सुधारवादी नेताओं ने विद्रोह कर दिया और वहां संविधान की मांग की। अन्त में नेपिल्स के शासक फर्डीनेण्ड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा। इसके उपरान्त पीडमाण्ट, टस्कनी और पोप के राज्य में भी संविधान की मांग हुई और मार्च, 1848 तक इन राज्यों में भी वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हो गई।

प्रतिक्रियावाद व अनुदारवाद के सुदृढ़ दुर्ग में भी 1848 की क्रांति की लपटे फैल गई और स्वयं मैटरनिख को आस्ट्रिया की राजधानी वियना से पलायन करना पड़ा। उसके भागने की खबर आग की तरह मध्य यूरोप में सर्वत्र फैल गई। मिलान में विद्रोह हुआ और वहां का वायसराय भाग खड़ा हुआ। वेनिस भी आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त हो गया और वहां गणतन्त्र की स्थापना हो गई। मोडेना और बर्मा के शासक भी भाग छूटे इस प्रकार 1848 की क्रांति का प्रभाव इटली में व्यापक व प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। इटली के अधिकांश लोग पीडमाण्ट के शासक के नेतृत्व में इटली स्वतन्त्रता के लिए युद्ध करने को उद्धत हो गये। काबूर इस समय रिसार्जमेन्टो पत्र का सम्पादक बना हुआ था। उसने अपने पत्र के माध्यम से बताया कि यह सार्डिनिया के राजतन्त्र के लिए महान निर्णय का अवसर है। अब सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक ही मार्ग है। तुरन्त आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध आरम्भ किया जावे।

23 मार्च, 1848 को सार्डिनिया के शासक चार्ल्स अलबर्ट ने इटलीवासियों की तरफ से युद्ध की घोषणा कर दी। इससे प्रोत्साहित होकर टस्कनी, पर मोडेना के शासकों ने भी आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यहां तक कि पोप भी खुलकर आस्ट्रिया के प्रतिक्रियावाद के विरूद्ध आ गया। नेपिल्स के शासक को भी पीडमाण्ट के शासक की सहायता के लिए अपनी सेना भेजनी पड़ी। इस प्रकार इटली की स्वतन्त्रता का यह संग्राम अब राष्ट्रीय युद्ध में परिणित हो गया। मैजिनी इस स्वतन्त्रता संग्राम से दूर किस प्रकार रह सकता था? वह भी अपने 60,000 सहयोगियों के साथ 1849 मे इस स्वतन्त्रता संग्राम में सम्मिलित हो गया।

2.5.2 क्रांति की असफलता :

जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है कि मैजिनी और पोप पीयूस नवम के विचार एक दूसरे के विरोधी थे। अतः मैजिनी के युद्ध में सम्मिलित होते ही पोप युद्ध से हट गया। फर्डीनेण्ड अपनी सेना सहित युद्ध भूमि से भाग छुटा। इन घटनाओ ने स्वतन्त्रता संग्राम का पासा ही पलट दिया। वेनिस पर पुनः आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। चार्ल्स अलबर्ट भी आस्ट्रिया की सेना से परास्त हो गया और उसने आस्ट्रिया से सन्धि कर ली। मिलान का भी वही हाल हुआ जो वेनिस का हुआ था। इस प्रकार मध्यमार्गी राजतन्त्र दल की योजनाएं तो विफल हो गई और उग्रवादी गणतन्त्र दल राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने लगा।

2.6 गैरीबाल्डी और इटली के एकीकरण में उसका योगदान :

इटली के एकीकरण को सफल बनाने वालों में दूसरा उल्लेखनीय नाम गैरीबाल्डी का है, वह इटली का गांधी कहा जाता है। उसका जन्म 1807 मे इटली के नीस नगर मे हुआ था। उसका पिता एक व्यापारी जहाज का कप्तान था। उसने गैरीबाल्डी की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया था, परन्तु उसकी पढ़ने में रूचि नहीं थी बड़ा होने पर वह तटीय व्यापार मे लग गया। दस वर्ष तक उसने यह कार्य किया और इस काल में उसे भूमध्यसागर का अच्छा ज्ञान हो गया। इसके अलावा इन समुद्री यात्राओं में उसका कई देश–भक्तों से सम्पर्क हुआ। उनके सम्पर्क से उसमें स्वन्तत्रता की ऐसी लगन लगी कि उसके लिए वह सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत हो गया। इटली के प्रति उसमें उतनी ही आस्था थी जितनी किसी संन्यासी की ईश्वर के प्रति होती है। उस समय इटली में मैजिनी का प्रभाव फैला हुआ था। वह भी तरूण इटली (युवक इटली) का सदस्य बन गया। 1833 में उसने मैजिनी का साथ एक असफल षडयन्त्र में दिया। पता चल जाने पर वह बन्दी बना लिया गया। अभियोग चलने पर सार्डिनिया के राजा ने उसे मृत्यु दण्ड दिया परन्तु वह किसी प्रकार जेल से निकल भागा और अमेरिका चला गया। अनेक कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह 1848 तक वहीं रहा। अमेरिका मे वह गुप्त रूप से 14 वर्ष तक राष्ट्रवादी आन्दोलन में भाग लेता रहा। वह शक्ति में विश्वास रखता था। अमेरिका में वह तथा उसके साथी लाल कमीज पहिनते थे। अतः उसका दल लाल कुर्ती दल कहलाया। अमेरिका में निवास करते

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Tadkun

हुए उसने छापामार युद्ध की अच्छी दीक्षा ले ली थी। उसकी यह दीक्षा इटली को स्वतन्त्र कराने में बहुत सहायक सिद्ध हुई।

2.6.1 गैरीबाल्डी द्वारा इटली के एकीकरण का प्रयास :

1848 में जब उसे पता चला कि इटली में राष्ट्रीय संघर्ष हो रहा है तो वह अमेरिका से इटली लौट आया। हजारों की संख्या में इटली के वीर युवक उसके झण्डे के नीचे आ गये। उसने सीर्डिनिया के शासक चार्ल्स अलबर्ट को आस्ट्रिया के विरूद्ध सहायता देने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु चार्ल्स-अलबर्ट ने उसकी सहायता को स्वीकार नहीं किया। चार्ल्स अलबर्ट के इन्कार करने पर वह रोम चला गया। वहां मैजिनी पोप पीयूस नवम् के विरूद्ध सहायत को स्वीकार नही किया। चार्ल्स अलबर्ट के इन्कार कस्ने पर वह रोम चला गया। वहां मैजिनी पोप पीयूस नवम के विरूद्ध युद्ध कर रहा था। मैजिनी व गैरीबाल्डी दोनों ने मिलकर वहां गणतन्त्र की स्थापना की परन्तु फ्रांस का राष्ट्रपति नेपोलियन तृतीय पोप की सहायता के लिए आ पहुंचा। नवीन गणतन्त्र की रक्षा का भार मैजिनी ने गैरीबाल्डी पर छोड़ा। उसने वीरता से शत्रु का मुकाबला किया, परन्तु पोप का पतन सन्निकट न देखकर वह अपने 4000 सैनिकों के साथ पहाड़ों में चला गया। वहां से उसने गुरिल्ला युद्ध विधि से शत्रु को लोहे के चने चबाने चाहे, परन्तु वह इसमें भी असफल रहा। इस असफलता के उपरान्त वह देश छोड़कर जाने को तैयार हुआ। जब वह देश से बाहर जाने की तैयारी कर रहा था तब उसके बहुत से अनुयायियों ने उसके साथ ही रहने की प्रबल इच्छा व्यक्त की। उस समय उसने अपने साथियों को संबोधित करते हुये कहा था – मै तुमको न वेतन देता हूं, न भोजन देता हूं और न निवास के लिए मकान। मै तुम्हे भूख, प्यास, जबरन आगे बढ़ना ही दे सकता हूँ। अतः जो केवल मुख से सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले है, वे नहीं वरन् सच्चे हृदय से देश को प्यार करने वाले ही मेरा अनुगमन करे। इस असफलता के उपरान्त वह अपने कुछ साथियों के साथ पुनः अमेरिका चला गया।

1854 तक गैरीबाल्डी अमेरिका में ही रहा। इस काल में उसने वहां अच्छा पैसा कमाया पर अपनी प्रिय पत्नी को दुष्ट काल के भेंट कर दिया। वहां भी उसका ध्यान निरन्तर इटली की स्वतन्त्रता की और ही लगा रहता था। अतः 1854 में इटली आकर उसने सार्डिनिया के शासक से केप्रीरा द्वीप खरीद लिया ओरवहीं रहने लगा।

2.6.2 सिसली व नेपिल्स की विजय :

1859 मे इटली मे स्वतन्त्रता संग्राम ने पुनः जोर पकड़ना आरम्भ किया। इस शुभ समाचार के पाते ही गैरीबाल्डी अपने लाल कुर्ती दल के स्वयं सेवकों के साथ सिसली के लिए रवाना हुआ। जब वह सिसली के प्रमुख केन्द्र पेलरेमी की और बड़े रहा था। तब मार्ग में 15 मई, 1860 को केल्टाफेमी में उसका नेपिल्स की सेना से मुकाबला हो गया। उस सेना को परास्त कर वह आगे बढ़ा और 27 मई को उसने पेलरेमों पर भी अधिकार कर लिया। जून में सिसली पर अधिकार हो गया। इसके उपरानत वह नेपिल्स विजय के लिए बढ़ा और 21 अगस्त को उसने रेगयो पर अधिकार कर लिया। नेपिल्स के राजा फ्रांसिस द्वितीय को किसी से सहायात ने मिलने के कारण वह गैरीबाल्डी को आगे बढ़ने से नहीं रोक संका। इसके विपरीत नेपिल्स का राजा फ्रांसिस गेटा के दुर्ग मे जा छिपा और गैरीबाल्डी ने 6 सितम्बर, 1860 को नेपिल्स पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार गैरीबाल्डी, सिसली और नेपिल्स में पुरातन राजतन्त्र व्यवस्था को समाप्त करने में सफल रही।

2.6.3 गैरीबाल्डी का रोम के लिए कूंच करना :

नेपिल्स व सिसली की सफलता से उत्साहित होकर गैरीबाल्डी रोम की और रवाना हुआ। परन्तु के पुआ स्थान पर नेपिल्स की सेना ने उसका मार्ग अवरूद्ध कर दिया। अतः उसे यहां कुछ दिन रूकना पड़ा। काबूर इस समय बड़ा असमंजस की स्थिति में था। वह नहीं चाहता कि गैरीबाल्डी रोम पर आक्रमण करे। अतः उसे उसकी सेना का मार्ग अवरूद्ध करना पड़ा। इस अवसर पर उसने कहा – "मुझे इटली की विदेशियों, अनिष्टकारी सिद्धान्तों और पागलों से रक्षा करनी है। उसने सोचा कि गैरीबाल्डी के आक्रमण से पूर्व उसकी सेनाएं रोम पर आक्रमण कर दे। ऐसा करने से उसे नेपोलियन तृतीय से युद्ध होने की संभावना थी। अतः उसने नेपालियन तृतीय से रोम पर आक्रमण करने की अनुमति प्राप्त कर ली। नेपोलियन के सम्बन्ध उस समय पोप से खराब थे। 11 सितम्बर 1860 को काबूर ने रोम पर आक्रमण कर दिया। 18 सितम्बर को पोप का सेनापति लामौरीसियर परास्त हो गया। 29 सितम्बर को एकोना का पतन हो गया।

इस अन्तराल में गैरीबाल्डी भी अपनी सेना के साथ रोम की और बढ़ रहा था परन्तु केपुआ मे उसकी गति अवरूद्ध हो गई थी जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है। इस अरसे में काबूर ने जनमत के माध्यम से नेपिल्स, सिसली व पोप के राज्य को सार्डिनिया पिडमाण्ट में मिलने को राजी कर लिया। इससे काबूर की स्थिति सुदृढ़ हो गई उधर गैरीबाल्डी इस निष्कर्ष पह पहुंच गया कि वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बिना विक्टर एमेनुअल की सैनिक सहायत के रोम के अभियान में सफल नहीं हो सकता। इसी समय गैरीबाल्डी की विक्टर एमेनुअल से टिआनों में मुलाकात हुई। इस मुलाकात का परिणाम यह हुआ कि 7 नवम्बर 1860 को दोनों ने साथ–साथ नेपिल्स मे प्रवेश किया और गैरीबाल्डी ने उसे इटली का शासक स्वीकार करते हुए नेपिल्स व सिसली सौप दिए। रोम विजय के उपरान्त गैरीबाल्डी अपनी सेना एवंसमस्त अधिकार इटली के शासक को सौप कर बिना किसी पुरस्कार के प्राप्त किये अपने टापू केप्रीरा चला गया।

फरवरी, 1861 में ट्यूसिन में इटली की प्रथम संसद की बैठक हुई जिसमें विनेशिया और रोम को छोड़कर समस्त इटली के प्रतिनिधि उपस्थिति थे। विक्टर एमेनुअल द्वितीय को विधिवत इटली का शासक स्वीकार किया गया। इस संसद में सम्राट ने घोषित किया कि बिना रोम के इटली की स्वतन्त्रता अधुरी है। इस पर समस्त सदस्यों ने अपनी सहमति व्यक्त की।

2.7 विक्टर इमेनुअल द्वितीय (1849–70) और एकीकरण में उसका योगदान :

मार्च 1849 मे जब विक्टर इमेनुअल पीडमान्ट–सार्डीनिया का शासक बना, उस समय सार्डीनिया की सेना आस्ट्रिया से परास्त हो चुकी थी, अतः विक्टर इमेनुअल को आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। किन्तु सार्डीनिया की संसद ने इस सन्धि के कारण विक्टर इमेनुअल का विरोध करना आरम्भ कर दिया। इधर आस्ट्रिया ने उस पर 1848 के संविधान को रद्द करने के लिये दबाव डाला, किन्तु विक्टर इमेनुअल ने संविधान को बनाये रखा। अगस्त 1849 मे सार्डीनिया व आस्ट्रिया के बीच सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, किन्तु सार्डीनिया की संसद ने उसे अस्वीकार कर दिया। अतः विक्टर इमेनुअल ने संसद को भंग कर दिया। विक्टर इमेनुअल को यह विश्वास था कि मध्यममार्गी उदार नीति को अपनाकर सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण किया जा सकता है। उसने इस हेतु प्रयत्न भी आरम्भ कर दिये। वह अपने गुणों के कारण जनता में लोकप्रिय हो गया। पीडमान्ट की जनता उसे ईमानदार राजा कहने लगी। सभी देशभक्तों को यह विश्वास हो गया कि पीडमान्ट के द्वारा ही इटली का उद्धार होगा। अतः इटली के सभी निर्वासित देशभक्त पीडमान्ट की राजधानी की और आकर्षित होने लगे। इधर विक्टर इमेनुअल को भाग्यवश 1852 में काउन्ट काबूर जैस योग्य मुख्य मन्त्री मिल गया, जिसकी गणना 19वीं शताब्दी के महान् कूटनीतिज्ञों में की जाती है।

2.8 काउन्ट काबूर (1810–1851) :

काउन्ट काबूर का जन्म 1810 मे ट्यूरिक (सार्डीनिया) के एक कुलीन परिवार में हुआ था। सैनिक शिक्षा प्राप्त कर वह सेना में इन्जीनियर के रूप में भर्ती हुआ। किन्तु अपने उदार विचारों के कारण 1831 में उसे सैनिक सेवा से त्याग पत्र देना पड़ा। इसके बाद वह 15 वर्ष तक अपने जमीदारी संभालता रहा। इस काल मे उसने फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि की यात्राएं कर राजनीति का ज्ञानप्राप्त कर लिया। इंग्लैण्ड में रहकर उसने वहाँ की संसदीय प्रणाली का अध्ययन किया जो उसे बहुत पसन्द आयी और अपने देश में भी इसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1846 में काबूर ने कृषि की उन्नति के लिए समिति बनायी। आगे चलकर इस समिति का कार्यालय राजनैतिक वाद–विवादों का केन्द्र बन गया। आगे चलकर इस समिति का कार्यालय राजनैतिक वाद–विवादों का केन्द्र बन गया। 1847 में उसने इल रिसार्जिमेन्टो नामक उदारवादी समाचार पत्र निकाला तथा इसके माध्यम से अपने देश के एकीकरण और सुधारों के लिए प्रचार करना आरम्भ कर दिया। 1848 मे वह पीडमान्ट सार्डीनिया की प्रथम संसद का सदस्य चुना गया। देश मे बार–बार चुनाव हुए, किन्तु काबूर हर बार निर्वाचित होता रहा। उसकी योग्यता के कारण 1850 मे उसे वित्त एंव उद्योग मन्त्री नियुक्त किया गया। 1850 में डी एजेग्लिओं के मन्त्रिमण्डल द्वारा त्यागपत्र देने पर विक्टर इमेनुअल ने उसे प्रधानमन्त्री बनाया। काबूर का यह निश्चित मत था कि इटली की स्वाधीनता और एकता के कार्यों के लिए पीडमान्ट का सेवाय राजवंश ही देश का नेतृत्व कर सकता है। वह पीडमान्ट को एक आदर्श राज्य का रूप देना चाहता था जिससे कि इटली के अन्य राज्य उसे अपना नेता मान ले।

2.8.1 काबूर के राजनैतिक विचार एवं उद्देश्य :

काबूर भी मेजिनी के समान सच्चा देशभक्त था तथा उसका लक्ष्य भी वही था जो मेजिनी का था। किन्तु इटली का एकीकरण किस प्रकार किया जाये तथा उसे एकीकृत इटली का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध मे उसके विचार मेजिनी के गणतन्त्र में भिन्न थे। मेजिनी कल्पनाशील था जबकि काबूर व्यावहारिक था। काबूर राजतन्त्र का प्रबल समर्थक था और उसे मेजिनी के गणतन्त्रीय विचारों एवं क्रांतिकारी साधनो के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। काबूर अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तलवारबाजी के पैंतरों के स्थान पर राजनैतिक दांवपेच और कूटनीति में अधिक विश्वास करता था। अभी तक इटली को आस्ट्रिया का घरेलू मामला समझा जाता था, किन्तु काबूर इटली की समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बना देना चाहता था। वह आस्ट्रिया को इटली से बाहर धकेलने के लिए यूरोप की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसी महाशक्ति से सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था। इस सम्बन्ध में भी उसका दृढ़ विश्वास था कि आस्ट्रिया के विरूद्ध यदि कोई देश इटली को सहायता दे सकता है तो वह केवल फ्रांस ही है। उसने कहा भी था कि, हम चाहें या न चाहें किन्तु हमारा भाग्य फ्रासं पर निर्भर है।'' वह इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित था कि यदि पीडमान्ट सार्डीनिया को इटली के स्वाधीनता संग्राम में नेतृत्व करना है तो उसे आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाना होगा तथा जनता का विश्वास प्राप्त करने हेतु पीडमान्ट का शासन उदार होना चाहिये। इटली का एक अन्य देशभक्त गेरीबाल्डी भी था जो मूलतः कुशल सैनिक था। केटलबी ने लिखा है कि, ''वह काबूर के महान् मस्तिष्क का कार्य था जिसने मेजिनी की प्रेरणा से कूटनीतिज्ञ शक्ति के रूप में गतिमान बनाया तथा गैरीबाल्डी की तलवार का एक राष्ट्रीय शस्त्र के रूप में प्रयोग किया।'' काबूर अपनी कूटनीति से अपनी योजना को एक के बाद एक पूरी करता गया तथा आस्ट्रिया के चारों और ऐसा जाल बिछाया कि आस्ट्रिया इस कूटनीतिक जाल में फंसे बिना न रह सका और इटली का एकीकरण रूक नहीं सका। वस्तुतः काबूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद तथा गैरीबाल्र्ड का सैनिकवाद निरर्थक सिद्ध होता। काबूर ने अपनी कूटनीति में इन दोनों का उचित सामन्जस्य स्थापित किया।

2.8.2 काबूर की आन्तरिक नीति :

काबूर ने इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली के आधार पर पीडमान्ट सार्डीनिया को भी पूर्णतः वैधानिक राज्य बनाने का प्रयत्न किया उसने स्वशासी संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जिससे कि स्वतन्त्र राजनैतिक जीवन का विकास हो सके। काबूर ने पीडमान्ट सार्डीनिया की कानून व्यवस्था पर भी ध्यान दिया तथा आठ वर्षों में विधि सम्बन्धी सुधारों को पूर्ण कर दिया। वह जानता है कि इटली के स्वाधीनता संग्राम में पीडमान्ट को इटली के अन्य राज्यों के सहयोग की आवश्यकता होगी। इटली के अन्य राज्यों के शासकों से सहयोग प्राप्त करना कठिन था, अतः उसने इन राज्यों के प्रगतिशील विचारों के लोगों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने इटली की उन सभी संस्थाओं से निकट सम्पर्क स्थापित किया जो इटली की स्वाधीनता के लिये उत्सुक थी। काबूर के प्रयत्नों से पीडमान्ड को मेजिनी जैसे गणतन्त्रवादियों, गैरीबाल्डी जैसे क्रांतिकारियों, कार्बोनरी जैसी गुप्त संस्थाओं तथा युवक इटली जैसी अनुशासित संस्थाओं का सहयोग प्राप्त हुआ।

काबूर ने राज्य की आर्थिक उन्नति के उद्देश्य से उद्योग, व्यापार और कृषि के विकास के लिये अथक प्रयत्न किया। उसने मुक्त व्यापार की नीति के आधार पर पड़ौसी राज्यों से व्यापारिक सन्धियां की, जिससे जीवन की आवश्यक वस्तु सरलता से उपलब्ध होने लगी। उसने कारखानों को सरकारी सहायता दी तथा रेलों, सड़कों और नहरों का विकास कियां नये बैंक स्थापित किये गये तथा सरकारी समितियां स्थापित की गई। कृषि के लिये ऋण आदि का प्रबन्ध किया गया। बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया गया। राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वित्त विभाग में भी सुधार किये गये। कुछ नये कर लगाकर राज्य की आय में वृद्धि की गई। सेना के संगठन में सुधार किये तथा सीमावर्ती क्षेत्रों की किलेबन्दी की गई। शिक्षा की उन्नति के लिये अनेक कदम उठाये गयें उसने गिरजाघरों की भूमि पर कर लगाया। चर्च के प्रभाव और उनके विशेषाधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया गया। कैथोलिक, इटली की एकता के विरूद्ध थे, अतः उन्हें राज्य से निकाल दिया गया और चर्च के मठों को समाप्त कर दिया गया।

काबूर की इस आन्तरिक नीति के परिणामस्वरूप पीडमान्ट एक समृद्ध सुदृढ़ एवं सशक्त राज्य बन गया। इटली के सभी लोग पीडमान्ट की प्रशंसा करने लगे यद्यपि उसके आन्तरिक सुधारो के आधार पर ही उसे प्रगतिशील एवं योग्य होने का श्रेय प्राप्त हो जाता, किन्तु इटली के एकीकरण सम्बन्धी कार्यों तथा उसकी विदेश नीति की सफलता के कारण उसके आन्तरिक सुधारों की और ध्यान दिया जाता है।

2.8.3 काबूर की विदेश नीति :

इटली के एकीकरण के लिये, आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमान्ट के शासन की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, काबूर की विदेश नीति का मूल उद्देश्य था। काबूर, मेजिनी तथा कुछ अन्य लोगों के इस विचार से सहमत नही था कि अकेला इटली बिना किसी बाह्य सहायता के, आस्ट्रिया को इटली से बाहर धकेल देगा। काबूर का निश्चित मत था कि, किसी यूरोपीय महाशक्ति की सहायता के बिना आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त होना सम्भव नहीं है। इसलिये वह कोई शक्तिशाली मित्र की खोज करना चाहता था तथा इसके साथ ही वह इटली के प्रश्न पर यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति भी प्राप्त करना चाहता था। यद्यपि इस नीति को कार्यान्वित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य था, तथापि काबूर ने कठिनाइयों का बड़ी दृढ़ता से सामना किया तथा अपने लक्ष्य के लिए

Rani Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

डटा रहा। सर्वप्रथम उसका प्रयास यह रहा कि इटली की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप दे दिया जाय ताकि यूरोपीय महाशक्तियों की सहानुभूति प्राप्त की जा सके और तत्पश्चात उनसे मित्रता की जा सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये काबूर ने विदेश नीति के क्षेत्र में निम्न कार्य किये।

2.8.4 क्रीमिया का युद्ध और काबूर :

काबूर इस बात को भली–भांति जानता था कि फ्रांस और इंग्लैण्ड की इटली के एकीकरण में सहायक सिद्ध हो सकते है। इसलिये उसने फ्रांस और इंग्लैण्ड के प्रमुखपत्र–पत्रिकाओं में इटली के देश भक्तों के लेख प्रकाशित करवाये जिससे दोनों देशो की इटली के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी। दूसरा अवसर उसे उस समय मिला जब आस्ट्रिया ने, इटली में स्थित लोम्बार्डी और वेनेशिया के निर्वासित क्रान्तिकारियों की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। काबूर ने इसका विरोध किया तथा उसने सम्पत्ति पर अधि ाकार कर लिया। काबूर ने इसका विरोध किया तथा उसने सम्पत्ति को वापस दिलाने का प्रयत्न किया। यद्यपि उसे अपने प्रयत्नों मे सफलता तो नही मिली, किन्तु फ्रांस और इंग्लैण्ड ने काबूर के इस कार्य का समर्थन किया। इंग्लैण्ड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त करने का अवसर क्रीमिया युद्ध ने भी प्रदान किया। इंग्लैण्ड और फ्रांस 1854 से रूस के विरूद्ध टर्की के पक्ष में युद्ध में इस संलग्न थे। काबूर यूरोप के राजनैतिक मंच पर इंग्लैण्ड और फ्रांस के मित्र के रूप में आना चाहता था। अतः बिना किसी शर्त के क्रीमिया के युद्ध में इंग्लैण्ड और फ्रांस की सहायात के लिये 18 हजार पीडमान्टी सैनिक भेज दिये। उस समय इटली के उदारवादियों ने काबूर की इस नीति का विरोध किया, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से उसने निरंकुश टर्की की सहायता की थी। किन्तु विक्टर इमेनुअल ने इस नीति का अनुमोदन किया। वस्तुतः क्रीमिया युद्ध में रूस के विरूद्ध फ्रांस और इंग्लैण्ड की सहायता देना काबूर की महान् कूटनीतिज्ञता एवं दूरदर्शिता थी।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यूरोपीय महाशक्तियो का पेरिस में सम्मेलन हुआ। काबूर को भी इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया तथा रूस के प्रतिनिधियों के साथ सम्मेलन मे भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि पीडमान्ट को आमंत्रित करने का आस्ट्रिया ने विरोध किया, किन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस ने उसके विरोध के बावजूद सार्डीनिया को सम्मेलन मे आमन्त्रित किया। सार्डीनिया की ओर से काबूर ने सम्मेलन में भाग लिया। उसने सम्मेलन मे इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया तथा इसके लिये आस्ट्रिया की उपस्थिति मेही यूरोप के राजनीतिज्ञो ने इटली के प्रश्न पर विचार किया। काबूर ने इटली के प्रति, आस्ट्रिया की नीति की कटु आलोचना करते हुए यूरोप के राजनीतिज्ञो को वस्तु स्थिति से अवगत करा दिया। अपनी कूटनीति से उसने न केवल इंग्लैण्ड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त की, वरन सम्मेलन मेंआये सभी अन्य राष्ट्रों का ध्यान भी इटली की समस्या की ओर आकर्षित किया। काबूर ने इटली के प्रश्न को एक यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस सम्मेलन मे काबूर की यह महान विजय थी, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण इटली मे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई।

पेरिस के सम्मेलन मे काबूर के भाषणों से आस्ट्रिया को गहरा आघात लगा। फलस्वरूप उसने इटली के प्रति समझौतावादी नीति अपनायी। लोम्बार्डी और वेनेशिया में अपने शासन की कठोरता मे कमी कर दी तथा निर्वासित क्रांतिकारियो की सम्पत्ति को जब्त करने के आदेश वापस ले लिए। सम्राट ने अपने भाई मेक्सीमिलियन को जो उदारवादी था, लोम्बार्डी, वेनेशिया का गवर्नर नियुक्त किया। किन्तु इससे इटली के देशभक्तों का विरोध कम नहीं हुआ, क्योकि वे यह नही चाहते थे कि आस्ट्रिया अपनी इटली सम्बन्धी नीति मे सुधार करे, बल्कि वे तो चाहते थे कि आस्ट्रिया इटली से निकल जाये।

2.8.5 प्लोम्बियर्स का समझौता :

काबूर इस तथ्य से भी परिचित था कि इंग्लैण्ड की सहानुभूति इटली के प्रति अवश्य है, किन्तु वह इटली को आस्ट्रिया के विरूद्ध कोई सक्रिय सहायता देने के लिये तैयार नही था, क्योंकि इंग्लैण्ड वियना कांग्रेस की व्यवस्था मे कोई परिवर्तन करना नहीं चाहता था। अतः काबूर ने फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उसे नेपोलियन से सहायता प्राप्त होने की आशा भी थी, क्योंकि नेपोलियन की नसों में इटालियन परिवार का रक्त बह रहा था, वह इटली के विद्रोहों में सक्रिय भाग ले चुका था और वह वियना व्यवस्था के भी विरूद्ध था। जून 1858 मे नेपोलियन तृतीय सार्डीनिया की सीमा के निकट स्थिति प्लोम्बियर्स में छुट्टिया व्यतीत करने के लिये ठहरा हुआ था। काबूर बिना किसी औपचारिक नियन्त्रण के प्लोम्बियर्स पहुंच गया। 21 जुलाई 1858 को काबूर ने उसके साथ गुप्त मन्त्रणा की, जिसके फलस्वरूप फ्रांस और सार्डीनिया के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित बातें तय हुई –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. नेपोलियन ने वचन दिया कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध होने पर फ्रांस सार्डीनिया को सैनिक सहायता देगा। इस सैनिक सहायता के बदले में सार्डीनिया फ्रांस को सेवाय और नीस देगा।

2. आस्ट्रिया को निकाल देने के बाद लोम्बार्डी, वेनेशिया और कुछ अन्य भाग सार्डीनिया के राज्य में मिला लिये जायेंगे। अम्ब्रिया और टस्कनी को मिलाकर एक नया राज्य बनाया जायेगा तथा नेपोलियन के चचेरे भाई जेरोम बोनापार्ट को वहां का शासक बनाया जायेगा। नेपिल्स व सिसली के राज्य तथा पोप के राज्य को पूर्ववत् रखा जायेगा। इस प्रकार इटली को चार राज्यों में विभाजित कर उसका एक संघ बनाने की योजना बनायी गई।

3. विक्टर इमेनुअल की पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट के साथ होना निश्चित हुआ।

यद्यपि काबूर यह नही चाहता था कि इटली के चार टुकड़े हो जाये, किन्तु आस्ट्रिया के विरूद्ध फ्रांस की सहायता को आवश्यक समझते हुए उसने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया था। नेपोलियन भी इटली की स्वाधीनता तो चाहता था किन्तु वह इटली का एकीकरण नहीं चाहता था। विक्टर इमेनुअल अपनी पुत्री का विवाह जेरोम बोनापार्ट से करना नहीं चाहता था। किन्तु काबूर के समझाने पर वह तैयार हो गया। यद्यपि काबूर यह नहीं चाहता था कि इटली के चार टुकड़े हो जाय, किन्तु आस्ट्रिया के विरूद्ध फ्रांस की सहायता को आवश्यक समझते हुए उसने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया था।

2.8.6 आस्ट्रिया से युद्ध :

प्लोम्बियर्स मे यह भी तय किया गया था कि आस्ट्रिया को भड़का कर इस प्रकार युद्ध आरम्भ किया जाये कि आस्ट्रिया आक्रामक लगे तथा सार्डीनिया आत्म रक्षा के लिये लड़ने वाला प्रतीत हो। काबूर ने प्लोम्बियर्स से लौटते ही युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। पीडमान्ट के समाचार पत्रों में आस्ट्रिया की कटु आलोचना की जाने लगी। इधर काबूर ने इटली स्थित आस्ट्रिया के मस्स और फर्रारा में विद्रोह करवा दिया, जिससे स्थिति तनावपूर्ण हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यंभावी है। अतः ब्रिटेन ने सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच समझौता कराने हेतु यूरोपीय कांग्रेस आमन्त्रित करने का सुझाव रखा। आस्ट्रिया ने इस प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार किया कि कांग्रेस अधिवेशन के पूर्व सार्डीनिया का निःशस्त्रीकरण हो जाना चाहिये। सार्डीनिया का कहना था कि पहले आस्ट्रिया की सेना अपनी सीमा में चली जाये। अतः अल्टीमेटम भेजा कि तीन दिन के भीतर निःशस्त्रीकरण कर दे अन्यथा उसके विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया जायेगा। इससे काबूर खुशी से उछल पड़ा क्योंकि जो वह चाहता था वही हुआ। आस्ट्रिया ने आक्रामक नीति अपनायी, जबकि सार्डीनिया अपनी आत्मरक्षा के लिये तैयार हो गया। काबूर ने आस्ट्रिया के अल्टीमेटम को ठुकरा दिया। 29 अप्रेल 1859 को आस्ट्रिया ने सार्डीनिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध मे विक्टर इमेनुअल ने स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भाली। 3 मई को नेपोलियन तृतीय ने भी आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस और सार्डीनिया की संयुक्त सेना ने 4 जून को मेजेन्टा मे तथा 24 जून की सालफरीनों में आस्ट्रिया की सेनाओं को पराजित किया। लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब वेनेशिया पर भी इटली का अधिकार हो जायेगा तथा इटली पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा। किन्तु नेपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया से बिना पूछे युद्ध बन्द करने का निश्चय कर लिया।

2.8.7 विलाफ्रेंका की सन्धि :

आस्ट्रिया की पराजय से इटली के सभी राज्यों की जनता सार्डीनिया से समबन्ध होने के लिये उत्तेजित हो उठी तथा एक शक्तिशाली राज्य के रूप में इटली के उदय होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इससे नेपोलियन चौकन्ना हो गया। वह नहीं चाहता था कि फ्रांस को खतरा उत्पन्न हो जाये। इधर नेपोलियन को युद्ध मे काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि यह युद्ध कुछ समय और चलता तो उसे अधिक हानि की सम्भावना थी। दूसरी ओर उसे प्रशा के आक्रमण का भी भय था क्योंकि प्रशा की सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी थी। इसके अतिरिक्त फ्रांस के रोमन कैथोलिक युद्ध जारी रखने के पक्ष मे नहीं थे, क्योकि उसे इस बात का भय था कि आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध जारी रखने से पोप की स्थिति खतरे में पड़ जायेगी। इन सभी कारणो से नेपोलियन तृतीय ने 11 जुलाई 1859 को विलाफ्रेंका नामक स्थान पर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट कर युद्ध विराम की शर्तें तय कर ली। इस सन्धि के अनुसार लोम्बार्डी का प्रान्त (मान्टुआ तथा पेश्चीरा को छोडकर) फ्रांस को हस्तांतरित कर दिया तथा फ्रांस ने उसे सार्डीनिया को दे दिया। वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार पूर्ववत् बना रहा। परमा, मोडेना और टस्कनी में वहां के शासको को पुनः उनकी गद्दियां वापस कर दी गई।

विलाफ्रेंका की सन्धि के सामचार से इटलीवासियों को गहरा आघात लगा। इटली के देशभक्तों ने नेपोलियन की घोर निन्दा

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lucknow

की। उनका कहना था कि विजय के अन्तिम क्षणो में अपने मित्र सार्डीनिया को बिना पूछे युद्ध को बीच में रोक देना विश्वासघात था। काबूर तो इससे आग बबूला हो उठा था। उसने विक्टर इमेनुअल को सलाह दी कि वह इस सन्धि को अस्वीकार करते हुए अकेले ही आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध जारी रखे। किन्तु विक्टर इमेनुअल आवेश में शीघ्र ही कोई निर्णय करना नहीं चाहता था, अतः उसने काबूर की सलाह को मानने से इन्कार कर दिया। क्रोधित होकर काबूर ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। यद्यपि विक्टर इमेनुअल को भी नेपोलियन की नीति से उतनी ही निराशा हुई थी जितनी काबूर को, किन्तु अकेले सार्डीनिया के लिए शक्तिशाली आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध जारी रखना व्यवहारिक दृष्टि से उचित नहीं था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी देखा कि लोम्बार्डी से आस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त हो जाने से वियना व्यवस्था भंग होनी आरम्भ हो गयी थी और जब यूरोपीय शक्तियों ने लोम्बार्डी पर इटली के अधिकार को मान्यता दे दी है तो एक प्रकार से वेनेशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। अतः परिस्थितियो को देखते हुए विक्टर इमेलुअल ने आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ मिलकर 10 नवम्बर 1859 को ज्यूरिक की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके द्वारा विलाफ्रेंका की सन्धि की पुष्टि की गई। नेपोलियन तृतीय ने प्लोम्बियर्स के समझौते की शर्तो के पालन पर जोर नहीं दिया और केवल युद्ध का खर्चा लेकर ही सन्तोष कर लिया। अब लोम्बार्डी पर सार्डीनिया का विधिवत् अधिकार हो गया और इस प्रकार इटली के एकीकरण का प्रथम चरण भी पूरा हो गया।

वह एक समझदार राजनीतिज्ञ एवं सच्चा देशभक्त था। इसके साथ–साथ वह वीर सैनिक तथा ईमानदार शासक था। हालांकि वह यूरोप की तत्कालीन राजनीति से पूर्ण परिचित नहीं था तथापि वह एक समझदार राजनीतिज्ञ था। इटली के उद्धार के लिए वह भी उतना ही उत्सुक था जितने कि अन्य इटली के देश–भक्त थे। यही कारण था कि उसने शीघ्र ही इटली के देशभक्तों में अपने लिए आस्था उत्पन्न कर ली। 1851 में ही जिआबर्टी ने यह स्वीकार किया था कि पीडमान्ट के युवक शासक को छोड़कर अन्य कोई व्यक्ति मुझे ऐसा दिखाई नहीं देता जो इटली को मुक्त करा सके।

विक्टर एमेनुअल ने अपने को जनता की आस्था के अनुरूप ही सिद्ध किया। उसने उदारवादी एवं राष्ट्रीय विचारों के राजनीतिज्ञ काबूर को अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया। 1861 तक इटली का एकीकरण एक प्रकार से काबूर के नेतृत्व मे होता रहा और उसके दूसरे चरण तक सिवाय रोम व विनेशिया के इटली के समस्त राज्य विक्टर एमेनुअल के नेतृत्व में आ गये थे। दुर्भाग्यवश अब 6 जून, 1866 को काबूर इस लोक से चल बसा तो इन दोनों राज्यों को लेने का भार विक्टर एमेनुअल पर ही आ पड़ा।

2.8.8 विनेशिया की प्राप्ति :

20 जून, 1866 में आस्ट्रिया व प्रशा के बीच युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसे इटली का तृतीय स्वतन्त्रता संग्राम कह सकते है। इस युद्ध में इटली ने प्रशा की सहायता की। विक्टर एमेनुअल और बिस्मार्क के बीच यह तय हो गया (8 अप्रेल, 1866) कि आस्ट्रिया के विरूद्ध दोनों एक साथ युद्ध छेड़ेगें और प्रशा आस्ट्रिया से तब तक सन्धि नहीं करेगा जब तक कि वह इटली को विनेशिया नहीं दिला देगा। युद्ध में विक्टर एमेनुअल की सेना तो आस्ट्रिया में कस्टोजा परास्त हो गई, पर आस्ट्रिया को प्रशा से परास्त होना पड़ा। अतः प्रशा व आस्ट्रिया के बीच जब सन्धि हुई तो विनेशिया सार्डिनिया में मिला दिया गया। इस प्रकार 7 नवम्बर, 1866 को विनेशिया का राज्य भी इटली का राज्य का एक अंग हो गया।

2.8.9 रोम की प्राप्ति :

रोम अभी तक पोप के अधीन था और उसकी सुरक्षा के लिए फ्रेंच सेनाये वहां पड़ी हुई थी। विक्टर एमेनुअल रोम को ही अपने राज्य कीराजधानी बनाना चाहता था। उसे मिलाने का अवसर उसे 1870 में मिला जबकि प्रशा व फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ा। बिस्मार्क ने 1870 में फ्रांस पर आक्रमण किया। देश पर आक्रमण होते ही नेपोलियन ने अपनी सेना रोम से बुला ली। सेडान के युद्ध मे नेपोलियन की पराजय के समाचार ज्योंही विक्टर एमेनुअल के पास पहुंचे कि उसने 60,000 सैनिकों के साथ रोम पर आक्रमण कर दिया। इस समय सेना का नेतृत्व पर केडोर्ना कररहा था। रोम में फ्रांस की सेना न होने के कारण पोप की सेना परास्त हो गई। पोप भागकर अपने प्रसाद में छिप गया और रोम पर 20 सितम्बर, 1870 विक्टर एमेनुअल का अधिकार हो गया। विजय के उपरान्त रोम का इटली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राज्य में विलय होने के विषय में जनमत लिया गया। एक लाख तीस हजार वोट विलय के पक्ष में तथा केवल 1500 मत विपक्ष में आये। अतः 1870 में रोम भी इटली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इटली राज्य की राजधानी ट्यूरिन से हटाकर रोम बना दी गई। 2 जून, 1871 को रोम में संसद का उद्घाटन करते हुए विक्टर एमेनुअल ने कहा – ''जिस कार्य के लिए हमने अपना जीवन भेंट चढ़ाया था वह आज पूरा हो गया है। हमारी राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई है। अब हमें अपने देश को सुखी एवं सम्पन्न बनाना है। हम रोम मे है और रोम में ही रहेंगे।''

इस प्रकार हम देखते है कि इटली का एकीकरण पूर्णतः सार्डिनिया के शासक वर्ग (चार्ल्स एलबर्ट न कियक्टर एमेनुअल) के नेतृत्व मेंही सम्पन्न हुआ। अतः मैजिनी तथा जिओबर्टी ने जो राजवशं मे विश्वास व्यक्त किया था, वह सही निकला। वियना कांग्रेस द्वारा विभक्त इटली के आठ राज्यों के लोगों को भी स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व करने की आशा इसी रावजंश से थी। अतः जिस प्रकार इटली के एकीकरण के लिए मैजिनी का नैतिक बल गैरीबाल्डी की तलवार व काबूर की कूटनीति उत्तरदायी मानी जाती है, उसी प्रकार विक्टर एमेनुअल की समझदारी भी इटली के एकीकरण के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती है।

2.9 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – मैजिनी का जन्म कहां हुआ ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – इटली में राष्ट्रीयता के उदय के किन्हीं दो कारणों को बताइएं ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – ईटली के एकीकरण में काबूर के योगदान को सविस्तार से विवेचित कीजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 3
जर्मनी का एकीकरण

3.0 वियना कांग्रेस के बाद जर्मनी की राजनीतिक अवस्था
3.1 विस्मार्क के पूर्व (1815–60)
3.1.1 मानसिक थकान
3.1.2 सुधारवादियों में मतभेद
3.1.3 प्रतिक्रियावादी शासन
3.1.4 आस्ट्रिया और प्रशा का द्वेष
3.2 जर्मनी में राष्ट्रीय भावना के प्रसार के तत्व
3.2.1. बौद्धिक विकास
3.2.2. नेपोलियन की विजय
3.2.3. जोलवरीन संघ की स्थापना
3.2.4. 1830 व 1848 की क्रांतियां
3.2.5. औद्योगिक क्रांति
3.2.6. शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीयता के प्रसार में योग
3.2.7. जर्मन राष्ट्रीयता के प्रसार में देश–भक्तों का योग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.2.8. जर्मन नेशनल एसोसियेशन की स्थापना
3.2.9. होली रोमन साम्राज्य के प्रति श्रद्धा
3.3 विलियम प्रथम (1861–1888) व जर्मनी का एकीकरण
3.4 बिस्मार्क (1815–98) व जर्मनी का एकीकरण
3.4.1 बिस्मार्क का प्रारम्भिक जीवन
3.5 जर्मनी के एकीकरण की बिस्मार्क द्वारा तैयारी
3.5.1. पोलैण्ड के विरूद्ध रूस को सहायता
3.5.2. फ्रांस के साथ सन्धि करना
3.6 बिस्मार्क व जर्मनी का एकीकरण
3.6.1. श्लेस्विंग व हालस्टीन की समस्या
3.6.2 गेस्टाइन का समझौता
3.6.3 समझौते का महत्व
3.6.3 समझौते का महत्व
3.7 अस्ट्रो–प्रशियन युद्ध तथा जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण
3.7.1. गेस्टाइन समझौता
3.7.2. जर्मन राज्यों में आस्ट्रियां की प्रधानता
3.8 सात सप्ताह का युद्ध
3.9 उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण
3.10 फ्रांस और प्रशा का युद्ध
3.11 फ्रैंकफर्ट की सन्धि
3.12 युद्ध के परिणाम
3.13 जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण होना
3.14 बोध प्रश्न

3.0 वियना कांग्रेस के बाद जर्मनी की राजनीतिक अवस्था :

जिस प्रकार इटली के एकीकरण का कुछ श्रेय नेपोलियन को जाता है, उसी प्रकार जर्मनी के एकीकरण का श्रेय भी कुछ सीमा तक उसे ही जाता है। उसकी जर्मन–विजय जर्मनी के एकीकरण की पृष्ठ भूमि बनी। पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त उसने 1806 में कर दिया था और उसके स्थान पर 200 छोटे–बड़े राज्यों को उसने 39 राज्यों के संगठन में गठित करके राइन परिसंघ की रचना की थी, परन्तु यह संघ उसके पतन के साथ ही समाप्त हो गया। अतः वियना कांग्रेस के सामने यह समस्या थी कि उस राइन परिसंघ की पूर्ति किस प्रकार की जावे ? बहुत कुछ विचार–विमर्श विनिमय के उपरान्त ''जर्मन परिसंघ' का निर्माण किया गया। 1866 तक जर्मनी का प्रशासन उस 'जर्मन परिसंघ' के हाथों ही रहा। उस संघ में 39 राज्य थे और आस्ट्रिया का सम्राट उसका अध्यक्ष था। प्रशा के राजा को उस संघ मे उपाध्यक्ष का स्थान मिला। संघ की एक संसद बनाई गई जिसके सदस्य राज्यों के राजाओं द्वारा मनोनीत किए जाते थे। संसद के अधिकार नाम मात्र के थे सभी राज्य परस्पर स्वतन्त्र थे, पर उन सब पर आस्ट्रिया का प्रभाव व्याप्त था। इसलिए कहा जा सकता है कि जर्मन परिसंघ वास्तविक अर्थ में राष्ट्र नहीं था बल्कि स्वतन्त्र राज्यों का एक ढीला–ढाला मण्डल था। इस संघ निर्माण के पीछे आस्ट्रिया का मुख्य उद्देश्य यह था कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावना का विकास न हो। यह संघ जातियो का संघ न होकर राजाओं का संघ था। अतः आस्ट्रिया के राजा व उसके प्रधानमंत्री मैटरनिख को यह आशा थी कि ये स्वतन्त्र राजा सदैव परस्पर लड़ते रहेंगे और उनमे राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव नहीं हो पावेगा, परन्तु इस बात को वे भूल गये थे कि नेपोलियन के आक्रमणो ने जर्मनी के लोगों में भी संगठन व राष्ट्रीयता को भावना उत्पन्न कर दी थी। जर्मन के सभी प्रगतिशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि जर्मनी की प्रथम आवश्यकता एकता और एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार का निर्माण है परन्तु जर्मनी का एकीकरण का स्वप्न तब तक साकार नही हो पाया जब तक कि बिस्मार्क प्रशा का चान्सलर नहीं बन गया। अतः 1815 से 1862 तक जर्मनी के एकीकरण में बाधाएं ही प्रस्तुत होती रही और उन्हांने जर्मनी के एकीकरण को मन्थर गति से ही आगे बढ़ने दिया।

3.1 विस्मार्क के पूर्व (1815–60) :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

फ्रांस की क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा फैल रही थी किन्तु उसकी गति अत्यन्त ही मन्द थी। इस मन्द गति के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते है–

3.1.1 मानसिक थकान :

नेपोलियन के युद्धो के कारण जर्मनी की जनता और सैनिक शान्ति स्थापना के इच्छुक थे, क्योकि दीर्घकालीन युद्धों के कारण सैनिक और जनता न केवल शारीरिक थकान ही महसूस कर रही थी बल्कि मानसिक थकान भी अनुभन कर रही थी। मानसिक थकान को दूर करने के लिये वे विश्राम चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रीयता एवं उदारवाद की विचारधारा तीव्र गति से विकसित न हो सकी।

3.1.2 सुधारवादियों मे मतभेद :

जर्मनी में जो भी सुधारवादी थे उनमें मतैक्य का अभाव था। वे जर्मनी में सुधारों के लिये अनेक प्रकार की योजनाएं बनाते थे, किन्तु अपने कार्यक्रम के संबंध में वे एक मत नहीं थे। 1. कुछ सुधारवादी दल आस्ट्रिया के परम्परागत गौरव की अवहेलना करना नहीं चाहते थे तो कुछ प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी की शक्ति को संगठित करना चाहते थे 2. कुछ सुधारवादी जर्मनी के सभी राज्यों को हटाकर एक गणराज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे। 3. इसके अतिरिक्त जर्मनी के राजनैतिक दलों के नेताओं में अनुभव का भी अभाव है। 4. जर्मनी की जनता में भी समान रूप से राष्ट्रीय जागृति विकसित नहीं हो पाई थी, इसलिये जर्मनी की सम्पूर्ण जनता संयुक्त जर्मनी की आवश्यकता ही अनुभव नही कर रही थी। केवल शिक्षित वर्ग और कुछ उच्च कुल के लोगों में ही आवश्यकता ही राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। 4. जर्मनी के विभिन्न राज्य भी अपनी–अपनी डफली से अपनी अलग राग अलापते थे। कुछ राज्य प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में थे तो कुछ राज्य सामंतवादी विचारों के प्रबल पोषक थे। जर्मनी की आंतरिक समस्या भी बड़ी विकट थी। कुछ राजनैतिक दल फ्रांसीसी क्रांति से प्रभावित थे तो कुछ क्रान्तिकारी विचारों के घोर शत्रु थे। इन परिस्थितियों के कारण जर्मनी से राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का विकास अत्यन्त ही मन्द रहा।

3.1.3 प्रतिक्रियावादी शासन :

वियना कांग्रेस के निर्णय द्वारा जर्मनी पर आस्ट्रिया का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अत: मेटरनिख ने, जो आस्ट्रिया का चान्सलर था, नवीन विचारधारा को कुचलने का निश्चय कर लिया था। उसने जर्मनी को पूर्ण नियंत्रण में रखने के लिये घोर प्रतिक्रियावादी नीति का अवलम्बन किया। उसने कार्लसबाद के आदेशों के द्वारा जर्मनी में पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी व्यवस्था स्थापित कर दी। इन आदेशों के अनुसार प्रत्येक राज्य के शासक का एक विशेष प्रतिनिधि प्रत्येक विश्वविद्यालय में नियुक्त किया जाता था, जो इस बात का ध्यान रखता था कि वहां सरकार की इच्छानुसार कार्य सम्पादन हो रहा है या नहीं? वह शिक्षकों और छात्रों पर कठोर निगाह रखता था। उदार एवं राष्ट्रीय विचारों के शिक्षकों को पदच्युत करने की व्यवस्था की गई। गुप्त समितियों तथा समाचार पत्रों में अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसके अतिरिक्त एक जांच आयोग स्थापित किया गया जो क्रान्तिकारी समितियों का पता लगाता था। प्रशा भी इस काम में मेटरनिख की नीतियों का समर्थक बना रहा तथा जर्मनी के छोटे–छोटे राज्य भी मेटरनिख की इच्छानुसार शासन चलाते रहे। 1848 तक मेटरनिख के प्रभाव के कारण जर्मनी में प्रगतिशील विचारों को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। फ्रांस की 1830 की क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी की कुछ रियासतों में क्रान्ति का प्रसार हुआ, किन्तु आस्ट्रिया, प्रशा और रूस के सम्मिलित प्रयासों से क्रांतिकारियो को कुचलकर पुन: प्रतिक्रियावादी सत्ता स्थापित कर दी गई। तत्पश्चात् 1833 से 1847 के बीच जर्मनी में कोई सुधारवादी आन्दोलन नहीं हुआ।

3.1.4 आस्ट्रिया और प्रशा का द्वेष :

आस्ट्रिया और प्रशा में पारस्परिक द्वेष भी था। इन दोनों में पारस्परिक द्वेष इस बात को लेकर था कि जर्मनी का नेतृत्व किसके हाथ में रहे। आस्ट्रिया, जर्मनी का नेतृत्व इसलिये करना चाहता था कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावनाओ को कुचला जा सके, क्योंकि उसे भय था कि यदि जर्मनी, राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर एक हो गया तो यह महामारी आस्ट्रिया के साम्राज्य में भी फैल जायेगी। इसलिये मेटरनिख चाहता था कि जर्मनी को इतना कमजोर रखा जाय कि वहां उदारवाद की विचारधारा उत्पन्न ही न हो और यह तभी संभव था जबकि जर्मनी के राज्यों को विभाजित रखा जाय। अत: मेटरनिख का यही प्रयत्न रहा कि जर्मनी के विभिन्न राज्य विभाजित रहें। इसके विपरीत प्रशा चाहता था कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर जर्मनी को संगठित किया जाय और इस संगठित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जर्मनी के नेतृत्व प्रशा करे। इस प्रकार आस्ट्रिया और प्रशा के पारस्परिक द्वेष के कारण जर्मनी मे राष्ट्रीयता के विकास की गति अत्यन्त ही मन्दी रही।

3.2 जर्मनी में राष्ट्रीय भावना के प्रसार के तत्व :

3.2.1. बौद्धिक विकास :

जर्मनी मे राष्ट्रीय विचारों के प्रसार में वहां के दार्शनिकों, राजनीतिक विचारकों व विद्वानों की कृतियों ने महान सहयोग दिया है। गेटे, शिलर हीगल आदि दार्शनिकों ने जर्मनी की राष्ट्रीयता को नवीन गति प्रदान की। हीगल ने शक्ति पर आधारित राज्य पर जोर दिया। हीगल का मत था कि सार्वलौकिक विचारधारा का सर्वोत्तम रूप राष्ट्र है। इसलिए राष्ट्र सबसे ऊपर है और राष्ट्र की सत्ता सबसे ऊपर होनी चाहिए। डालमेन रांके ने जर्मन इतिहास को नवीन रूप में प्रस्तुत किया। इसके साथ ही हेनरिक हाइन तथा आर्नडट जैसे कवियो ने अपनी रचनाओं से जन साधारण में राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया। हाफमेन वान फालर स्लेबन तथा निकालस बेकर जैसे ओजस्वी गीतकार पैदा हुए जिनके गीत ही राष्ट्रीय नारे बन गये। समस्त जर्मनी में बौद्धिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। यद्यपि राजाओ के प्रक्रियावादी विचारों के कारण वे अपने विचारों का खुला प्रसार नहीं कर सके तथापि उनकी रचनाओं से जर्मनी की राष्ट्रीयता पर्याप्त प्रबल हुई।

3.2.2. नेपोलियन की विजय :

नेपोलियन की साम्राजयादी क्षुधा से जर्मन राज्य भी नहीं बचे थें उसने उसको विजित किया तो 200 राज्यो को राइन परिसंघ में गठित कर वहां एक सा शासन संचालित किया। उसने पवित्र रोम साम्राज्य की समाप्ति कर दी तथा प्रेसवर्ग (26 दिसम्बर, 1805) की सन्धि के अन्तर्गत आस्ट्रिया को जर्मन राज्यों पर से अपना प्रभुत्व समाप्त करने को बाध्य किया। यह नेपोलियन की विजय व उसके द्वारा निर्मित राइन परिसंघ का परिणाम था कि जर्मन जाति में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठी। उन्होंने नेपोलियन का कड़ा मुकाबला भी किया। उन्होंने मुक्ति का युद्ध आरम्भ किया तथा उसमें उन्होंने अच्छा यश भी कमाया।

3.2.3. जोलवरीन संघ की स्थापना :

जर्मनी की एकता में वहां के राज्यों की आर्थिक एकता ने महान् सहयोग किया है और देश में आर्थिक एकता स्थापित की जोलवरीन संस्था ने। फ्रेडरिक लिस्ट नामक अर्थशास्त्री ने इस संस्था को जर्मन राष्ट्रीयता का एक प्रमुख तत्व माना है। इस संस्था का प्रारम्भ तो 1816 से ही हो गया था जबकि मासीन ने एडम स्मिथ के सिद्धान्तो पर आर्थिक सुधार किये थे। 1834 मे इस संघ में जर्मनी के 18 राज्य सम्मिलित हो गये। इसकी स्थापना प्रशा के नेतृत्व में हुई थी। 1840 में जब फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ गद्दी पर बैठ गया तो यह संस्था और शक्तिशाली बन गई। 1850 में जर्मनी के करीब–करीब सभी राज्य इसके सदस्य हो गये। प्रारम्भ में तो आस्ट्रिया ने इसके महत्व को नही समझा और जब उसने देखा कि यह तो जर्मन राज्यों की एकता की कड़ी बनती जा रही है तो वह चिन्तित हुआ। उसने भी इसमें प्रवेश लेना चाहा, लेकिन प्रशा के विरोध के कारण उसे इसमें मुंह की खानी पड़ी क्योंकि 1840 मे प्रशा के लोग समझ गये थे कि एकता आस्ट्रिया के बहिष्कार से ही संभव है। जोलवरीन की स्थापना राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कदम था। केम्ब्रिज मॉर्डन हिस्ट्री में उल्लेखित है – ''जोलवरीन के माध्यम से प्रशा के नेतृत्व में जो आर्थिक सहयोग प्रारम्भ हुआ उससे न केवल उद्योग एवं व्यापार की उन्नति हुई वरन् प्रशा के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता की भावना को भी बल मिला। इस आर्थिक सहयोग ने एक शक्तिशाली एवं संगठित जर्मन राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

जोलवरीन एक प्रकार का चुंगी संघ था। इसके अन्तर्गत इसके सदस्यों ने यह निर्णय लिया कि वे स्वतन्त्र व्यापार करेंगे। जब एक राज्य का माल दूसरे राज्य में जावेगा तो वे परस्पर चुंगी नहीं लेंगे। इससे देश का व्यापार तो बढ़ा ही पर साथ में ही इसके सदस्य राज्यों में राजनीतिक एकता भी स्थापित हुई। उन राज्यो के लोग निर्विघ्न एक दूसरे राज्य में व्यापार के उद्देश्य से जाने–आने लगे और उन्होंने आपस में सम्पर्क स्थापित किया। प्राचीन चुंगी नियमों व परम्पराओं की दीवारें धराशायी हो गई। इसलिए इसकी स्थापना जर्मन राष्ट्रीयता के प्रसार मे एक महत्वपूर्ण कदम समझा जाता है। इसके विषय में कैटलबी ने इस प्रकार लिखा है, ''जोलवरीन के निर्माण ने भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण का मार्ग कर दिया है, 'जर्मनी जर्मनवासियों के लिए है' यह भावना तो वास्तव में इसी संघ से उत्पन्न हुई।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.2.4. 1830 व 1848 की क्रांतियां :

जैसा कि कई बार लिखा जा चुका है कि फ्रांस की क्रांतियो का प्रभाव समस्त यूरोप पर पड़ा है। 1830 की क्रांति का भी जर्मन राज्यो पर प्रभाव पड़ा था, परन्तु मैटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण इन क्रांतियो का प्रभाव आस्ट्रिया छोड़कर इंग्लैण्ड भागना पड़ा था। इस कारण 1848 की क्रांति का प्रभाव आस्ट्रिया पर भी पड़ा और जर्मन राज्यों पर व्यापक रूप से पड़ा। जर्मनी में जगह–जगह विद्रोह हो गये। प्रशा, बवेरिया, हेनोवर, सक्सेनी आदि राज्यों में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के समर्थकों ने वहां के निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी शासकों के विरूद्ध आन्दोलन कर दिए। इस क्रांति के परिणामस्वरूप जर्मनी में जगह–जगह वैध राजसत्ता स्थापित हो गई। राजाओ ने प्रतिक्रियावादी नीति का परित्याग कर जनता की मांगो के अनुसार सुधार करना आरम्भ कर दिया। प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ को भी जनता की मांगों के आगे झुकना पड़ा। अतः यह तथ्य है कि फ्रांस की 1848 की क्रांति ने जर्मन राष्ट्रीयता को अति उग्र बना दिया।

3.2.5. औद्योगिक क्रांति :

जर्मनी में औद्योगिक क्रांति विलम्ब से प्रारम्भ हुई 150 वर्ष के उपरान्त क्रांति का प्रभाव यहां स्पष्ट दृष्टिगत होने लगा। यहां भी 1850 व 1860 के मध्य में सैकड़ों उद्योग धन्धे स्थापित हो गये। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी में भी पूंजीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। पूंजीवाद व औद्योगिक विकास के कारण यातायात के साधन विकसित हो गये। प्रशा के विख्यात सेनापति मोल्तके ने देश की सुरक्षा के लिए यातायात के साधनों का विकास अत्यन्त आवश्यक बताया। यातायात के साधनों के विकसित हो जाने के कारण जर्मनी के महानगर आपस में जुड़ गये और देश में एकता की भावना उत्पन्न हुई। धीरे–धीरे उस पूंजीपति वर्ग ने राजनीति मे भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। वे अपने व्यापार की सुरक्षा एवं विकास के लिए एक संयुक्त एवं सुदृढ़ जर्मन राज्य का निर्माण चाहने लगे। इस प्रकार पूंजीपति भी जर्मनी के एकीकरण के महान समर्थक बन गये।

3.2.6. शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीयता के प्रसार में योग :

वियना कांग्रेस के निर्णयों से जर्मनी के शिक्षित समाज को घोर निराश हुई थी। शिक्षित लोगों ने विश्वविद्यालयों को राष्ट्रीय–भावना के प्रसार का केन्द्र बना लियां शिक्षक व छात्र दोनो उसमें सम्मिलित थे। बौद्धिक विकास ने उनमे राष्ट्रीय भावना को पहले ही प्रबल बना दिया था। वे लोग विश्वविद्यालयों में एकत्रित होते वथा वहां राष्ट्रीय गाने गाये जाते थें जेना विश्वविद्यालय इसका प्रमुख केन्द्र था। 1817 में वहां वार्ट बुर्ग त्यौहार मनाया गया। यह एक प्रकार से राष्ट्रीय पर्व था जिसका आयोजन जेना विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा किया गया था। जेना की भांति बर्लिन, ब्रेसला, बोन भी जागृति के केन्द्र बन गये थें इस अवसर पर लिपजिग युद्ध दिवस मनाया गया था। इस राष्ट्रीय त्यौहार ने जर्मनी के नवयुवकों में नवीन चेतना का संचार कर दिया। यह इसी का परिणाम था कि 1819 में एक जर्मन विद्यार्थी ने कोत्सव्यू नामक प्रतिक्रियावादी लेखक को मौत के घाट उतार दिया और मैटरनिख को कार्ल्सवाद के आदेश लागू करने के लिए संसद की बैठक बुलानी पड़ी।

3.2.7. जर्मन राष्ट्रीयता के प्रसार में देश–भक्तों का योग :

जिस प्रकार इटली के एकीकरण में वहां के देश–भक्तों ने महान सहयोग दिया था, उसी प्रकार जर्मनी के एकीकरण में जर्मनी के देश–भक्तों का महान् सहयोग रहा। उन्होंने अपने–अपने राज्यों को संगठित करने का प्रयास किया। यह उन्हीं के प्रयासों का प्रतिफल था कि जर्मनी के कई राज्यों में वैध राजसत्ता स्थापित हो गई। बेडेन, सेक्सेनी, हेम बवेरिया, बुरटेम्बर्ग आदि जर्मन राज्यों में देश–भक्तों के प्रयासों से उदार–शासन की स्थापना हो गई थी।

3.2.8. जर्मन नेशनल एसोसियेशन की स्थापना :

1859 में जब आस्ट्रिया सार्डिनिया से परास्त हो गया तो जर्मनवासियों में राष्ट्रीयता की भावना और प्रबल हो गई। उन्होंने उसी वर्ष प्रशा में इस संस्था की स्थापना की। शीघ्र ही इसकी शाखाएं प्रशा के अन्य राज्यो में खुल गई। जर्मनी के महान् राजनीतिक विचारक तथा इतिहासकार इस संस्था के सदस्य बन गये। इसका परिणाम यह निकला कि विचारक तथा इतिहासकार इस संस्था के सदस्य बन गये। इसका परिणाम यह निकला कि विलियम प्रथम के शासन काल के प्रारम्भ से ही जर्मनी में राष्ट्रवाद को भावना प्रबल हो गई और जर्मन प्रशा के नेतृत्व में अपने देश के एकीकरण का प्रयास करने लगे। हालांकि 1850 में प्रशा को ओलमुत्स की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपमानजनक सन्धि आस्ट्रिया से करनी पड़ी थी। इससे जर्मनी मे प्रतिक्रियावाद पुनः प्रबल हो गया। प्रशा का संविधान भी प्रतिक्रियावादी था। यह सब होते हुए भी जर्मनी के लोगों को यही विश्वास था कि जर्मनी का एकीकरण केवल प्रशा के नेतृत्व में ही संभव है।

3.2.9. होली रोमन साम्राज्य के प्रति श्रद्धा :

हालांकि नेपोलियन के आक्रमणों ने रोमन साम्राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर दिया था तथापि जर्मन लोगों की उसके प्रति निष्ठा बनी हुई थी। यह निष्ठा ही जर्मन राज्यों को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य कर रही थी। जर्मन लोग विवश हो आस्ट्रिया के प्रभुत्व को स्वीकार अवश्य कर रहे थे पर उनके लिए आस्ट्रिया साम्राज्य न तो पवित्र था और न एक साम्राज्य ही था। अतः जर्मन लोगों की वास्तविक निष्ठा होली रोमन साम्राज्य के प्रति ही थी। जर्मन जर्मनी का एकीकरण करके पुनः इसे महान तथा शक्तिशाली साम्राज्य बनाना चाहते थे।

3.3 विलियम प्रथम (1861—1888) व जर्मनी का एकीकरण :

प्रशा का नया सम्राट विलियम प्रथम सैनिक गुणों से युक्त एवं व्यवहार कुशल व्यक्ति था। यद्यपि उसका मस्तिष्क उतना विचारवान एवं तीक्ष्ण नहीं था कि उसके भाई फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ का, किन्तु वह दृढ़ निश्चयी था तथा उसके विचार अत्यन्त ही सुलझे हुए थे। उसका दृढ़ विश्वास था कि प्रशा का भविष्य उसकी सैन्य शक्ति पर निर्भर करता है। उसका यह भी विस्वास था कि प्रशा के राजतन्त्र के माध्यम से ही जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हो सकता है। उसको प्रशा पर गर्व था तथा वह प्रशा का अपमान सहन करने को तैयार नहीं था। यद्यपि वह उदारवाद का प्रबल शत्रु था, किन्तु प्रशा के हितों में वह उदारवादियों से भी सहयोग करने को तैयार था। उसकी नीति में दृढ़ता एवं लचीलेपल का अनुपम सम्मिश्रण था और इसी कारण वह एक सफल राजनेता बन सका था। वॉन सिबेल के मतानुसार, "उसमें ऐसी अनोखी प्रतिभा थी जिससे वह तुरन्त समझ लेता था कि कौनसी चीज प्राप्य है और कौनसी अप्राप्य? उसके विचार एवं लक्ष्य स्पष्ट थे। उसमें योग्य व्यक्तियों को परखने की भी शक्ति थी।" अतः वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि जब तक आस्ट्रिया को जर्मन संघ से नहीं निकाल दिया जाता, तब तक जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं हो सकता। आस्ट्रिया को जर्मनी से निकालने का एक मात्र तरीका यह था कि उसे युद्ध में पराजित किया जाये और उसे युद्ध में पराजित करने के लिए प्रशा की सैनिक शक्ति प्रबल होनी चाहिए। इसलिए उसने प्रशा की सैनिक शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विलियम प्रथम ने प्रशा की सैन्य शक्ति को दुगुना करने की योजना बनायी। उसकी योजना थी कि शांतिलाल में प्रशा की सेना दो लाख तथा युद्ध काल में लगभग 4½ लाख होनी चाहिए। उसका युद्ध मन्त्री वॉन रून (Von Roon) तथा प्रधान सेनापति वॉन माल्टके (VonMoltakle) था। इन दोनो ने विलियम प्रथम की इस योजना का समर्थन किया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त धनराशि की आवश्यकता थी। निम्न सदन में उदारवादियों का बहुमत था जो इन सैनिक सुधारों को प्रतिक्रियावादी समझता था। संसद ने इस योजना में कुछ संशोधन करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु युद्ध मन्त्री वॉन रून किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार करने को तैयार नहीं था अतः संसद ने बजट पास करने से इन्कार कर दिया। इस पर सम्राट अत्यन्त ही क्रोधित हुआ, क्योंकि उसके मतानुसार संसद को सेना सम्बन्धी विषयों का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था। इसके विपरीत संसद सदस्यो का विचार था कि सैनिक व्यय सम्बन्धी मामले पर उन्हें अपना दृष्टिकोण रखने का पूरा अधिकार है। इस प्रकार सम्राट और संसद के बीच झगड़ा उत्पन्न हो गया। मार्च 1862 में सम्राट ने संसद को भंग कर नये चुनाव कराये। किन्तु नये चुनावों में पुनः उदारवादियों को बहुमत प्राप्त हो गया। इसलिए सैनिक व्यय की स्वीकृति नहीं मिल सकी। सम्राट द्वारा नियुक्त अनुदार मन्त्रिमण्डल ने भी त्याग पत्र दे दिया। स्थिति अत्यन्त ही विकट हो गयी। अब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो संसद की स्वीकृति के बिना शासन चला सके। ऐसी गम्भीर स्थिति में सम्राट स्वयं राजसिंहासन त्यागने का विचार करने लगा। ऐसे समय मे वॉन रून ने सम्राट को सलाह दी कि वह बिस्मार्क को बर्लिन बुलाये। 23 सितम्बर 1862 को सम्राट ने उसे अपना चान्सलर नियुक्त किया। इस पर बिस्मार्क ने सम्राट को आश्वासन दिया कि "श्रीमान के साथ नष्ट हो जाऊंगा किन्तु संसद के साथ संघर्ष में आपका साथ नहीं छोड़ूंगा।"

3.4 बिस्मार्क (1815—98) व जर्मनी का एकीकरण :

3.4.1 बिस्मार्क का प्रारम्भिक जीवन :

उन्नीसवीं सदी के इस महान् राजनीतिज्ञ का जन्म 1 अप्रेल, 1815 को ब्रेन्डेन्बर्ग में उस वर्ष हुआ था जबकि वियना काग्रेस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आस्ट्रिया की राजधानी वियना में यूरोप के दोनों का भाग्य निर्णय कर रही थी। उसका जन्म कुलीन जागीरदार के परिवार मं हुआ था। जंकर केवल वह पिता की और से ही था क्योंकि उसकी माता एक मध्यम श्रेणी की स्त्री थी। उसने अपने जंकर सम्बन्धों को अपने वैवाहिक सम्बन्धों से और दृढ़ कर लिया क्योंकि उसकी पत्नी मेरिया जोहान पुत्तकामर भी पोमरिया के किसी जागीरदार की पुत्री थी। जागीरदार वंश में जन्म लेने में बिस्मार्क अपना गौरव समझता था। जन्म के कुछ समय बाद उसका परिवार पोमरेनिया में स्थित नीपहाफ की जागीर में रहने लगा। वह अन्तिम समय तक उदार व संवैधानिक शासन सुधारों के विरूद्ध बना रहा।

उसकी शिक्षा गाटिजन तथा बर्लिन के विश्वविद्यालयों में हुई थी, परन्तु उसने अध्ययन में अभिरूचि नहीं दिखाई। वह बन्दूक चलाने, शिकार खेलने, तैरने व मदिरा पान आदि में अधिक दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार की रूचि उसकी नीपहाफ में ही बन गई थी। विद्यार्थी जीपन में वह एक उद्दण्ड युवक रहा। उसे अनुशासन में रहना तनिक भी अच्छा नहीं लगता था। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त उसने प्रशा के न्याय विभाग में सेवा कर ली, परन्तु उसे कलम चलाना अच्छा नहीं लगा। उसका कहना था कि कलम हाथ में लिए मनुष्य का जीवन पशुतुल्य है। इसलिए उसने राजकीय सेवा से 1839 में माता की मृत्यु को जाने पर मुक्ति ले ली। इसके उपरांत उसने अपनी पैतृक जागीर की देख–भाल करना आरम्भ किया। जागीर का काम संभालते हुए उसे कृषि सम्बन्धी ज्ञान की अच्छी जानकारी हो गई। 1847 में वह प्रशा की संसद के उच्च सदन का सदस्य चुन लिया गया।

1847 से 1851 के काल में वह अपने राजनीतिक विचारों में प्रतिक्रियावादी बना रहा। वह उदारवादी विचारधारा का कट्टर विरोधी था। उसने किसी समय कहा था, "मै इस युग की उस भावुकता से डरता हूं, जिसमें प्रत्येक दीवाने विद्रोही को सच्च देश भक्त समझा जाता है। वह प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के विरूद्ध था। वह संविधान को घृणा की दृष्टि से देखता था तथा उसे केवल रद्दी कागज का टुकड़ा समझता था। राजा की शक्ति को कम करना वह राज्य की शक्ति को क्षीण करना समझता था। 1849 में उदारवादियों को जो आन्दोलन हुआ उसमें उसने उदारवादियों का कड़ा विरोध किया और फ्रेडरिक विलियम की सहायता के लिए उसने किसानों की एक सेना संगठित की। जब प्रशा के शासक ने जनता को संविधान प्रदान करने का वचन दिया और इसके लिए जब संसद सदस्य उसे धन्यवाद दे रहे थे तो बिस्मार्क ने धन्यवाद देने से इन्कार कर दिया। 1850 में जब नवीन संविधान स्वीकार किया जा रहा था तो उसने उस पर व्यंग किया और अनुदारवाद व राजशक्ति की सुरक्षा के लिए उसने उदारवादियों के विरूद्ध एक सबल दल का निर्माण किया। इस बात का परिणाम यह हुआ कि वह फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ का विश्वास पात्र बन गया और 1851 में वह फ्रेंकफर्ट की नई संघीय महासभा मे प्रशा का प्रतिनिधि मनोनीत कर भेजा गया। 1847 से 1851 तक प्रशा के इतिहास में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं घटी। इस काल में क्रांति 1848 की क्रांति हुई इसी काल में प्रशा के शासक ने फ्रेंकफर्ट संसद द्वारा समर्पित राजमुकट को अस्वीकार किया। अतः स्पष्ट है कि वह जब संघीय महासभा का प्रतिनिधि मनोनीत हुआ तो प्रशा में अनेक राजनीतिक उथल–पुथल हो रहे थे। उन परिवर्तनों में भी बिस्मार्क अपने सिद्धातों पर ही आचरण करता रहा। अतः संघीय महासभा की सदस्यता उसके जीवन में नवीन मोड़ लाने का साधन सिद्ध हुई। इस महासभा में वह आठ वर्ष तक प्रशा का प्रतिनिधि रहा। इस काल में उसने राजनीति की अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली। इस महासभा का सदस्य रहते हुए उसने जर्मनी की राष्ट्रीय एकता की समस्या का भी अच्छा अध्ययन कर लिया। उसने यह भी देख लिया कि आस्ट्रिया की नीति की प्रमुख बात प्रशा के साथ ईर्ष्या रखना तथा उसे यूरोप की राजनीति मे पिछड़ा रखना है। इसीलिए 1853 में ही उसने स्पष्ट कर दिया था कि जर्मनी में आस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों के लिए स्थान नहीं है उनमे से कोई एक ही रह सकता है। तभी से उसने आस्ट्रिया के प्रभाव को जर्मनी में समाप्त करने की ठान ली थी। 1859 में उसे रूस में प्रशा का राजदूत बना कर भेजा गया तथा वहां वह तीन वर्ष तक इस पद पर कार्य करता रहा। इस अर्से से उसने रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय से व्यक्तिगत अच्छे संबंध स्थापित कर लिये। उसे रूस के जार का निरंकुश शासन पसन्द आया। इस कारण रूस का जार भी उससे मैत्री भाव रखने लगा। 1862 में वह कुछ काल के लिए पेरिस में प्रशा का राजदूत बनाकर भेजा गया। वहां उसने नेपोलियन से सम्पर्क बढ़ाकर उसकी चारित्रिक निर्बलताओं का पता लगा लिया। ये दोनों ही अनुभव उसे आगे चल कर उसके राजनीतिक जीवन में बड़े सहायक सिद्ध हुए। सितम्बर, 1862 में ही वह प्रशा का चान्सलर नियुक्त हो गया।

3.5 जर्मनी के एकीकरण की बिस्मार्क द्वारा तैयारी :

बिस्मार्क यह जानता था कि जर्मनी से आस्ट्रिया के निष्कासन के लिए प्रशा की सेना का विशाल तथा शक्तिशाली होना आवश्यक है। अतः चान्सलर का पद सम्भालते ही उसने अपने स्वामी विलियम प्रथम की नीति को ही चालू रखा। 1863 में उसने कहा था – प्रशा के राजतन्त्र का लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए वह अभी संसदीय शासन–पद्धति के अन्तर्गत एक खिलौना बनने के लिए तैयार नहीं है। वह स्वयं को केवल राजा के प्रति उत्तरदायी समझता था। हालांकि कई बार तो स्वंय विलियम प्रथम उसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दुस्साहसपूर्ण स्वेच्छाचारी नीति से घबरा उठता था किन्तु वह राजा को समझाकर अपनी नीति स्वीकार करा लिया करता था। उसने अपनी सेना की संख्या दुगुनी कर ली। उसने 1862 में ही अपनी विदेश नीति के दो सिद्धान्त निर्धारित कर लिए थे – 1. फ्रांस और रूस से मित्रता करना और 2. प्रशासन को सैनिक दृष्टि से सबल बनाना। इसीलिए प्रथम उसने अपनी सैनिक शक्ति को प्रबल बनाया और फिर आस्ट्रिया को कमजोर बनाने के प्रयास करने लगा।

3.5.1. पोलैण्ड के विरूद्ध रूस को सहायता :

क्रीमिया के युद्ध में रूस व आस्ट्रिया में कुछ मन–मुटाव हो गया था और इस युद्ध के परिणामस्वरूप रूस निर्बल भी हो गया था। आस्ट्रिया के विरूद्ध रूस से मित्रता करने की दृटि से बिस्मार्क ने 1863 में रूस को पोलैण्ड के विरूद्ध सैनिक सहायता दी। क्रांतिकारी पोलैण्ड के बाहर नही भाग सके। क्रांतिकारियों को निर्दयता से दबा दिया गया और इस प्रकार उसने रूस के साथ अच्छी मित्रता स्थापित कर ली। हालांकि पोलैण्ड के विरूद्ध रूस से मित्रता करने की उदारवादियो ने भारी आलोचना की परन्तु उसने विरोधियों को स्पष्ट कह दिया कि युद्ध और सन्धि करना राजा का अधिकार है। आस्ट्रिया ने पोल लोगों के साथ सहानुभूति जताई थी। अतः रूस आस्ट्रिया से और भी नाराज हो गया।

3.5.2. फ्रांस के साथ सन्धि करना :

फ्रांस का तत्कालीन नेपालियन तृतीय भी आस्ट्रिया के विरूद्ध था। वह 1859 ई में आस्ट्रिया के विरूद्ध सार्डिनिया के शासन की सहायता कर चुका था। बिस्मार्क ने अक्टूबर के आरम्भ में फ्रांस की यात्रा की और बियारिज मे वह नेपोलियान से मिला। फ्रांस के साथ उसने व्यापारिक सन्धि कर ली और उसने फ्रांस को आस्ट्रिया की सहायता न करने को राजी कर लिया। इटली व आस्ट्रिया में शत्रुता पहले से ही चली आ रही थी। अतः उसने सार्डिनिया के शासक विक्टर एमेनुअल से भी मित्रता कर ली। इस प्रकार यूरोप की राजनीति में प्रशा की स्थिति सुदृढ़ एवं आस्ट्रिया के निर्बल बनाकर वह अपने उद्देश्य प्राप्ति की और अग्रसर हुआ।

3.6 बिस्मार्क व जर्मनी का एकीकरण :

3.6.1. श्लेस्विंग व हालस्टीन की समस्या :

1852 में इन दोनों डडियों पर डेनमार्क के राजा का अधिकार मान लिया गया था। ये दोनों डचिया डेनमार्क के राजा के अधीन अवश्य थी, परन्तु उनका शासन अलग–अलग था। 1848 की क्रांति की चपेट में ये भी आ गई थी। यहां भी राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ था पर महान् शक्तियों के बीच–बचाव करने से आन्दोलन शान्त हो गया था। निर्णय अधिकांश डेनमार्क के राजा के ही पक्ष में रहा परन्तु 1863 ई में डेनमार्क का राजा फ्रेडरिक सप्तम इस लोक से चल बसा और उसके स्थान पर क्रिश्चियन नवम गद्दी पर बैठा। वह अपने नवीन संविधान द्वारा इन दोनों डचियों को भी पूर्णतः डेनमार्क में मिलाना चाहता था। हालस्टीन की जनता पूर्णतः जर्मनी थी और श्लेस्विग में आधी जनता जर्मन थी। अतः क्रिश्चियन नवम की नीति के विरूद्ध ये दोनो डचियो आगस्टनबर्ग के ड्यूक के नेतृत्व में विद्रोह करने को तत्पर हो गई। उनका विद्रोह सफल भी रहा। ड्यूक के नेतृत्व में अस्थायी सरकार भी गठित हो गई। जर्मन राज्यों ने भी इसका समर्थन किया, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, रूस एवं आस्ट्रिया ने डेनमार्क का नैतिक समर्थन किया।

बिस्मार्क की आंख इन दोनो डचियों पर लगी हुई थी। प्रशा के नाविक विकास योजना का इन दोनों प्रदेशों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। अतः बिस्मार्क किसी प्रकार इनको प्रशा में मिलाना चाहता था और वह भी एकाकी नहीं वरन् आस्ट्रिया की सहायता से, क्योंकि वह जानता था कि यदि वह अकेला डेनमार्क के विरूद्ध चढ़ाई करेगा तो आस्ट्रिया उसके मार्ग में अवश्य आवेगा। अतः उसने आस्ट्रिया के विदेश मंत्री काउन्ट रेकबर्ग से एक गुप्त समझौता किया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि दोनों राज्यों को मिलाकर 1852 की सन्धि का पालन कराने के लिए श्लेस्विग और हालस्टीन की समस्या सुझानी चाहिए।इसके लिए आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री राजी हो गया। फरवरी, 1864 ई. में दोनों देशों के साठ हजार सैनिक डेनमार्क पर चढ़ बैठे। हेज का कहना है कि डेन लोग बहादुरी से लडे परन्तु इस विशाल सेना के साने वे नहीं टिक सके। अक्टूबर, 1864 ई. को डेनमार्क का राजा परास्त हो गया और उसे वियना की सन्धि करनी पड़ी। इतिहासकार हैजन का कहना है कि प्रशा व आस्ट्रिया उस समय दोनो ही ऐसी स्थिति मे थे कि डेनमार्क के राजा से जो चाहते, वे ले सकते थे, परन्तु इन दोनों में विजय के माल के बंटवारे पर गड़बड़ा हो गया और उन्होंने डेनमार्क से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अन्तगर्त डेनमार्क के राजा ने श्लेस्विग और हालस्टीन की दोनों डचियां प्रशा व आस्ट्रिया को सौप दी। इनके अलावा उसने लावेनबर्ग का प्रदेश उनको और दे दिया। हालांकि युद्ध से पूर्व इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री पामरस्टन ने डेनमार्क को सहायता देने का आश्वासन दिया था और युद्ध के समय लन्दन में एक सम्मेलन का भी आयोजन किया था, तो भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ये दोनों डचियां डेनमार्क के राजा के अधीन नहीं रह सकी।

3.6.2 गेस्टाइन का समझौता :

जैसा कि इतिहासकार हैजन ने बताया कि आस्ट्रिया व प्रशा के बीच विजित प्रदेशों के बंटवारे को लेकर मन–मुटाव हो गया था। आस्ट्रिया का कहना था कि दोनो डचियां ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग को दे दी जावे। प्रशा ने इसका विरोध किया। अन्त में इस विवाद को समाप्त करने के लिए दोनों देशों मे 14 अगस्त, 1865 को गेस्टाइन का समझौता हो गया, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित निर्णय लिए गये –

1. लावेनबर्ग प्रशा ने खरीद लिया।
2. श्लेस्विग प्रशा को मिल गया।
3. हालस्टीन पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया।
4. कील के बन्दरगाह पर प्रशा व आस्ट्रिया का संयुक्त अधिकार रहा।

परन्तु प्रशासन वहां किले बन्दी कर सकता था। इसके अलावा प्रशा को समुद्र तक नहर खोदने का भी अधिकार प्राप्त हुआ।

3.6.3 समझौते का महत्व :

यह समझौता बिस्मार्क की कूटनीति का प्रतिफल था। उसने दो तो प्रदेश (श्लेस्विग व लावेनबर्ग) अधिकृत कर लिये। इसके परिणामस्वरूप प्रशा का कील बन्दरगाह पर अधिकार हो गया और उससे वह अपनी जल– शक्ति बढ़ाने मे समर्थ हुआ। इससे स्पष्ट है कि इस समझौते से आस्ट्रिया के हितों को बड़ा नुकसान पहुंचा। इसे आलावा प्रशा को आस्ट्रिया से युद्ध करने का बहाना सुगमता से मिल गया क्योंकि इस समझौते के उपरान्त दोनों देशों में शीत–युद्ध छिड़ गया। बिस्मार्क स्वयं जानता था कि यह समझौता अस्थायी है। उसने स्वयं कहा था कि इस समझौते के द्वारा हमने दरार को कागज से ढ़क लिया है।

3.7 अस्ट्रो–प्रशियन युद्ध तथा जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण :

बिस्मार्क ने इस तथ्य को पहले ही भली–भांति जान लिया था कि बिना आस्ट्रिया के प्रभाव को समाप्त किये जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं है अतः चान्सलर बनते ही उसने सैनिक तैयारियां आरम्भ कर दी। वे सब आस्ट्रिया की शक्ति को विनिष्ट करने के लिए ही थी। इसके अलावा जो डेनमार्क के राजा के साथ युद्ध किया गया था, वह अप्रत्यक्ष रूप से आस्ट्रिया से सम्बंध खराब करने के लिए ही किया गया था। गेस्टाइन का समझौता सम्पन्न हो जाने पर बिस्मार्क ने स्वयं कहा था – ''मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा कोई आस्ट्रियन राजनयिक होगा जो इस प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर कर दे। गेस्टाइन समझौते के सन्दर्भ में इतिहासकार भी विभिन्न मत रखते है। कुछ का कहना है कि इस समझौते द्वारा बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ अवश्यभावी युद्ध की ओर कदम उठाया है। दूसरे कुछ इतिहासकार कहते है कि इस समझौते द्वारा मै अरनिख के युग की आस्ट्रिया और प्रशा की मित्रता को पुनः स्थापित करना चाहते थे। शीघ्र ही दोनो देशों के सबंध बिगड़ गये और युद्ध की तैयारी करने लगे। वे युद्ध के बहाने की तलाश में थे। 16 जून, 1866 ई. को आस्ट्रिया ने प्रशा के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की। युद्ध के कारण निम्नलिखित थे –

3.7.1. गेस्टाइन समझौता :

स्पष्ट है कि यह समझौता आस्ट्रिया के लिए हानिकारक रहा। प्रशा ने आस्ट्रिया को हालस्टीन बना दिया था पर इसकी आबादी पूर्णतः जर्मन था। बिस्मार्क ने समझौते के कुछ ही दिनों बाद ही वहां के जर्मन लोगों को आस्ट्रिया के विरूद्ध भड़काना आरम्भ कर दिया। वहां के जर्मन लोगों ने प्रशा में मिलने की इच्छा व्यक्त कीं इस पर आस्ट्रिया ने पुनः यह बात उठाई कि दोनों डचियां ड्यूक ऑफ आगस्टन बर्गै को दे दी जावे। बिस्मार्क ने इस मांग को ठुकरा दिया इस पर आस्ट्रिया ने इस विषय का प्रस्ताव जर्मन संघ में पारित करवा लिया। ऐसा होने पर प्रशा ने जर्मन संघ का परित्याग कर दिया। इसके अलावा बिस्मार्क ने हालस्टीन पर आक्रमण कर उस पर अधिकार भी कर लिया। इस पर आस्ट्रिया ने प्रशा के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

3.7.2. जर्मन राज्यों में आस्ट्रियां की प्रधानता :

जर्मन परिसंघ में कुल 39 राज्य थे पर उनमें प्रधानता केवल आस्ट्रिया को ही प्राप्त थी। आस्ट्रिया संघ का अध्यक्ष था तो प्रशा उनका उपाध्यक्ष। दोनो में नेतृत्व के लिए प्रतिद्वन्द्विता चली हुई थी। जर्मन राज्यों के नेतृत्व के लिए उनमें से एक ही रह सकता था। वियना कांग्रेस में मैटरनिख की कूटनीति में प्रशा से अधिक महत्वपूर्ण आस्ट्रिया बन गया था। बिस्मार्क अब आस्ट्रिया को जर्मन राज्यों से निकाल कर प्रशा को जर्मन राज्यों में प्रधान बनाना चाहता था। अतः दोनों ओर से युद्ध की तैयारियों होना स्वाभाविक था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.8 सात सप्ताह का युद्ध :

इस प्रकार सामरिक तथा राजनयिक तैयारी करके बिस्मार्क ने 16 जून, 1866 ई. को आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 20 जून को इटली द्वारा आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। यूरोप वालो को यह आशा थी कि यह युद्ध लम्बा चलेगा, पर युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो गया।

इस युद्ध की समाप्ति प्राग 23 अगस्त, 1866 की सन्धि से हुई। इस सन्धि की शर्त निम्नलिखित है –

1. 1815 ई. में वियना–कांग्रेस के नेतृत्व मे निर्मित जर्मन परिसंघ भंग कर दिया गया तथा आस्ट्रिया जर्मनी से विलग हो गया।
2. श्लेस्विग तथा हालस्टीन पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया।
3. विनेशिया इटली को मिल गया।
4. दक्षिणी जर्मनी की चार रियासतों (बवेरिया, बेडन, हेसे तथा बर्टनवर्ग) को अपना संघ बनाने का अधिकार दे दिया गया।
5. आस्ट्रिया ने प्रशा को चार करोड़ रूपया युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में दिया।
6. आस्ट्रिया ने यह भी स्वीकार कर लिया कि मेन नदी के उत्तर का एक संघ प्रशा अपने नेतृत्व में बना सकता है।

इस सन्धि के अन्तर्गत प्रशा आस्ट्रिया से चाहे जो मांग सकता था पर वह उसे अपना घातक शत्रु नहीं बनाना चाहता था।

3.9 उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण :

बिस्मार्क के समक्ष जर्मन राज्यों को संगठित करने का प्रश्न प्रमुख था। वह सभी जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मन राज्य संघ निर्माण करना चाहता था। किन्तु इस समय बिस्मार्क के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, क्योंकि दक्षिणी जर्मनी के राज्यों की इच्छा के विरुद्ध उन्हे संघ सम्मिलित नही किया जा सकता था। अतः बिस्मार्क ने शेष 21 राज्यों को मिलाकर प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ का निर्माण किया। 1867 में इस नये जर्मन राज्य संघ का संविधान बनाया गया। संघ के लिए दो संसदीय संसद की व्यवस्था की गई। प्रथम लोकसभा या राइचस्टेग (Reichstag) थी, जिसके सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते थे तथा दूसरी संघीय परिषद या बुन्देस्राट (Bundesrath) थी, जिसमें विभिन्न राज्यों में प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। संघीय परिषद में 43 सदस्य थे, जिसमे 17 सदस्य प्रशा के थे। प्रशा का शासक वंशानुगत क्रम से संघ का अध्यक्ष नियुक्त हुआ तथा यह भी निश्चित किया गया कि संघ का प्रथम चान्सलर, प्रशा का प्रधानमंत्री बिस्मार्क ही हो। चान्सलर संघीय परिषद का अध्यक्ष होता था किन्तु संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं था। चान्सलर अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों का अपने आन्तरिक शासन पूर्ववत् बना रहा। इस राज्य संघ के निर्माण से उत्तरी जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया। किन्तु जर्मनी का एकीकरण पूर्ण होने के लिये दक्षिणी जर्मनी के राज्यों का इस नये संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था। अतः इस कार्य को पूरा करने के लिये बिस्मार्क को युद्ध लड़ना पड़ा।

3.10 फ्रांस और प्रशा का युद्ध :

प्राग की सन्धि के पश्चात् फ्रांस और प्रशा के संबंध निरन्तर बिगड़ते गये। आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध में नेपोलियन तृतीय इसलिये तटस्थ रहा था कि प्रथम तो उसे बेल्जियम अथवा राइन के क्षेत्र में कुछ प्रदेश प्राप्त होने की आशा थी, दूसरा उसको विश्वास था कि आस्ट्रिया व प्रशा का संघर्ष इतना लम्बा होगा कि दोनों पक्ष उसे पंच बनाने को तैयार हो जायेंगे। किन्तु बिस्मार्क ने तो तुरन्त ही आस्ट्रिया को पराजित कर दिया तथा आस्ट्रिया के साथ उदार शर्तों पर सन्धि कर ली, जिससे नेपोलियन का हवाई महल ध्वस्त हो गया। बिस्मार्क इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित था कि जब तक फ्रांस की शक्ति बनी रहेगी तब तक दक्षिणी जर्मनी राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित करना संभव नहीं होगा। बिस्मार्क ने अपने संस्मरणों में लिखा था कि, "जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करने के लिये फ्रांस और प्रशा का युद्ध अनिवार्य रूप से होगा।"

वस्तुतः सेडोवा के युद्ध के बाद फ्रांस और प्रशा के संबंधों में निरन्तर तनाव आता गया। फ्रांस और प्रशा के बिगड़ते हुए संबंधों के निम्नलिखित कारण थे –

(1) प्रशा की विजय से फ्रांस के राजनीतिज्ञों को ऐसा प्रतीत हुआ कि इससे न केवल फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है वरन् अब फ्रांस की सुरक्षा को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसलिए फ्रांस के राजनीतिज्ञ सेडोवा का प्रतिशोध लेने की मांग कर रहे थे। यद्यपि प्रशा की विजय से वह इतना क्षुब्ध था मानों फ्रांस की ही पराजय हुई है। फ्रांस की यह नीति थी कि जर्मनी सदैव निर्बल रहे तथा जर्मन राज्यों में परस्पर झगड़ा चलता रहे ताकि जर्मनी का संगठन न हो सके। किन्तु आस्ट्रिया की पराजय के बाद प्रशा यूरोप की महान शक्ति बन गया था। इस स्थिति को फ्रांस सहन करने को तैयार नहीं था।

(2) वियारित्ज में नेपोलियन और बिस्मार्क की भेट के बाद नेपोलियन को आशा थी कि फ्रांस की सीमा का विस्तार राइन नदी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तक हो जायेगा। युद्ध की समाप्ति के बाद नेपोलियन ने इसके लिए प्रयत्न भी किया किन्तु बिस्मार्क ने अपने दिये हुए आश्वासन की अपेक्षा की, जिससे नेपोलियन क्रुद्ध हो उठा। उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया तथा उसकी प्रतिष्ठा गिर गई। ऐसी स्थिति में वह प्रशा को सबक सिखाना चाहता था।

(3) अमेरिका में चल रहे गृह युद्ध का लाभ उठाकर फ्रांस ने मेक्सिको में हस्तक्षेप किया। वह मेक्सिको में प्रजातंत्र को समाप्त कर वहां अपना राज्य स्थापित करना चाहता था, किन्तु वह असफल रहा। मेक्सिको के शासक मेक्समिलियन की हत्या का उत्तरदायित्व भी फ्रांस पर डाला गया। इससे फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गिर गई। अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिये नेपोलियन के समक्ष युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था।

(4) नेपोलियन तृतीय ने 1867 में हालैण्ड के शासक से लक्सेमबर्ग खरीदना चाहा। हालैण्ड के शासक इसके लिये तैयार भी हो गया। किन्तु बिस्मार्क के हस्तक्षेप के कारण नेपोलियन को लक्सेमबर्ग भी प्राप्त नहीं हो सका। बिस्मार्क की इस कुटिल नीति के कारण फ्रांस की जनता क्षुब्ध हो उठी थी।

(5) क्रीमिया युद्ध के कारण रूस व प्रशा की शत्रुता थी। पोलैण्ड के विद्रोह में प्रशा ने रूस की नीति का समर्थन कर रूस की मित्रता प्राप्त कर ली। इससे फ्रांस में खलबली मच गई। इधर बिस्मार्क ने अपनी कुशल कूटनीति द्वारा इटली को भी अपने पक्ष मे मिला लिया। उसने इटली की वेनेशिया दिलवा कर फ्रांस को पृथक कर दिया। इससे फ्रांस और भी अधिक घबड़ा उठा। अब युद्ध के अतिरिक्त उसके समक्ष कोई अन्य उपाय नहीं रह गया था।

(6) इधर जर्मनी के लोग भी फ्रांस से नाराज थे। जर्मन लोगों का कहना था कि वास्तव में फ्रांस ही जर्मनी के एकीकरण में बाधक है। इधर फ्रांस को भी जर्मन के विरुद्ध शिकायतें थी। दोनों राज्यों मे समाचार पत्रों ने एक दूसरे के प्रति जहर उगलना शुरू कर दिया, जिससे दोनों राज्यों में उत्तेजना बढ़ने लगी तथा युद्ध की आशंका को बल प्राप्त हुआ।

(7) दक्षिण जर्मनी के चार राज्य बवेरिया, बुर्टमबर्ग, बेडेन तथा हेस्से अब भी जर्मन संघ की उपेक्षा कर रहे थे। इन राज्यों पर फ्रांस का प्रभाव था। नेपोलियन इन राज्यो को जर्मन संघ के विरुद्ध भड़का रहा था। बिस्मार्क इन राज्यो को जर्मन संघ से मिलाकर जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करना चाहता था। अतः बिस्मार्क इन राज्यों को जीतने के लिये कटिबद्ध था।

(8) फ्रांस और प्रशा के तनावपूर्ण संबंधों के मध्य स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ, जिससे दोनों राज्यों के संबंध अत्यधिक बिगड़ गये और युद्ध आरम्भ हो गया। 1868 में स्पेन में क्रान्ति हुई तथा महारानी इजाबेला द्वितीय को स्पेन से निर्वासित कर दिया गया। इसके पश्चात् स्पेन के सिंहासन के लिये प्रशा के शासक के संबंधी राजकुमार लियोपॉल्ड को शासक बनने के लिये आमन्त्रित किया गया। आरम्भ में तो लियोपॉल्ड कुछ हिचकिचाया, किन्तु बाद में अपनी स्वीकृति दे दी। लियोपॉल्ड का नाम प्रस्तावित कराने में बिस्मार्क का हाथ था, क्योंकि वह 1869 से 1870 तक अपने विश्वासपात्र आदमियों को स्पेन भेजता रहा, जिन्होने लियोपॉल्ड को शासक बनाने का प्रयत्न किया। अन्त में बिस्मार्क एवं कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रभाव के कारण ही लियोपॉल्ड ने स्पेन का सिंहासन स्वीकार किया था। 3 जुलाई 1870 को इसकी सूचना पेरिस पहुंची तो फ्रांस में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न हो गयी। नेलोलियन एवं फ्रांस के राजनीतिज्ञों की यह निश्चित धारणा थी कि लियोपॉल्ड को स्पेन की गद्दी प्राप्त हो जाने से प्रशा की शक्ति में और अधक वृद्धि हो जायेगी जिससे फ्रांस, लियोपॉल्ड को कभी भी स्पेन का शासक स्वीकार नहीं करेगा। फ्रांस के विदेश मंत्री ग्रेमा (Duke Gramont) ने अपना एक दूत प्रशा के सम्राट से लियोपॉल्ड को सलाह दी कि वह स्पेन के सिंहासन के लिये अपनी स्वीकृति वापस ले ले और इसके साथ लियोपॉल्ड के पिता ने घोषणा की कि उसका पुत्र स्पेन के सिंहासन का प्रत्याशी नहीं रहा है। 12 जुलाई 1870 को लियोपॉल्ड ने अपनी स्वीकृति वापस ले ली। ऐसी स्थिति में समस्या यहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी किन्तु नेपोलियन, उसका विदेश मंत्री ग्रेमा तथा कुछ अन्य व्यक्ति इससे सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि वे तो फ्रांस की कूटनीतिक पराजयों के अपमान का बदला लेना चाहते थे। अतः फ्रांस की ओर से बेनेदिती (Bendetti) को सम्राट विलियम के पास भेजकर मांग की गई भविष्य में भी लियोपॉल्ड या उसके राजवंश के किसी व्यक्ति को स्पेन के उत्तराधिकार के लिये वह समर्थन नहीं मिला। पॉल्ड ने स्पेन के सिंहासन के लिये अपनी स्वीकृति वापिस ले ली, इसके आगे वह कुछ नही कहना चाहता। इस बातचीत का विवरण तार द्वारा बिस्मार्क के पास भेज गया। 13 जुलाई 1870 की रात को यह तार बिस्मार्क को मिला। बिस्मार्क बहुत ही निराश था, क्योंकि स्पेन पर नियन्त्रण प्राप्त करने की उसकी योजना सम्राट विलियम की कायरता के कारण असफल हो गयी थी। यदि सम्राट विलियम लियोपॉल्ड को अपनी स्वीकृति वापिस लेने के लिये न कहता तो लियोपॉल्ड स्पेन का शासक होता और स्पेन पर प्रशा का नियंत्रण होता। इसका परिणाम यह होता कि फ्रांस से युद्ध छिड़ जाता, जिसके लिये तो बिस्मार्क पहले से तैयार था। अतः सम्राट विलियम की कार्यवाही से वह निराश था। किन्तु एम्स के तार को पढ़ कर उसने एक युक्ति खोज निकाली। बिस्मार्क ने उस तार की 'संक्षिप्त इबारत' प्रकाशित करवा दी (14 जुलाई 1870)। तार के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रकाशित होने का वही प्रभाव पड़ा जिसकी कि बिस्मार्क को आशा थी। तार के संक्षिप्त रूप से पढ़कर फ्रांसीसियों ने सोचा कि सम्राट विलियम ने फ्रांसीसी राजदूत बेनेदिती का अपमान किया है तथा दूसरी ओर जर्मनी के लोगों ने सोचा कि फ्रांसीसी राजदूत ने जर्मन सम्राट का अपमान किया है। पेरिस में प्रशा के विरुद्ध युद्ध की मांग की जाने लगी। यद्यपि ब्रिटेन ने दोनों राज्यों में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। 15 जुलाई 1870 को फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फ्रांस अभी युद्ध के लिये पूर्ण तैयार नही था जबकि प्रशा की सेना पूर्ण रूप से तैयार थी। फ्रांस को विश्वास था कि दक्षिणी जर्मनी के राज्य प्रशा का साथ नहीं देगे, किन्तु दक्षिणी जर्मनी के राज्यों ने उत्साह से प्रशा का साथ दिया। इससे जर्मनी की सैनिक शक्ति मे वृद्धि हो गयी। फ्रांस ने आस्ट्रिया व इटली से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। उसे अकेले ही संगठित जर्मनी का सामना करना पड़ा। जर्मनी की सेनाओं ने तीन ओर से फ्रांस पर आक्रमण किया। अगस्त 1870 के आरम्भ में बीसेनवर्ग में फ्रांसीसी सेना पराजित हुई तथा जर्मनी को सेना एटसेस प्रान्त तक पहुंच गई। तत्पश्चात् ग्रेवलार के युद्ध में पुनः फ्रांसीसी सेना पराजित हुई (18 अगस्त 1870) तथा प्रशा की सेना आगे बढ़ती गई। सितम्बर 1870 को फ्रांसीसी सेना सीडान मे घिर गयी तथा नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों सहित आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसकी सूचना प्राप्त होते ही पेरिस मे क्रान्ति हो गयी तथा 4 सितम्बर 1870 को फ्रांस मे गणतंत्र की स्थापना की गई तथा एक "राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार" संगठित की गई, जिसने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। जर्मन सेनाएं आगे बढ़ती गई और पेरिस तक पहुंच गई। अतः फ्रांस ने युद्ध स्थगित कर संधि की बातचीत आरम्भ कर दी।

3.11 फ्रेंकफर्ट की सन्धि :

गेम्बेटा के शस्त्र डालने के उपरांत सन्धि की बातचीत आरम्भ हुई। 26 जनवरी, 1871 को सन्धि की शर्तों पर हस्ताक्षर हुए तथा 10 मई, 1871 को फ्रेकफर्ट स्थान पर यह सन्धि फ्रेंकफर्ट की सन्धि के नाम से सम्पन्न हुई इस सन्धि की शर्ते निम्नलिखित है थी –

1. फ्रांस ने जर्मनी को 20 करोड पौण्ड युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देने का वायदा किया और यह वचन दिया कि वह यह रकम तीन वर्ष में पूरी चुका देगा।

2. जब तक युद्ध के हर्जाने की रकम चुकती नही की जावेगी तब तक जर्मन सैनिक फ्रांस में रहेगे और उनका खर्च भी फ्रांस ही वहन करेगा।

3. एल्सेस का पूरा प्रदेश तथा लारेन का पूर्वी भाग जर्मनी को दे दिया गया। इनके अलावा हेस व स्ट्रासबर्ग भी दिए गये।

4. पेरिस के चारों और के दुर्ग जर्मनी को प्राप्त हो गये। केवल बेलफर्ट का दुर्ग फ्रांस के पास रहा।

5. युद्ध की समाप्ति पर बिस्मार्क ने दक्षिण जर्मनी के चारों राज्यों को जर्मन परिसंघ में मिलाने की स्वीकृति ले ली।

परन्तु कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यदि फ्रांस सरकार उस समय तनिक भी सावधानी से कार्य करती तो वह सन्धि की अपमानजनक शर्तों से बच सकती थी। उस समय लन्दन में यूरोपीय सम्मेलन चल रहा था। यदि फ्रांस की सरकार इसे लन्दन सम्मेलन में प्रस्तुत कर देती तो सभवतः इंग्लैण्ड की मध्यस्थता से उस पर ये कठोर शर्ते नहीं थोपी जाती। इंग्लैण्ड का विदेश मंत्री लार्ड ग्रेन्विल इसके लिए तैयार था।

3.12 युद्ध के परिणाम :

फ्रांस को परास्त करने के उपरान्त प्रशा यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली देश हो गया। इस युद्ध के उपरान्त जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण हो गया 1 अप्रैल, 1871 मे जर्मनी के नये विधान की घोषणा हुई, जिसके अनुसार बवेरिया, बुर्टमबर्ग, बादेन और हेस (दक्षिण जर्मनी के राज्य) जर्मन संघीय राज्य में मिला लिए गये। इस विजय से बिस्मार्क की यह धारणा थी कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के शासक के नेतृत्व में ही "लौह और रक्त" की नीति से सम्भव है सत्य प्रमाणित हुई। प्रशा की इस विजय से इटली का एकीकरण भी पूर्ण हो गया और वहां के राजा विक्टर एमेनुअल ने रोम को अपने राज्य की राजधानी बना लिया। फ्रांस पराजय के उपरान्त यूरोप में एक निर्बल देश बन गया। वहां राजतन्त्र के स्थान पर पुनः गणतंत्र की स्थापना हो गई। फ्रेंकफर्ट की सन्धि कोई स्थायी सन्धि नहीं हुई वरन् यही आगे चलकर प्रथम महायुद्ध का कारण बनी क्योंकि इस सन्धि द्वारा प्रदत्त एल्सेस व लारेन के प्रदेश फ्रांसवासियों के दिल में गहरे घाव बनकर बैठ गये थे। उनकी वापसी के लिए फ्रांस सदैव सजग रहा। इस फ्रैको–प्रशियन युद्ध के परिणामों पर जर्मन इतिहासकार इरिच एर ने अच्छा प्रकाश डाला है वह लिखता है – "उन्नीसवीं सदी में होने वाले युद्धों में जितनी दूरगामी एवं चिरकाल तक रहने वाले परिणाम इस युद्ध के निकले है वैसे अन्य युद्धों से नही। 70 वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी इसका प्रभाव फ्रांस में ज्यों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

त्यों बना रहा। इसने घृणा व द्वेष के बीज बो दिए। इस युद्ध ने उस समय उत्पन्न हुए मनुष्यों के भाग्यो को अन्धकारमय बना दिया।'' वृद्धावस्था में स्वयं बिस्मार्क भी इस युद्ध की विभिषिका पर अपने विचार व्यक्त करता था। अपनी युद्ध नीति से उसने अपने कितने जर्मन भाइयों को काल का ग्रास बनाया तथा माँ–बहिनों को विधवा बनाया यह सोच कर वह कांप उठता था, परन्तु इन सबको वह जर्मनी के एकीकरण के आगे तुच्छ समझता था। इस्रिच जर्मन इतिहासकार ही आगे लिखते है कि विश्व के दो महायुद्ध भी बिस्मार्क की नीति के कारण ही हुए। वह शंका करता है कि यूरोप ने जो शान्ति 13 जुलाई, 1870 को खोई थी, उसे वह पुनः प्राप्त भी कर सकेगा या नहीं ? इस प्रकार स्पष्ट है कि इस फ्रैको–प्रशियन युद्ध के परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा दूरगामी सिद्ध हुए।

3.13 जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण होना :

सेडान के युद्ध ने जहां फ्रेंच साम्राज्य को समाप्त किया तो दूसरी तरफ उसने जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया। फ्रेंकफर्ट की सन्धि पर अन्तिम स्वीकृति मिलने से पूर्व बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण को पूर्ण कर चुका था। 18 जनवरी, 1871 को जब फ्रांस व प्रशा के बीच युद्ध चल ही रहा था कि वर्साइ के राज–प्रसाद में जर्मन–राज्यों के राजाओं की एक सभा आयोजित की गई। सभा में बवेरिया के राजा ने जर्मनी में एक साम्राज्य की स्थापना का प्रस्ताव रखा। दक्षिणी जर्मनी के चारों राज्य बवेरिया, बाडेन, बुर्टमबर्ग व हेस जो 1866 में उत्तरी जर्मन राज्य संघ का नाम बदल कर साम्राज्य कर दिया गया और प्रशा का राजा इस साम्राज्य का अध्यक्ष बना। अध्यक्ष बनने के उपरांत वह जर्मन सम्राट की पदवी से अलंकृत किया गया। इस प्रकार हम देखते है कि फ्रांस के पराभव पर जर्मन एकता का प्रासाद खड़ा हुआ, जिसके निर्माण के लिए जर्मनी के निवासी चिरकाल से लालायित थे।

3.14 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – गैस्टाईन का समझौता किन–किन राष्ट्रों की बीच हुआ ?

(अ) आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड (ब) प्रशा और इंग्लैण्ड

(स) प्रशा और फ्रांस (द) आस्ट्रिया और प्रशा

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – जोलवरीन संघ पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – बिस्मार्क के द्वारा जर्मनी के एकीकरण के योगदान को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 4

पूर्वी समस्या विशेषतः क्रीमिया युद्ध और बर्लिन समझौता के सन्दर्भ में

4.0 भूमिका

4.1 क्रिमिया युद्ध से पूर्व पूर्वी समस्या से सम्बन्धित घटनाएं

4.1.1 सर्बिया का स्वतन्त्रता संग्राम

4.1.2 यूनान का स्वतन्त्रता संग्राम

4.1.3 मिस्र द्वारा स्वतन्त्र होने का प्रयास

4.2 क्रीमिया युद्ध

4.3 युद्ध से पूर्व टर्की की स्थिति

4.4 क्रीमिया युद्ध के कारण

4.4.1. उन्कियार स्केलेसी की सन्धि

4.4.2. यूनान का स्वतन्त्र होना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.4.3. टर्की का निर्बल होना

4.4.4. बाल्कन राज्यों की अवस्था तथा उनकी धार्मिक एकता

4.4.5. धार्मिक प्रश्न

4.4.6. इंग्लैण्ड के राजदूत स्टेटफोर्ड का रूस विरोधी होना :

4.5 युद्ध की घटनाएं

4.6 युद्ध की समीक्षा

4.7 रूसी–टर्की युद्ध (1877–78)

4.8 युद्ध की घटनाएं

4.9 सन्धि का महत्व तथा उसकी प्रतिक्रिया

4.10 बर्लिन कॉन्फ्रेन्स

4.11 बर्लिन–कांग्रेस के निर्णयों की समीक्षा

4.12 बर्लिन कांग्रेस और यूरोप की शान्ति

4.13 सम्मेलन के अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम

4.14 बोध प्रश्न

4.0 भूमिका :

पूर्वी समस्या का अभिप्राय उन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से है, जो यूरोप में टर्की साम्राज्य के पतन से उत्पन्न हुई थी। टर्की साम्राज्य ही एक मात्र ऐसा पूर्वी क्षेत्र था, जिसका यूरोप के राजनीतिज्ञों का सामूहिक रूप से संबंध था। 17वीं शताब्दी के अन्त तक तुर्क साम्राज्य अथवा ओटोमन साम्राज्य अत्यन्त ही शक्तिशाली था। रूसी साम्राज्य के बाद, यूरोप में क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बड़ा साम्राज्य था तथा बोस्निया, सर्बिया, यूनान, रूमानिया, बल्गेरिया आदि इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य के निवासी धर्म, भाषा और रक्त आदि में तुर्कों से सर्वथा भिन्न थे और तुर्कों ने इन लोगों को अपने साम्राज्य में आत्मसात् करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था, बल्कि वे उनका शोषण करते थे। 18वीं शताब्दी के आरम्भ में इस साम्राज्य की निर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। 1815 के बाद तो साम्राज्य की शक्ति तेजी से क्षीण होती गई, क्योंकि साम्राज्य के अधीन कुछ देश तुर्क साम्राज्य के शोषण से मुक्त होकर, स्वाधीन होने के लिये उतावले हो उठे थे। ऐसी परिस्थितियों में तुर्क साम्राज्य का विघटन अवश्यंभावी हो गया था। अतः अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि तुर्क साम्राज्य का अन्त होने पर उसका स्थान कौन ग्रहण करे? साम्राज्य के स्थान पर अन्य छोटे–छोटे राज्य हों अथवा तुर्क साम्राज्य को विघटित होने से रोका जाय ? इन्हीं समस्याओं की पूर्वी समस्या कहा गया है।

पूर्वी समस्या भिन्न–भिन्न समयों में भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकट हुई थी। प्रारम्भ मे आस्ट्रिया ने तुर्की की पतनोन्मुख समस्या से लाभ उठाना चाहा और तत्पश्चात् यह समस्या रूस और तुर्की की प्रतिद्वन्द्विता के रूप मे प्रकट हुई। 1820 के बाद जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि रूस, तुर्की साम्राज्य की निर्बलता का लाभ उठाकर उसे हड़प जाना चाहता है। तब इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया और फ्रांस भी अपने हितों के लिये इस समस्या में कूद पड़े। इस प्रकार यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई। यद्यपि भिन्न–भिन्न समयों में इस समस्या का रूप भी भिन्न रहा तथापि इस समस्या की कुछ विशेषताएं हमे स्थायी रूप से दृष्टिगत होती है। रूस सदैव ही तुर्क साम्राज्य पर अपना अधिकार करने को उत्सुक रहा जबकि इंग्लैण्ड सदैव टर्की का साथ देता रहा। बाल्कन प्रायःद्वीप में रहने वाली जातियां तुर्कों के अत्याचारों से क्षुब्ध थी। अतः जब तुर्की सामाज्य की शक्ति क्षीण होने लगी तो इन शोषित जातियों में तुर्की साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होने की लालसा जागृत हुई और वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष करने लगी। पूर्वी समस्या के प्रति यूरोपीय महाशक्तियों के भिन्न–भिन्न हित तथा उनकी भिन्न–भिन्न नीति रही। अतः सर्वप्रथम इन यूरोपीय महाशक्तियों के हितों और उनकी नीति का उल्लेख करना समीचीन होगा।

रूस — पूर्वी समस्या में रूस की विशेष रूचि थी। रूस चाहता था कि तुर्की साम्राज्य को विघटित कर दिया जाय तथा कॉसटेन्टिनोपोल पर रूस का अधिकार हो जाय। यदि कॉसटेन्टिनोपोल पर अधिकार करना सम्भव न हो तो तुर्की के सुल्तान पर रूस

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का प्रभुत्व स्थापित किया जाय ताकि सुल्तान रूस के आदेशानुसार कार्य करे। रूस की पूर्वी समस्या के प्रति इस नीति का कारण यह था कि रूस के पास ऐसा कोई समुद्री तट नहीं था जो व्यापार के लिए हर समय खुला रहे इसके अतिरिक्त रूस अपनी जलशक्ति में भी वृद्धि करना चाहता था। इसलिये रूस काले सागर तथा उसके जल डमरुओं पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने को उत्सुक था। रूस ग्रीक चर्च को मानने वाला था, किन्तु इस चर्च के पवित्र स्थान तुर्की के अधिकार में थे, अतः रूस इन पवित्र स्थानो को अपने संरक्षण में लेना चाहता था। बाल्कन प्राय–द्वीप मे स्लाव जाति के लोग अधिक थे तथा बाल्कन रूस का पड़ौसी भी था, इसलिये धर्म, भाषा और जाति की एकरूपता के कारण दोनों के निवासियो का सांस्कृतिक सम्बंध भी था। इन सभी कारणो से रूस ने तुर्की सुल्तान से, उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर, अनेक सुविधाएं प्राप्त कर ली थी। 18वीं शताब्दी के अन्त तक रूस तुर्की साम्राज्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहा तथा साम्राज्य को कमजोर बनाता गया।

इंग्लैण्ड — पूर्वी समस्या मे इंग्लैण्ड की रुचि के मुख्य रूप से दो कारण थे। प्रथम तो इंग्लैण्ड को इस बात का भय था कि तुर्क साम्राज्य पर रूस का प्रभुत्व हो जाने से उसके एशियायी साम्राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इस भय के कारण इंग्लैण्ड के विदेश मन्त्री पामर्सटन ने तुर्क साम्राज्य को बनाये रखने की नीति अपनाई थी। इंग्लैण्ड चाहता था कि तुर्की सुल्तान अपने साम्राज्य को यथावत् बनाये रखे तथा रूस को आगे बढ़ने से रोके। दूसरा, इंग्लैण्ड अपने व्यापारिक हितों के कारण भी तुर्की साम्राज्य को बनाये रखना चाहता था, क्योंकि तुर्की साम्राज्य पर किसी अन्य शक्ति का प्रभुत्व हो जाने से इंग्लैण्ड को अपने व्यापारिक हितों को हानि पहुंचने की भी आशंका थी। इसलिये जब भी पूर्वी समस्या को लेकर युद्ध आरम्भ हुआ, इंग्लैण्ड ने तुर्की साम्राज्य को बनाये रखने की नीति का पालन किया।

आस्ट्रिया — पूर्वी समस्या में सबसे अधिक रुचि रखने वाला देश आस्ट्रिया था। आस्ट्रिया का देश चारों ओर से भूमि से घिरा हुआ था। इसलिए आस्ट्रिया को समुद्र तक पहुंचने का मार्ग चाहिये था कि उसे तुर्की साम्राज्य मे से ही प्राप्त हो सकता था। इससे न केवल उसे व्यापारिक लाभ था बल्कि उसे अपने साम्राज्य के विस्तार में भी आसानी हो जाती। आस्ट्रिया का व्यापार मुख्य रूप से डेन्यूब नदी से होता था। रूस काले सागर तक अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था, अतः आस्ट्रिया नहीं चाहता था कि डेन्यूब के मुहाने काले सागर पर रूस का प्रभाव स्थापित हो। इसलिये आस्ट्रिया, रूस की महत्वाकांक्षाओं को बड़ी सन्देह की दृष्टि से देखता था। उधर बाल्कन में सर्बिया की स्लाव जाति भी उससे प्रोत्साहित होकर आस्ट्रिया में रहने वाली स्लाव जाति यदि अपने राष्ट्रीय आन्दोलन में सफल होती है तो आस्ट्रिया में रहने वाली स्ताव जाति भी उससे प्रोत्साहित होकर आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। रूस सर्वस्लाव आन्दोलन को गुप्त रूप से प्रोत्साहित कर रहा था। अतः आस्ट्रिया की यह नीति भी रूस को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकना चाहती थी।

फ्रांस — पूर्वी समस्या में फ्रांस की जो रुचि थी वह राजनैतिक ने होकर धार्मिक एवं व्यापारिक थी। तुर्की फ्रांस का पुराना मित्र था, इसलिए फ्रांस को तुर्की साम्राज्य में विशेष व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त थी। फ्रांस तुर्की साम्राज्य में और अधिक सुविधाएं प्राप्त करना चाहता था। फ्रांस की धार्मिक रुचि यह थी कि वह बहुत पहले से ही वहां के रोमन कैथोलिकों का संरक्षक था।

जर्मनी — पूर्वी समस्या में जर्मनी की केवल एक मात्र रुचि यह थी कि वह इस क्षेत्र में रेल लाइन बनाना चाहता था ताकि उसके व्यापार का विस्तार हो सके।

वस्तुतः यूरोपीय महाशक्तियों के पारस्परिक स्वार्थों तथा टर्की साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति के कारण ही पूर्वी समस्या उत्पन्न हुई थी। इस समस्या को एक 'गठिया रोग' की संज्ञा दी जाती है, जो कभी टांगो को तो कभी हाथों को असक्त करता रहता है। इस समस्या की व्याख्या करते हुए जान मार्ले ने लिखा है, ''परस्पर विरोधी जातियों, धर्मों एवं स्वार्थों से उत्पन्न जटिल, असाध्य एवं परिवर्तनशील समस्या को ही पूर्वी समस्या के नाम से जाना जाता है।'' साउथगेट ने इस समस्या का विवेचन करते हुए लिखा है कि पूर्वी समस्या उन राज्यों एवं निवासियों को समस्याओ का समूह है जो डेन्यूब से नील नदी तक बसे हुए थे। डॉ. मिलर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, तुर्की साम्राज्य के क्रमशः विघटन से उत्पन्न शून्यता को भरने की समस्या को निकटपूर्ण की स्मस्या कहते है।''

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि तुर्की साम्राज्य की निर्बलता, बाल्कन राज्यों मे स्वतंत्र होने की लालसा तथा यूरोपीय राज्यों के पारस्परिक विरोधी स्वार्थों के कारण पूर्वी समस्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई थी तथा इस समस्या से संबन्धित युद्ध प्रारंभ हो गये थे।

4.1 क्रिमिया युद्ध से पूर्व पूर्वी समस्या से सम्बन्धित घटनाएं :

Jai Vyasnva Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

4.1.1 सर्बिया का स्वतन्त्रता संग्राम :

फ्रांस की राज्य–क्रांति का प्रभाव सर्वप्रथम सर्व जाति में देखा गया। 1804 में सर्बिया के किसान कारा जार्ज के नेतृत्व में टर्की के सुल्तान के विरूद्ध खड़े हो गये। स्वतन्त्रता का यह संघर्ष 1815 तक चलता रहा। 1815 में टर्की के सुल्तान ने सर्बिया के लोगों को 'स्वशासन' अधिकार दे दिया, परन्तु सब्रिया के लोगों में शीघ्र ही फूट पड़ गई और सुल्तान ने उन्हें पुनः अपने अधीन कर लिया। यह सब होते हुए भी टर्की का सुल्तान उनकी राष्ट्रीयता की लहर को रोक नहीं सका। 1830 में सर्बिया स्वतन्त्र हो गया और बेलग्रेड उसकी राजधानी बनी।

4.1.2 यूनान का स्वतन्त्रता संग्राम :

यूनान का अधिकांश भाग टर्की के अधीन था। इस प्रदेश में तुर्क और यूनानी ही थे। संख्या में यूनानी तुर्कों से बहुत अधिक थे। सर्बिया की घटना से प्रभावित हो यूनानियों ने स्वतन्त्रता संग्राम छेड़ दिया क्योंकि सुल्तान यूनान के ईसाईयों को बहुत तंग करता था। 6 मार्च, 1821 को हेप्सिलाण्टी के नेतृत्व में यूनान के कैथोलिक ईसाइयों ने अपना संघर्ष आरंभ कर दिया। 1824 में टर्की के सुल्तान ने मिस्र के मेहमत अली से सहायता मांगी। मेहमत अली ने अपने पुत्र इब्राहीम पाश को भेज कर यूनानियों के विद्रोह को दबा दिया। इंग्लैण्ड का फ्रांस अपने ईसाई भाइयों की चिन्ता न करते हुए टर्की के सुल्तान की सहायता कर रहे थे, परन्तु रूस के जार निकोलस प्रथम ने अक्टूबर, 1829 को इड्रियानोपिल की सन्धि पर सुल्तान को हस्ताक्षर करने को बाध्य कर दिया। इस सन्धि के अन्तर्गत यूनान स्वतन्त्र हो गया।

4.1.3 मिस्र द्वारा स्वतन्त्र होने का प्रयास :

यूनानियों के स्वतन्त्रता संग्राम को दबाने मेहमत अली का पुत्र इब्राहीमपाशा आया था। इस सहायता के बदले सुल्तान ने उसे क्रीट का द्वीप दे दिया था। उससे सन्तुष्ट न होकर मेहमत अली ने मिस्र की स्वतन्त्रता की मांग की। जब सुल्तान के इस मांग को ठुकरा दिया तो मेहमत अली ने अपने पुत्र को सेना लेकर सुल्तान के विरूद्ध भेजा 1840 में लन्दन की सन्धि के अन्तर्गत टर्की के सुल्तान ने मेहमत अली का मिस्र पर अधिकार वंशानुगत मान लिया।

4.2 क्रीमिया युद्ध :

क्रीमिया युद्ध, पूर्वी समस्या की तीसरी कड़ी माना जाता है। प्रथम दो कड़ियों की घटनाओ ने स्पष्ट कर दिया कि आटोमन तुर्क साम्राज्य अब निर्बल हो गया था। सर्बिया उसके हाथ से निकल गया और यूननी भी स्वतन्त्र हो गया। यूनान की स्वतन्त्रता के उपरान्त सुल्तान का अधिकार मेहमत अली मिस्र की स्वतन्त्रता की मांग कर बैठा और यदि इंग्लैण्ड सुल्तान की सहायता के लिए नही आता तो यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम मे तथा मिस्र के स्वतन्त्रता संग्राम में सुल्तान की स्थिति और भी दयनीय होती। मेहमत अली से सीरिया इंग्लैण्ड ने खाली करवाया। जब टर्की का सुल्तान मिस्र के पाशा से युद्ध कर रहा था तो रूस के जार निकोलस ने टर्की के विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया। 1833 में उन्कियार स्केलेसी की सन्धि करने को सुल्तान बाध्य किया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत रूस को टर्की के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया। मेरियट की धारणा है कि इस सन्धि ने तुर्की साम्राज्य से रूसी हस्तक्षेप को बहुत बढ़ा दिया। परन्तु सुल्तान की सुरक्षा के लिए पुनः इंग्लैण्ड व फ्रांस आगे आये। इंग्लैण्ड के प्रयास से 1840 में लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया एवं प्रशा ने भाग लिया। इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप 15 जुलाई, 1840 को लन्दन की सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि ने उन्कियार स्केलेस की सन्धि को समाप्त कर दिया और रूस के 1833 के प्रयास विफल हो गये। रूस लन्दन में तो शान्त रहा परन्तु वह यूरोप के मरीज टर्की को समाप्त करने का इरादा नही छोड़ सका। इस प्रकार क्रीमिया के युद्ध की भूमिका तैयार हो गई।

जार निकोलस द्वारा इंग्लैण्ड से सहयोग लेने का प्रयास – इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री पामर्स्टन के प्रयास से ही लन्दन की दूसरी सन्धि जुलाई, 1841 में सम्पन्न हुई। इन दोनों सन्धियों से रूस का जार निकोलस इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि टर्की के विनाश में जितनी रूचि उसकी है, उतनी ही रूचि इंग्लैण्ड की उसको बचाने में है। अतः यदि मै किसी प्रकार इग्लैण्ड को अपने काम में सहयोगी बना लूं तो मेरे मार्ग में कोई बाधार नही रहेगी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह स्वयं 1844 में इंग्लैण्ड गया। उसने अपना मन्तव्य इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री लार्ड एबरडीन के समक्ष रखा। उसने कहा कि वह टर्की की यथास्थिति रखने को उद्यत है पर यदि तुर्की साम्राज्य में किसी आकस्मिक घटना से परिवर्तन हुआ तो इंग्लैण्ड उसमे रूस को भागीदार बनायेगा। इस पारस्परिक सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों तक इंग्लैण्ड और रूस के संबंध मैत्रीपूर्ण रहे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3 युद्ध से पूर्व टर्की की स्थिति :

1841 से 1852 तक पूर्वी प्रश्न पर यूरोप में शान्ति रही। सुल्तान अब्दुल मजीद को साम्राज्य की स्थिति सुधारने का पर्याप्त समय मिला। सुल्तान ने रशीद पाश के सहयोग से सुधार करने की योजना बनाई, परन्तु जब सुल्तान ने धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति अपनानी चाही तो कट्टरपन्थी मौलवी उसके विरोधी हो गये। अतः सुल्तान की सुधार योजना विफल हो गई और मुसलमानों के कैथोलिक सम्प्रदाय पर पुनः अत्याचार होने लगे।

4.4 क्रीमिया युद्ध के कारण :

4.4.1. उन्कियार स्केलेसी की सन्धि :

रूस के जार निकोलस प्रथम ने 27 अप्रेल, 1828 को टर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसने मोल्डविया तथा डार्डनलीज पर अधिकार करके टर्की के सुल्तान को 1833 में उन्कियार स्केलेसी की सन्धि करने को बाध्य कर दिया। इस के अन्तर्गत टर्की की सुरक्षा का उत्तरदायित्व रूस ने ले लिया। इस सन्धि के अन्तर्गत रूस को टर्की में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया और काला सागर एक प्रकार से रूस की झील बन गया। इसे इंग्लैण्ड सहन नहीं कर सका।

4.4.2. यूनान का स्वतन्त्र होना :

बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों मे जब यूनान टर्की से स्वतन्त्र हो गया तो बाल्कन प्रायद्वीप के अन्य राज्य भी टर्की के अत्याचारों से मुक्त होने, का प्रयास करने लगे। यूनान को स्वतन्त्र होने से पूर्व उन राज्यों को फिर भी कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी जबकि अन्य राज्यों के व्यक्तियों को तो न उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था और न उन पर विश्वास ही किया जाता था। इसके अलावा उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता भी नही थी। इस कारण बाल्कन प्राय द्वीप के अन्य राज्यों के व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आतुर थे, रूस उन्हें सैनिक सहायता देने के प्रलोभन से इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए और भी आतुर बना।

4.4.3. टर्की का निर्बल होना :

पूर्वी समस्या का यह कारण प्रारम्भ से अन्त तक मूल रूप में रहा है। जब मेहमत अली की सेना ने सुल्तान की सेना को दो बार मात देकर सुल्तान को अपने बहुत से प्रदेश छोड़ने को बाध्य कर दिया तो रूस अपनी साम्राजयवादी क्षुब्धा पर किस प्रकार नियन्त्रण रख सकता था ? निकोलस ने गत तीन युद्ध में देख लिया था कि सुल्तान की सेना पर आधुनिक विज्ञान की प्रगति का कोई प्रभाव नही पड़ा। उसके लड़ने का तरीका पुराना है तथा युद्ध की सामग्री भी पुरानी थीं। पश्चिमी यूरोप के सम्पर्क से भी सुल्तान ने अपनी सेना को आधुनिक साधनों से सुसज्जित नहीं किया था। सेना के पिछड़ेपन से ही टर्की की सैनिक शक्ति निर्बल थी और इसीलिए यूरोप के अन्य देशों को उसके मामले में बोलने का साहस हो गया था।

4.4.4. बाल्कन राज्यों की अवस्था तथा उनकी धार्मिक एकता :

बाल्कन राज्यों की स्थिति भी बड़ी जटिल थी। टर्की के पराधीन तो वे थे ही और रूस भी उन पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयास कर रहा था। रूस को वहां प्रभाव जमाने में सजातीयता सहायक हो रही थी। रूस के लोग स्लाव थे और बाल्कन प्रदेश के निवासी भी अधिकांश स्लाव जाति के ही थे। जो बुल्गारियन लोग थे, उन्होंने भी स्लाव जाति की भाषा को ही अपना लिया था। उधर बाल्कन प्रदेशों का सीमावर्ती राज्य आस्ट्रिया था। वहां के निवासी भी अधिकांश स्लाव जाति के थे। अतः जातीयता के आधार पर वह अपना प्रभाव जमाना चाहता था। इसके अलावा आस्ट्रिया के राजा को यह भी अन्देशा रहता था कि रूस के उदारवाद से प्रभावित बाल्कन राज्यों के स्लावलोग कही उदारवादी सुधारों की मांग न करने लगें और उनके सम्पर्क से मेरे स्लाव लोग भी कहीं मेरे राज्य में उदारवादी सुधारों के लिए आन्दोलन न कर बैठें। हालांकि इस समय प्रतिक्रियावादी मैटरनिख आस्ट्रिया में नहीं रहा था तब भी वहां का शासक उदारवाद के विरूद्ध था और इसी कारण वह रूस का प्रभाव बाल्कन राज्यों में फैलता नहीं देख सकता था। एक धर्म होने से समस्त स्लाव लोग एकता के सूत्र में गठित हो गये थे और वे अपनी राजनीति की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न कर रहे थे। सब राज्य पास–पास थे। अतः एक राज्य की क्रांति दूसरे राज्य को सुविधा से प्रभावित कर लेती थी।

4.4.5. धार्मिक प्रश्न :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जार अपने को तुर्क साम्राज्य में स्थित यूनान चर्च के रोमन कैथोलिक्स का संरक्षक मानता था। इसीलिए वह समय–समय पर सुल्तान से उनको धार्मिक सुविधायें देने का अनुरोध किया करता था। 1853 में निकोलस ने सुना कि जैरूसलम और पेलेस्टाइन में ईसाई यात्रियों को अपने तीर्थ स्थानों के दर्शनार्थ नहीं आने दिया जा रहा है। वहां सदियो से ग्रीक संन्यासी और कैथोलिक संन्यासी रह रहे थें 1789 की क्रांति के पूर्व वे फ्रांस के सरक्षण में थे, परन्तु क्रांति के उपरान्त जब फ्रांस ने उनकी सुरक्षा की और कोई ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने रूस का संरक्षण स्वीकार कर लिया था। इस पर जार ने टर्की स्थित अपने राजदूत द्वारा सुल्तान पर जोर डलवाया कि वह ईसाई यात्रियों पर हो रहे अत्याचारों को रोके। जब ये समाचार नेपोलियन तृतीय के पास पहुंचे तो उसने घोषणा की कि तुर्क साम्राज्य में बसने वाले ईसाई मेरे संरक्षण में है। नेपोलियन 1852 में फ्रांस का सम्राट बना था। अतः वह अपने देश के कैथोलिक लोगों को प्रसन्न रखने के लिए बाल्कन राज्यों के कैथोलिक्स का पक्ष लेना चाहता था। इंग्लैण्ड रूस के विरूद्ध पहले से ही था। अतः फ्रांस को सहायक के रूप मे इंग्लैण्ड और मिल गया। उन दोनों (इंग्लैण्ड व फ्रांस) के कहने से जब सुल्तान ने रूस की बात मानने से इन्कार कर दिया तो रूस ने 1854 मे अपनी सेनाएं टर्की के विरूद्ध भेज दी।

4.4.6. इंग्लैण्ड के राजदूत स्टेटफोर्ड का रूस विरोधी होना :

धार्मिक प्रश्न को लेकर तो बाल्कन राज्यों में मनमुटाव बढ़ ही रहा था और उसको बढ़ाने में इंग्लैण्ड के राजदूत लार्ड स्ट्रेटफोर्ड डि रेडक्लिफ का भी हाथ कम नहीं था। जो व्यक्ति मौके पर रहता है वह सुदूर स्थित अपने उच्चाधिकारी से इस दिशा में बाजी मार ले जाता है। जैसे – ब्रिटिश भारत का वायसराय इंग्लैण्ड स्थित भारत मंत्री से सदैव अधिक शक्तिशाली बना रहा। इसी प्रकार स्ट्रेटफोर्ड भी जानता था कि वह अपने निर्बल प्रधानमंत्री एबरडीन को यहां से प्रभावित किस प्रकार कर सकता? हालांकि उन दिनों में टेलीफोन व्यवस्था स्थापित हो गई थी, पर वह अविकसित थी। अतः राजदूत अपने देश इंग्लैण्ड में टर्की की अवस्था का सही चित्र नहीं भेजता था। वह रूस का पक्का विरोधी तथा टर्की का प्रशंसक था जबकि इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री एबरडीन शान्ति प्रिय था। उसका विदेश मंत्री क्लेरेन्डन भी शांति मे विश्वास रखता था। दोनों ही उस समय युद्ध नहीं चाहते थे, पर यह राजदूत स्ट्रेटफोर्ड ही था, जिसने इंग्लैण्ड व फ्रांस की सहायता नहीं मिलती तो वह जार का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता और यह क्रीमिया युद्ध नहीं होता। सुल्तान ने 1853 में रूस के राजदूत प्रिन्स मेनशिकाफ की बात स्वीकार भी कर ली थी। इस समय इंग्लैण्ड का राजदूत स्ट्रेटफोर्ड इंग्लैण्ड था। वह अप्रेल, 1853 में टर्की लौटा और सुल्तान को रूस के राजदूत की मांगे अस्वीकार करने को राजी कर लिया। इस पर उग्र स्वभाव के मेनशिकाफ सुल्तान से रूष्ट होकर रूस चला गया और उसने वहां युद्ध का वातावरण तैयार कर दिया।

4.5 युद्ध की घटनाएं :

इंग्लैण्ड और फ्रांस से सहायता का आश्वासन पाकर सुल्तान ने रूस को 5 अक्टूबर को 15 दिन मे डेन्यूब के प्रदेश खाली करने को कहा। इसके विपरीत रूस ने 23 अक्टूबर, 1853 को अपनी सेनाएं भेज दी। रूस की सेनाओं के टर्की पहुंचते ही इंग्लैण्ड व फ्रांस ने भी मार्च, 1854 में रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उन दोनों के संयुक्त जहाजी बेड़े ने 4 जनवरी को काला–सागर मे प्रवेश कर रूसी दुर्ग सेबेस्टेपोल को घेर लिया। शीत के आरम्भ हो जाने के कारण मित्र राष्ट्रों की सेना को यहां महान क्षति उठानी पड़ी। सर्दी समाप्त होने पर इंग्लैण्ड से और कुमुक आ गई और उसने रोमानिया वालो को परास्त कर दिया। रूसी सैनिक भी उस समय भ्रष्ट हो चुके थे। अतः सेबेस्टेपोल को मित्र राष्ट्रों ने 8 सितम्बर, 1855 को विजित कर लिया। यह घेरा 11 मास तक रहा और सेबेस्टोपोल की पराजय ने रूस की कमर तोड़ दी। 1856 में आस्ट्रिया के बीच बचाव से पेरिस में मित्र राष्ट्र तथा रूस के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और 30 मार्च, 1856 को उनमें एक संधि हो गई जो कि पेरिस की संधि कहलाई परन्तु इस संधि के सम्पन्न होने से पूर्व ही निकोलस प्रथम इस दुनिया से कूच कर चुका था। यह सन्धि पेरिस सम्मेलन में सम्पन्न हुई, जिसकी बैठक 28 फरवरी से 18 अप्रेल तक चली। इंग्लैण्ड की ओर से वहां के विदेश मंत्री लार्ड क्लैरंडन, फ्रांस की और से एक, वालेव्स्की, सारडेनिया की और से काबूर, रूस की और से काउण्ट ब्रूना तथा टर्की की और से वजीरे आजम अलीपाशा ने भाग लिया उसमें निम्नलिखित शर्तें स्वीकार की गई –

1. काले सागर को तटस्थ मान लिया गया। व्यापारिक जहाज वहां हर देश के आज–जा सकते थे परन्तु बॉसफोरस और डार्डनलीज से अब कोई युद्धपोत नहीं गुजर सकता था।

2. डेन्यूब नदी पर यातायात का अधिकार अब दोनों को प्राप्त हो गया।

3. रूस और टर्की ने एक दूसरे के विजित प्रदेश लौटा दिये। कार्स टर्की को तथा क्रीमिया रूस को पुनः मिल गये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. रूस को टर्की में बसने वाले ईसाइयों को सुरक्षा का अधिकार दे दिया गया, लेकिन टर्की के सुल्तान ने भी ईसाई प्रजा के हितों की रक्षा करने का वचन दिया।

5. मोल्डेविया और बोलेशिया की स्वतन्त्रता टर्की की संरक्षता में स्वीकार कर ली गई।

6. टर्की की स्वतन्त्रता स्वीकार की गई। उसे यूरोपीय राजमण्डल में ले लिया गया। टर्की के अस्तित्व को बनाये रखने की गारण्टी यूरोपीय राजमण्डल के प्रत्येक देश ने दी।

7. सर्बिया की स्वतन्त्रता टर्की के संरक्षण में स्वीकार कर ली गई।

4.6 युद्ध की समीक्षा :

पेरिस की सन्धि व क्रीमिया युद्ध के विषय में दो प्रकार की राय व्यक्त की जाती है। एक राय तो उन इतिहासकारों की है जिनका कहना है कि क्रीमिया का युद्ध व्यर्थ ही लड़ा गया। दूसरी धारणा वालों की मान्यता है कि क्रीमिया युद्ध यूरोप की राजनीति में एक महत्वपूर्ण घटना है। दूसरी धारणा के समर्थक लार्ड क्रोमर थे। इसी मत का समर्थन करते हुए डेविड थॉमसन ने लिखा है कि आधुनिक यूरोप के विकास में क्रीमिया का युद्ध ऐतिहासिक महत्व का है।

4.7 रूसी–टर्की युद्ध (1877–78) :

आस्ट्रिया का विदेश मन्त्री एंद्रासी इस उलझती समस्या का समाधान शान्ति से ही करना चाहता था। अतः उसने जर्मनी के सहयोग से 30 दिसम्बर 1875 को समझौते का एक नोट बनाकर इंग्लैण्ड व फ्रांस के विचारार्थ भेजा। उसमें सुझाया गया था कि यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए सुल्तान को सुधार करने को तैयार किया जाये। इंग्लैण्ड ने इस नोट का समर्थन किया और 31 जनवरी, 1876 को वह नोट सुल्तान के पास भेजा गया। सुल्तान ने पूरी शर्तें स्वीकार नही की और वह ईसाइयों पर जुल्म करता रहा। इस पर आस्ट्रिया और रूस के विदेश मन्त्री जर्मनी गये। बिस्मार्क से वार्तालाप किया। 12 मई, 1876 को एंद्रासी द्वारा तैयार किया गया तथा रूस के विदेश मंत्री द्वारा स्वीकार किया गया प्रस्ताव बर्लिन ज्ञापन के रूप में इंग्लैण्ड, फ्रांस व इटली की स्वीकृति के लिए भेजा गया।

इसमे दो माह के लिए युद्ध विराम करने का आग्रह किया गया था। इन दो मास के अन्तराल में सुल्तान का बाल्कान राज्यों से कुछ शर्तों पर समझौता कराने का प्रयास किया गया था। बर्लिन ज्ञापन को फ्रांस व इटली ने स्वीकार कर लिया परन्तु इंग्लैण्ड ने अस्वीकार कर दिया। इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री डिजरैली ने उस ज्ञापन को इतना अपमानजनक समझा कि बेसिका खाड़ी में अपना जहाजी बेड़ा भी भेज दिया।

इंग्लैण्ड के इस नकारात्मक रूख से टर्की के सुल्तान के हौसले बढ़ गए। उसने यूरोपीय देशों की चिन्ता नही की। 30 मई, 1876 को टर्की के उग्र देश भक्तों ने सुल्तान अब्दुल अजीज को सिंहासन से हटाकर मुराद पंचम को सुल्तान बना दिया, परन्तु तीन मास बाद उसे भी हटा दिया गया और अब्दुल हमीद को सुल्तान बना दिया गया। इधर टर्की की आन्तरिक अवस्था दिनों दिन दयनीय हो रही थी और रूस के प्रोत्साहन से बालकान राज्यों में राष्ट्रीयता उग्र हो रही थी। इन बिगड़ती परिस्थितियो में रूस ने 24 अप्रेल,, 1877 को टर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

4.8 युद्ध की घटनाएं :

रूस ने डेन्यूब नदी को पार कर टर्की की ओर बढ़ना आरम्भ किया। 12 जून को मान्टीनीग्रो ने भी टर्की के विरूद्ध युद्ध आरंभ कर दिया। टर्की की सेना रूस की प्रगति को नहीं रोक सकी। 19 जुलाई को रूसी सेनापति ने शिपका घाटी पर अधिकार कर लिया। इसके उपरान्त रूस तथा रूमानिया के प्रिन्स केरोल ने प्लेवनों ने घेरा डाल दिया। 10 दिसम्बर को इसका पतन हुआ। 5 जनवरी को रूस की सेना ने सोफिया पर अधिकार किया और 20 जनवरी को वह एड्रियानोपल जा पहुंची। 3 मार्च, 1878 को रूस ने सेन स्टीफेनो की सन्धि सुल्तान को स्वीकार करने को बाध्य किया। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं –

1. टर्की ने सर्बिया और मान्टीनीग्रो की स्वतन्त्रता मान ली।

2. रूमानिया को भी स्वतन्त्रता मिल गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. बोस्निया तथा हरजेगोविना में सुल्तान ने सुधार किये।

4. सुल्तान ने थेसेली और एपीरस में क्रीट के समान व्यवस्था स्थापित करने का आश्वासन दिया।

5. रूस ने युद्ध के हर्जाने के रूप में दोब्रुजा, अर्दहान, कार्स तथा बाटुम के क्षेत्र लिए।

6. बल्गारिया को स्वायत्तता राज्य के रूप में मान्यता दी गई।

4.9 सन्धि का महत्व तथा उसकी प्रतिक्रिया :

यह सन्धि रूस की महान सफलता मानी गई। बाल्कानप्रदेशों में रूस का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। टर्की पर उसका प्रभाव जम गया। बल्गारिया कालान्तर में रूस का अंग बन गया।

परन्तु इस सन्धि से इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया व फ्रांस बड़े नाराज हुए। लार्ड सभा में कहा गया कि सेन स्टीफेनो की सन्धि ने यूरोप में आटोमन साम्राज्य को समाप्त कर दिया है। अतः इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया व फ्रांस के प्रयासों से 1878 में बर्लिन कांग्रेस का अयोजन किया गया।

4.10 बर्लिन कॉन्फ्रेन्स :

सेन स्टीफेनो की सन्धि पर विचार करने के लिए 13 जून, 1878 को बर्लिन में एक सम्मेलन आयोजित किया गया इसकी अध्यक्षता जर्मनी के चान्सलर बिस्मार्क ने की, जिसे एक ईमानदार दलाल कहा गया था। इसमें इंग्लैण्ड की और से डिजरैली, सैलिसबरी तथा डोडोरसल थे रूसी प्रतिमण्डल का नेता गार्शकाव था। आस्ट्रिया का मुख्य प्रतिनिधि जूल्स एंद्रासी था। फ्रांस की ओर से एम.वाडिंगटन और इटली की ओर से कोर्टी आया था। परास्त देश टर्की का प्रतिनिधित्व कार्थोडराय पाश कर रहा था। इसमें कई इतिहासकार भी सम्मिलित हुए थे। उनमें विलियमलैगर तथा मैडलाकॉट प्रमुख थे। इन इतिहासकारों की मान्यता है कि बर्लिन कांग्रेस एक दिखावा मात्र थी तथा महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय पहले ही ले लिये गये थे। प्रतिनिधि उन निर्णयों पर केवल हस्ताक्षर करने के लिए एकत्रित हुए थे। इतिहासकार लैगर का कहना है कि सम्मेलन के आरम्भ होने से पूर्व सब सदस्यों का विश्वास था कि इसमें बिस्मार्क पूर्णतः निष्पक्ष रहेगा परन्तु सम्मेलन की समाप्ति पर उनकी धारणा बनी कि बिस्मार्क निष्पक्ष नहीं रहा। इस सम्मेलन में सबसे विकराल समस्या बल्गारिया की थी क्योंकि उसके राज्य बन जाने से उस क्षेत्र का शक्ति संतुलन बिगड़ गया था। आस्ट्रिया तथा इटली की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न हो गया था। दूसरी समस्या बोस्निया तथा हर्जेगोविना की थी। रूस का प्रतिनिधि बल्गारिया के अस्तित्व की रक्षा करना चाहता था। अधिक से अधिक वह इसके दो भाग देख सकता था। उसका एक भाग रूस को अपनेप्रभाव में रखना चाहता था। इंग्लैण्ड का प्रतिनिधि सेलिसबरी उसके तीन भाग कराना चाहता था। अतः बड़े वाद–विवाद के उपरान्त इसमें निम्न निर्णय लिए गये –

1. बल्गारिया को तीन भागों में बांटा गया –

(अ) एक स्वायत्त प्रदेश। इसे बलगारिया नाम दिया गया।

(ब) एक अर्द्ध स्वायत्त प्रदेश। इसे पूर्वी रोमेलिया कहा गया।

(स) मैसडोनिया प्रदेश। यह टर्की के प्रभुत्व में ही रहा।

2. आस्ट्रिया को बोस्निया तथा हर्जेगोविना वहां के प्रशासन को व्यवस्थित करने के लिए दिए गये पर उन पर प्रभुत्व टर्की का ही बना रहा। नोवी बाजार आस्ट्रिया के नियन्त्रण में दे दिया गया।

3. रूस को यूरोप में बैसअरेबिया तथा एशिया में बतूम दिया गया। इसके बदले उसे बायाजिद टर्की को देना पड़ा।

4. इंग्लैण्ड को इस क्षेत्र में नौसैनिक अड्डा बनाने के लिए साइप्रस दिया गया। वास्तव में इस द्वीप पर कुछ समय पहले ही अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। इस प्रकार बर्लिन कांग्रेस ने केवल उस अधिकार की पुष्टि की।

5. सर्बिया को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया। उसे दक्षिण पूर्व की और निश तथा बल्गारिया का कुछ भाग दे दिया गया।

6. मान्टीनीग्रो की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी गई। उसे एड्रियाटिक सागर तट पर एंटीवारी का बन्दरगाह दिया गया परन्तु इसके साथ ही उसे आस्ट्रिया को स्पिजा डलसिग्रो देने पड़े।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7. बर्लिन कांग्रेस ने रूमानिया को भी स्वतन्त्र राज्य के रूप मे मान्यता दे दी, परन्तु उसे बिराबिया का प्रदेश रूस को देना पड़ा। इसके बदले उसे डोब्रुजा प्राप्त हुआ।

4.11 बर्लिन–कांग्रेस के निर्णयों की समीक्षा :

बिस्मार्क तो सम्मेलन का अध्यक्ष था ही, पर इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड के डिजरेली की भूमिका भी बड़ी महत्वपूर्ण रही। बलगारिया को तीन भागों में बांटने वाला वही था। रूस ने सेन–स्टीफेनो की सन्धि के अन्तर्गत जो पाया था वह डिजरैली ने उससे छीन लिया। इसीलिए इतिहासकार मैडलकॉट ने कहा है कि इस कांग्रेस में रूस बहुत कुछ खो बैठा परन्तु पाया कुछ भी नहीं। यह तो सही है कि जितना एक विजेता देश को मिलना चाहिए उतना तो रूस को मिला नहीं परन्तु फिर भी उसे कुछ मिला। निःसन्देह इस सम्मेलन मे रूस का एक विजेता की भांति सम्मान नहीं हुआ। इंग्लैण्ड व फ्रांस ने उसके साथ एक युद्ध अपराधी का सा व्यवहार किया। इसीलिए इस सम्मेलन में रूस को बलगारिया के विभाजनका इतना दुःख नहीं हआ जितना के उसे यूरोपीय सम्मेलन में एक अपराधी मानकर खड़ा किया जाने पर हुआ। प्रोफेसर स्टेवरी आनोस का कहना है कि इस कांग्रेस में केवल रूस ने मात नहीं खाई अपितु उसके शत्रु टर्की को भी भारी निराशा का सामना करना पड़ा। मित्र राष्ट्रों ने उससे वायदे खूब किए थे पर पूरे कुछ नहीं किए गये। यही हाल इटली का हुआ। इटली ने अलबानिया और ट्रिपोली लेने का प्रयास किया पर उसे मिला कुछ नहीं। अतः उसके प्रतिनिधि को खाली हाथ रोम लौटना पड़ा। जर्मनी ने सम्मेलन में गंगा कुछ नहीं परन्तु कालान्तर में उसे टर्की की मित्रता मिल गई हालांकि सम्मेलन के अध्यक्ष बिस्मार्क ने अपने को एक ईमानदार मध्यस्थ होने का दावा किया था पर टर्की ने उस पर इंग्लैण्ड का पक्षपाती होने का दोषा रोपण किया। बाल्कान राज्यों में आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ा कर बिस्मार्क ने अपनी निष्पक्षता का परिचय नहीं दिया। इस प्रकार इस बर्लिन कांग्रेस को एक छीना झपटी का सम्मेलन बताया है और उसमें सर्वाधिक खोने वाला रूस था। इतिहासकार लैगर का कहना है कि कैथेरीन महान के बाद रूस को कभी भी इतनी अपमानजनक कूटनीतिक पराजय का आघात नही सहन करना पड़ा। रूस के जार की इस पराजय से ही रूस में निहिलवाद पनपा और रूस के जार के विरूद्ध घातक षड्यन्त्र रचे गये। रूस ने अपार धन और सेना का बलिदान करके तुर्की के विरूद्ध विजय प्राप्त की और सेन स्टीफेनो की सन्धि द्वारा अनेक लाभ अर्जित किये, किन्तु आस्ट्रिया और ब्रिटेन ने उसके हाथ से विजय के पुरस्कार छीन लिए। बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से ऐसा आभास होता है कि मानो रूस ने युद्ध ब्रिटेन और आस्ट्रिया के हित के लिए किया था। इस सम्मेलन की छीना झपटी पर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेज लेखक सर चार्ल्स डिल्क ने लिखा है ''बर्लिन में हर आदमी एक दूसरे को कुछ न कुछ दे रहा था जो वास्तव में किसी तीसरे की जायदाद थी।

4.12 बर्लिन कांग्रेस और यूरोप की शान्ति :

बर्लिन कांग्रेस का मूल उद्देश्य रूस को निर्बल बनाकर पूर्वी यूरोप में शान्ति स्थापित करना था। कांग्रेस में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों ने पूर्व समस्या का सन्तोषजनक समाधान करने तथा यूरोपीय राज्यों के बीच एक महान युद्ध को रोकने का दावा किया, परन्तु इतिहासकार ए.जे.पी. टेलर का कहना है कि प्रतिनिधियों के दोनो दावे ही तथ्यहीन है। वास्तव में देखा जाये तो कांग्रेस के निर्णय अधिकांश प्रभावहीन रहे। टर्की एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन सका जैसा कि इंग्लैण्ड चाहता था।

निःसन्देह डिजरैली वासेलिसबरी की कूटनीति के माध्यम से रूस को प्रभावहीन बनाने में इंग्लैण्ड को भारी सफलता मिली थी और इस सफलता के आधार पर ही वहां के प्रधानमंत्री बीकन्स फील्ड ने सगर्व कहा था ''मै सम्मान सहित शान्ति लाया हूँ'' परन्तु उसका यह कथन शीघ्र झूंठा साबित हो गया। वास्तव मे देखा जाये तो इस बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से रूस को इतना भू–भाग मिला जितने मिलने की आशा उसे 1877 मे नहीं थी। इंग्लैण्ड ने आस्ट्रिया को बोस्निया तथा हर्जेगोविना देकर सर्बिया को नाराज कर दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके फलस्वरूप ही बाल्कान युद्ध हुए। इससे ही यूगोस्लाविया समस्या उत्पन्न हुई, जिसका समाधान प्रथम विश्व–युद्ध के उपरान्त ही हुआ।

4.13 सम्मेलन के अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम :

निःसन्देह इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड और जर्मनी दो महान शक्तियों के रूप में उभरे, परन्तु इन दोनों शक्तियों में ही शीघ्र सैनिक प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई। दोनों शक्तियों ने सैनिक समझौते करके यूरोप को दो सैनिक कैम्पों में विभक्त कर दिया। जिस टर्की के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए इंग्लैण्ड पूरी उन्नीसवीं सदी में सैनिक सहायता करता रहा, वही टर्की जर्मनी का मित्र हो गया और इंग्लैण्ड से उसने अपने सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। इस परिवर्तन से महान दूरगामी परिणाम हुए। इस सम्मेलन में बिस्मार्क आस्ट्रिया को आवश्यकता से अधिक सहयोग देकर उसे प्रथम विश्व–युद्ध का प्रारम्भ कर्ता बना दिया। इस सन्धि के उपरान्त भी रूस की साम्राज्यवादी नीति पर अंकुश नहीं लगा। टर्की से अपना ध्यान हटाकर रूस ने अपना ध्यान ईरान तथा अफगानिस्तान पर केन्द्रीभूत कर दिया। इस सम्मेलन का सबसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम यह माना जा सकता है कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का मार्ग अधिक विश्वसनीय बना दिया।

4.14 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – जारनिकोलस प्रथम ने टर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कब की थी ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – बर्लिन कांफ्रेस पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – पूर्वी समस्या पर विस्तार से विवेचना किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग – 4

इकाई – 1

अफ्रीका में साम्राज्यवाद : कारण एवं परिणाम

4.0 नवीन साम्राज्यवाद का अर्थ तथा उसका स्वरूप
4.1 नवीन साम्राज्यवाद की विशेषताएं
4.2 नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के कारण
4.2.1 आर्थिक कारण
4.2.2 राजनीतिक कारण
4.2.3 धार्मिक कारण
4.3 नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के परिणाम
4.3.1. निरंकुश राज्यों की स्थापना
4.3.2. आर्थिक शोषण
4.3.3. साम्राज्यवादी देशों में मनमुटाव होना

4.3.4. उपनिवेशों में औद्योगिक विकास

4.3.4. उपनिवेशों में औद्योगिक विकास

4.3.5. अविकसित देशों का साम्राज्यवादियों का शिकार होना

4.3.6. अफ्रीका की भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी होना

4.4 अफ्रीका के अवगाहन कार्यों में विलम्ब के कारण

4.4.1 अफ्रीका के अवगाहन में यूरोपवासियों की रूचि लेने के कारण :

4.5 बोध प्रश्न

4.0 नवीन साम्राज्यवाद का अर्थ तथा उसका स्वरूप :

नवीन साम्राज्यवाद आधुनिक युग की विश्व–राजनीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध मे यूरोप के देशों ने एशिया व यूरोप के निर्बल देशों की लूट तथा उनका परस्पर में बंटवारा आरम्भ कर दिया था। इससे यूरोप की राजनीति ही बदल गई और यूरोप की उस परिवर्तित राजनीति ने विश्व राजनीति का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल के यूरोप का इतिहास विश्व का इतिहास बन गया। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के सन्दर्भ में जो घटनाएं घटित हुई इस नवीन साम्राज्यवाद के परिणामस्वयप देशों मे अपने उपनिवेश स्थापित करना आरम्भ किया और अब उन उपनिवेशो में अपनी केवल राजनीतिक सत्ता ही स्थापित नहीं की वरन् उनका आर्थिक शोषण भी प्रारम्भ कर दिया। शोषण की नीति भी बदल गई थी। अविकसित देशों से जबरन कच्चे माल लेना व अपने तैयार माल को वहां खपाना आज के शक्तिशाली एवं औद्योगिक देशों का प्रमुख कार्य बन गया। अपने यहां के उद्योगपतियों को उन उपनिवेशों में जा कर अपनी पूंजी लगा कर अधिक मुनाफा कमाने के लिए उन्होंने प्रोत्साहित किया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि व्यावसायिक साम्राज्यवाद के स्थान पर जो पूंजीवादी साम्राज्यवाद की स्थापना हुई वही ''नवीन–साम्राज्यवाद के नाम से विश्व राजनीति में प्रचलित हुई।

आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद के इतिहास को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है प्राचीन साम्राज्यवाद और नवीन साम्राज्यवाद। प्राचीन साम्राज्यवाद का युग प्रारम्भ पन्द्रहवीं शती से हुआ। इस शती से पूर्व किसी भी यूरोपीय देश ने यूरोप के बाहर जा कर अपना उपनिवेश स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। परन्तु पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण में स्पेन व पुर्तगाल वालों ने नवीन देशों की अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित कर वहां के लोगों का शोषण करने लगे। परन्तु अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम ने प्राचीन साम्राज्यवाद को गहरा धक्का पहुंचाया। इसके उपरान्त फ्रांस की राज्य–क्रांति ने इसकी गति को और भी मन्द बना दिया। वियना सम्मेलन के उपरान्त यूरोप में शान्ति स्थापित हुई। परन्तु देश घरेलू मामलों में फंसे रहे। 1870 ई. के उपरान्त यूरोप की महत्त्वपूर्ण आन्तरिक समस्याओं का समाधान हो गया। शान्ति–स्थापना से यूरोपीय देशों में उत्पादन भी बढ़ा तथा उत्पादन बनाये रखने के लिए कच्चे माल की मांग भी बढ़ी। इन परिस्थितियों ने यूरोपीय देशों को पुनः साम्राज्यवाद की प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि के लिए प्रयास करने लगे। इसी समय यूरोपीय देशों को अफ्रीका के भीतरी प्रदेशों की भी जानकारी प्राप्त हो गई। अतः यूरोप के लगभग सभी शक्तिशाली देश अफ्रीका पर टूट पड़े। उसके विभाजन हेतु उनमें भयंकर प्राप्ति के लिए यूरोपीय देशों में भयंकर मन मुटाव उत्पन्न हुए और उनमें कई संघर्ष भी हुए। प्राचीन साम्राज्यवाद के अर्न्तगत भी संघर्ष तो हुए थे पर इतने भयंकर नहीं। संघर्षों की यह तीव्रता ही आगे चलकर प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बन गई। इसीलिए प्रथम विश्व युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहा जाता है और 1871 को साम्राज्यवाद के इतिहास में एक नवीन युग का प्रणेता वर्ष माना जाता है। प्राचीन साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विजेता देश अपने उपनिवेशों से प्रत्यक्षकरों के रूप में धन अर्जित करते थे। परन्तु नवीन साम्राज्यवाद के अन्तर्गत वीरान प्रदेशों को आबाद कर वहां का सोना व चांदी लूटना देशों का प्रमुख उद्देश्य बन गया।

4.1 नवीन साम्राज्यवाद की विशेषताएं :

1. नवीन साम्राज्यवाद का विस्तार अति तीव्र गति से हुआ। प्राचीन साम्राज्यवाद की गति मे इतनी प्रखरता नहीं थी। नवीन साम्राज्यवाद का प्रारम्भ 1871 ई. से माना जाता है और इसके कारण 1914 ई. में तो विश्व को प्रथम महायुद्ध की अग्नि में भस्मी भूत हो जाना पड़ा।

2. प्राचीन साम्राज्यवाद में भाग लेने वाले केवल यूरोप के ही देश थे, परन्तु इस नवीन साम्राज्यवाद में एशिया का देश जापान भी सम्मिलित हुआ। संयुक्त–राज्य अमेरिका भी इसमें भागीदार बना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के कारण :

4.2.1 आर्थिक कारण :

1. औद्योगिक क्रांति का प्रसार : औद्योगिक क्रांति का प्रथम चरण तो 1870 ई. में ही समाप्त हो गया था। प्रथम चरण में भी औद्योगिक देशों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई थी। परन्तु 1871 ई. में संयुक्त–राज्य अमेरिका, इटली, जर्मनी व फ्रांस भी औद्योगिक देशों की पंक्ति में आ गये। वहां भी उत्पादन भारी मात्रा में होने लगा। इस उत्पादन की वृद्धि ने औद्योगिक देशों को अपना माल खपाने हेतु नये बाजारों की तलाश करनी पड़ी। इसके साथ ही उत्पादन के कच्चे माल को देने वाले पिछड़े एवं निर्बल देशों की भी तलाश हुई। इस तलाश का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के दशों को नवीन उपनिवेश स्थापित करने पड़े।

2. अतिरिक्त पूंजी : अतिरिक्त पूंजी को हम नवीं साम्राज्यवाद का दूसरा प्रेरक तत्व मान सकते है। औद्योगिक क्रांति के विकास के कारण धनी–वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। धनी लोगों ने अपनी अतिरिक्त पूंजी को दूसरे देशों में लगानें की अभिलाषा व्यक्त की। उनके देश की सरकार ने उनका इस दिशा में समर्थन किया। इसका फल यह निकला कि औद्योगिक देशो के पूंजीपतियों ने अपने देश के उपनिवेशों में रेल तार की व्यवस्था करने तथा विभिन्न धातुओं की खानें खुदवाने में अपना धन लगाना आरम्भ किया। इन कार्यों से वे वहां भारी मुनाफा कमाने लगे। अतः पूंजीपति अपने देश की सरकारों को नवीन उपनिवेश स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करने लगे। मोरक्को में फ्रांस का साम्राज्यवाद वहां के लोगों की इसी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप स्थापित हुआ था।

3. यातायात के साधनो का विकास : निःसन्देह यातायात के साधनो के विकास के पूरक आविष्कार इस नवीन साम्राज्यवाद के आरम्भ से पूर्व हो चुके थे। परन्तु उनकी गति मे तीव्रता उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण मे ही लक्षित हुई। जल–पोत पहले न तो इतने विशाल ही होते थे और न वे द्रुतगामी ही होते थे। इसके अलावा पहले उनकी समुद्र में डूब जाने की आशंका बनी रहती थी। परन्तु अब संकट ग्रस्त स्थानों में टावर हाऊस निर्मित किये। जल मार्गों का भी विकास किया गया। स्वेज नहर व पनामा नहर के निर्माण ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विकसित एवं सुगम बना दिया। इन सब का फल यह हुआ कि अविकसित देशो से कच्चा माल सुविधापूर्वक प्राप्त किया जाने लगा और औद्योगिक देश अपना अतिरिक्त माल सुविधा से अपने उपनिवेशों को भेजने लगे। इसके अलावा इन साधनों के माध्यम से शक्तिशाली देशों को अपने से दूर भी उपनिवेश स्थापित करने व उन पर नियन्त्रण बनाये रखने में कठिनाई नहीं हुई।

4. बढ़ती हुई जनसंख्या : औद्योगिक देशो की जनसंख्या मे निरंतर वृद्धि हो रही थी और खाद्यान्न का उत्पादन उस अनुपात से नहीं बढ़ रहा था। अतः खाद्य समस्या के निवारण के लिए इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व इटली को कृषि प्रधान देशो मे अपने उपनिवेश स्थापित करने को बाध्य होना पड़ा। इसके अलावा उनकी बढ़ती जनसंख्या के लिए रोटी व रोजी की समस्या भी खड़ी होने लगी। इस समस्या के समाधान हेतु भी उन औद्योगिक देशों को उपनिवेशो की खोज करनी पड़ी।

5. आत्म–निर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव : शक्तिशाली देशों में जब आत्म–निर्भरता की भावना उत्पन्न हो गई तो उनमें साम्राज्यवाद की भावना भी प्रबल हुई। वे चाहने लगे कि उन्हें किसी भी वस्तु के लिए दूसरे देश का मुंह न देखने पड़े। हालांकि आज का युग अन्तरनिर्भता का भी है। कोई भी देश पूर्णरूपेण स्वावलम्बी नहीं है। परन्तु फिर भी शक्तिशाली देशों ने यथा सम्भव आत्मनिर्भर बनने का प्रयास किया और उनके इस प्रयास ने ही उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद की दौड़ को तेज बना दिया।

6. व्यवसायी वर्ग के निहित स्वार्थ : व्यवसायी वर्ग नवीन साम्राज्यवाद के प्रबल समर्थक व प्रेरक बन गये, क्योंकि वे जानते थे कि नवीन उपनिवेशों की स्थापना से उनके लिए नये बाजार उपलब्ध होंगे और इससे उनका व्यापार तथा उपनिवेशों की स्थापना से उनके लिए नये बाजार उपलब्ध होंगे और इससे उनका व्यापार तथा उनके उद्योग भी विकसित होंगे। अस्त्र–शस्त्र बनाने वाले चाहते थे कि नवीन उपनिवेशों की स्थापना हो उनके लिए युद्ध लड़े जावे और उन युद्धों मे उनके शस्त्र खरीदे जावे। यह भावना आज भी विद्यमान है और विश्व शान्ति में बाधक बनी हुई है। जहाज निर्माता चाहते थे कि कोयला प्राप्त करने के लिए जगह–जगह उनके देश के सुरक्षित अड्डे हो। अतिरिक्त पूंजी लगाने वाले चाहते थे कि उनकी पूंजी उन नवीन प्रदेशों मे सुरक्षित रहे। इसके लिए वे चाहते थे कि उनकी सरकार वहां अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करे।

4.2.2 राजनीतिक कारण :

1. फ्रांस की राज्य–क्रांति : फ्रांस की राज्य–क्रांति ने यूरोप के देशों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की। उग्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की। उग्र राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत देश अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने हेतु साम्राज्यवाद का अवलंबन लेने लगे। पूंजीपतियो ने अपने देशवासियो मे देश–प्रेम व राष्ट्रीयता को और भी विकसित किया ताकि वे भी अपनी राष्ट्रीय भावना को उपनिवेशों की स्थापना से व्यावहारिक रूप दे सके। इसलिए साम्राज्यवाद देश–भक्ति का प्रमुख लक्षण बन गया। इटली व जर्मनी विशेष रूप से उग्र–राष्ट्रीयता के पोषक व समर्थक थे।

2. इटली व जर्मनी का शक्तिशाली होना : 1871 ई. से ही नवीन साम्राज्यवाद का आरम्भ माना जाता है और इसी वर्ष इटली व जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न होता है। जब तक ये दोनों देश शक्ति में आये तब तक यूरोप के अन्य देश उपनिवेशवाद में काफी आगे बढ़ चुके थेअत: इन दोनों देशों ने भी उपनिवेशवाद की दौड़ मे भाग लेना चाहा तो उन्होंने शीघ्रता से अधिकाधिक उपनिवेश स्थापित करने का प्रयास किया। उनके इस प्रयास से नवीन साम्राज्यवाद को महान् सहयोग मिला।

4.2.3 धार्मिक कारण :

1. ईसाइयो द्वारा अपने धर्म को सर्वोच्च स्थान देना : ईसाई लोग अपने को विश्व के अन्य धर्मो मे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका कहना था कि अर्द्ध–नग्न तथा असभ्य लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उन्हे सभ्य बनाना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। अन्य धर्म तो नाना अन्ध–विश्वासों से परिपूर्ण है। अत: मूर्ति पूजकों को ईसाई धर्म की दीक्षा देकर उन्हे सही धर्म पर लाना चाहिए। अत: धर्म का सही ज्ञान देने हेतु वे मूर्ति पूजकों के देशों पर अधिकार करने का प्रयास करने लगे।

2. धर्म प्रसार की भावना : ईसाई देशों में भी मुस्लिम देशों की भांति अपने धर्म प्रसार की भावना बड़ी उग्र थी। वे अपने धर्म प्रसार के माध्यम से अन्य धर्मावलंबियों को सभ्य बनाना चाहते थेवे यह तर्क प्रस्तुत करते थे कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान् उत्तरदायित्व है। रूडयार्ड किपलिंग भी इसी धारणा का पोषक था। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए उसने 1899 ई. में नाम की एक कविता लिखी थी। अत: यूरोपीय देश काले लोगों के प्रदेशों को जीत कर वहां अपने उपनिवेश स्थापित करने लगे।

3. धर्माधिकारियो का अदम्य उत्साह : जिस प्रकार मुसलमानों मे अपने धर्म–प्रसार का अपूर्व उत्साह था, वैसा ही उत्साह ईसाई पादरियों में आज भी पाया जाता है। जिस प्रकार एक मारवाड़ी व सिन्धी व्यापारी धन उपार्जन के लिए विश्व के किसी भी प्रदेश में जाने को उद्यत रहता है ठीक उसी प्रकार एक ईसाई धर्म–प्रचारक अपने धर्म के के प्रचार के लिए विश्व में कहीं भी जा सकता है। वह कठिनाइयों की चिन्ता न करता हुआ दुर्गम स्थानों पर भी जाकर अपने धर्म का प्रचार करता है। इसीलिए नवीन उपनिवेशों की स्थापना से वे प्रसन्न होते थे क्योंकि उन्हें धर्म–प्रसार के लिए नवीन क्षेत्र मिलते थे। यदि दुर्भाग्यवश वे धर्माधिकारी कहीं कट्टर धार्मिकों (वहां के मूल निवासियों) द्वारा मौत के घाट उतार दिये जाते थे तो उनकी सरकार इस घटना को साम्राज्य–प्रसार का ईश्वर प्रदत्त स्वर्णिम अवसर समझती थी। अपने धर्माधिकारी के वध का प्रतिकार लेने की भावना से उस देश की सरकार वहां आक्रमण करती तथा वहां के शासक को अपनी प्रभुता स्वीकार करने को बाध्य करती थी। इस प्रकार एशिया व अफ्रीका के प्रदेशों में ये धर्माधिकारी साम्राज्यवाद को पल्लवित करने के अच्छे साधन सिद्ध हुए। डॉ. लेविंगस्टोन ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि वहां ईसाई धर्म का प्रचार किया जा सके।

4.3 नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के परिणाम :

4.3.1. निरंकुश राज्यों की स्थापना :

औद्योगिक एवं शक्तिशाली देशों ने अशक्त एवं अविकसित राज्यों को अपने उपनिवेशो मे परिणित कर वहां अपनी शक्तिशाली सरकार कायम की। उनकी सरकार वहां के मूल निवासियो के दु:ख–दर्द की कोई चिन्ता नही करती थी। उनके मूल उद्देश्य वहां अपना निरंकुश शासन स्थापित कर वहां अपना प्रभुत्व बनाये रखना होता था। जैसा कि एक बार लिंकन ने कहा था – "जब गोरा आदमी अपने ऊपर भी शासन करता है तो वह स्वशासन है, किन्तु जब वह दूसरे पर शासन करता है तो वह स्वशासन नही निरंकुशता है।"

4.3.2. आर्थिक शोषण :

नवीन साम्राज्यवाद का मूल आधार ही उपनिवेशों का आर्थिक शोषण होता था। शक्तिशाली देश अपने उपनिवेश देशों से कच्चा माल सस्ती दरों पर खरीदते थे और ऊँची कीमतों पर वहां अपना तैयार माल भेजते थे। वहां के प्राकृतिक साधनों का उपयोग औद्योगिक देश करते थे तथा वहां के मूल निवासियो को बहुत कम पैसा देकर उनसे मजदूरी लेते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.3. साम्राज्यवादी देशों में मनमुटाव होना :

साम्राज्यवाद की भूख कभी नहीं मिटती है। अतः यूरोप के देश जिस तीव्र गति से साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हुए, उसी गति से उनमें वैमनस्य तथा साम्राज्यवाद की प्रतिद्वन्द्वता उत्पन्न हुई। फ्रांस इंग्लैण्ड से बाजी मारने का प्रयास करने लगा तथा इटली व जर्मनी इन दोनो से बाजी मारने का असफल प्रयत्न करने लगे। बीसवीं सदी के आरम्भ से एशिया में जापान साम्राज्यवाद की दौड़ दौड़ने लगा था जिसके परिणामस्वरूप उसके सम्बन्ध चीन, रूस व अमेरिका से बिगड़ गये।

4.3.4. उपनिवेशों में औद्योगिक विकास :

साम्राज्यवादी देशों की यह इच्छा कभी नहीं थी कि उनके उपनिवेशों का औद्योगिक विकास हो। वे तो वहां के प्राकृतिक साधनों का केवल उपयोग करना चाहते थे। परन्तु जब उनको उपनिवेशों मे मजदूर पर्याप्त मात्रा मे तथा सस्ती मजदूरी पर मिलने लगे तो उन्होंने वहां भी उद्योग–धंधों की स्थापना करना आरम्भ किया। दूसरा कारण यह बन गया कि जब यूरोप के देश पारस्परिक संघर्षो में उलझने लगे तो वहां के उद्योग धन्धे समाप्त होने लगे। तब उन्हें विवश हो अपने उपनिवेशों में औद्योगिक विकास करना पड़ा। भारत भी इसी का एक उदाहरण है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों के परिणामस्वरूप ही अंग्रेजों को भारत में औद्योगिक विकास करना पड़ा था।

4.3.5. अविकसित देशों का साम्राज्यवादियों का शिकार होना :

नवीन साम्राज्यवाद के शिकार खास तोर से एशिया के देश व अफ्रीका महाद्वीप बने। साम्राज्यवादियों ने समस्त पृथ्वी का पूरा भ्रमण किया। उत्तरी ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव के दुर्गम प्रदेशों व टापुओं का अवगाहन किया। अफ्रीका के घने जंगलो को पार कर उसके भीतरी भाग मे जाने में यूरोपवासियों को सफलता मिल गई। इसका परिणाम यह निकलना कि बीसवीं सदी के आरम्भ तक पृथ्वी का सम्भवतः ही कोई ऐसा प्रदेश शेष रहा होगा जहां यूरोपवासी न पहुंचे हो और जहां उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित न किये हो। इनके अलावा यूरोप के भी आपेक्षित दृष्टि से पिछड़े देश पश्चिमी विकसित एवं शक्तिशाली देशों की साम्राज्यवादी क्षुधा से नहीं बच सके।

4.3.6. अफ्रीका की भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी होना :

क्षेत्रफल की दृष्टि से अफ्रीका विश्व का दूसरा महाद्वीप है। उन्नीसवी सदी के आरम्भ से पूर्व यह एक 'अन्ध–महाद्वीप' के नाम से विख्यात था। यूरोप के अति समीप होते हुए भी इसकी भौगोलिक परिस्थितियो का ज्ञान यूरोपवासियो को नहीं था। उत्तर में भूमध्य सागर इसे यूरोप से विलग करता है और दक्षिण में इसका सिरे पर सदाशा अन्तरीप है। उत्तरी अफ्रीका के मिस्र, अलजीरिया, ट्यूनिस, मोरक्को आदि कुछ देशों को छोड़कर शेष अफ्रीका के विषय में यूरोपवासियों की बहुत कम जानकारी थी। उसके सघन वनों, भौगोलिक तथा प्राकृतिक दिशाओं व इसके अर्द्धनग्न निवासियो के विषय मे लोगो को कोई जानकारी नहीं थी। उसके दुर्गम प्रदेशों को खोज करना अति दुर्लभ था। परन्तु ईसाई धर्म प्रचारक डेविड लिविंगस्टोन ने 1840 ई. में अपने अदम्य उत्सह का परिचय देकर इसके मध्यवर्ती रेगिस्तानी भाग की यात्रा कर इसकी जानकारी यूरोप को दी। इसके उपरान्त अनेक धर्म प्रचारक व व्यापारी अपनी यात्राओं के माध्यम से इसकी भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी करते है। इन अवगाहन कार्यों का परिणाम यह निकला कि अफ्रीका नवीन साम्राज्यवाद का शिकार बुरी तरह से हुआ। 1870 ई. में और 1914 ई. के बीच तो यह समस्त यूरोप की विभिन्न शक्तियो द्वारा परस्पर में बांट लिया गया। इस प्रकार यूरोप के साम्राज्यवादियों ने इस अन्ध महाद्वीप को समस्त विश्व की दृष्टि में ला दिया।

4.4 अफ्रीका के अवगाहन कार्यों में विलम्ब के कारण :

1. अफ्रीका के समुद्री तट पर अच्छे बन्दरगाहों का अभाव।
2. अफ्रीका की जलवायु का यूरोपवासियों के प्रतिकूल होना।
3. भौगोलिक परिस्थितियों का दुर्गम होना।
4. यूरोपवासियों का अफ्रीकावासियों के प्रति कोई सद्भाव न होना।

4.4.1 अफ्रीका के अवगाहन में यूरोपवासियों की रूचि लेने के कारण :

यूरोपवासियों का ध्यान धीरे–धीरे अफ्रीका की ओर आकर्षित होने लगा। वे अफ्रीका के महत्व को समझने लगे और उन्होंने अपने प्रशासन से इस महाद्वीप को एक अन्ध–महाद्वीप नहीं रहने दिया। यूरोपवासियों के इस महाद्वीप की ओर आकर्षित होने के कारण निम्नलिखित थे –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. नेपोलियन के मिस्र पर आक्रमण करने से इंग्लैण्ड को इसका महत्व ज्ञात हुआ। उन्होंने सोचा कि यदि मिस्र पर नेपोलियन का अधिकार हो जाता तो भारत की सुरक्षा को संकट हो सकता था।

2. यूरोपीय देशों की राष्ट्रीय भावना ने उन्हें अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित करने को प्रोत्साहित किया।

3. अफ्रीका को यूरोप के धर्माधिकारी अपने धर्म व सभ्यता के प्रसार का केन्द्र बनाना चाहते थे।

4. जब अफ्रीका की अमूल्य खनिजों की खानों का पता यूरोप के देशों को लगा तो वे भूखे भेड़िये की भांति इस पर टूट पड़े।

5. अफ्रीका के गुलामों के व्यापार ने तो सर्वप्रथम यूरोप का ध्यान इसकी और खीचा था। यहां काले हब्शियो को दास बना कर यूरोपवासी उन्हें अमेरिका में बेचकर अच्छा लाभ उठाते है।

6. परन्तु उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही यूरोप के देशों में गुलामों के व्यापार को निन्दनीय समझा जाने लगा। इसके लिए इंग्लैण्ड की सरकार ने कानून बनाया तथा वियना सम्मेलन में भी इसे निन्दनीय बताया गया। इन प्रस्तावों के कारण जब गुलामों का व्यापार घटने लगा तो अफ्रीका में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए यूरोप के देश अन्य साधनों का सहारा लेने लगे।

7. यूरोप के धर्म–प्रसारकों ने भी अपने देश की सरकार का ध्यान अफ्रीका की और आकर्षित किया। डेविड लेविंगस्टन, स्टेनली, बेकर तथा ग्राफ्ट आदि ने अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों व भौगोलिक परिस्थितयों का पता लगाया। इन लोगों ने अपनी यात्राओं के वर्णन से यूरोपवासियों के दिलों में अफ्रीका के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की। अफ्रीका के प्रदेशो की जानकारी जब यूरोप के देशों को मिलने लगी तो उन देशों की सरकार वहां अपने–अपने उपनिवेशों की स्थापना के लिए आतुर उठी।

4.5 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – साम्राज्यवादी युद्ध किसे कहा जाता है?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – नीवन साम्राज्यवाद की विशेषताएं लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – अफ्रीका में साम्राज्यवाद के कारण और परिणामों को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई – 2

प्रथम विश्व युद्ध : कारण एवं परिणाम

2.0 भूमिका
2.1 युद्ध के दल
2.2 युद्ध के कारण
2.2.1. उग्र राष्ट्रीयता
2.2.2. यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी भावना
2.2.3. औद्योगिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा
2.2.4. सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की भावना
2.2.5. अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता
2.2.6. सीमा सम्बन्धी झगड़े
2.2.7. बाल्कान युद्ध
2.2.8. गुटों की प्रतिद्वन्द्विता
2.2.9. जर्मनी की सामुहिक नीति

2.2.10. मोरक्को प्रश्न
2.2.11. इंग्लैण्ड और जर्मनी के शासकों का एकवंशीय होना
2.2.12. बगदाद रेलवे
2.2.13. अन्तर्राष्ट्रीय संघ का अभाव
2.2.14. समाचार पत्र
2.2.15. आस्ट्रिया की दमनकारी नीति और आस्ट्रियन युवराज की हत्या
2.4.2 युद्ध ऋण
2.4.3 व्यापार की नीति
2.4.4 मुद्रा प्रसार
2.4.5 मजदूर आन्दोलन
2.4.6 राजकीय समाजवाद का विकास
2.5 युद्ध के सामाजिक प्रभाव
2.5.1. अलपसंख्यकों की समस्या के समाधान का प्रयत्न
2.5.2. स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन
2.5.3. नस्लों की समानता
2.5.4. धार्मिक सर्वोच्चता का भ्रम नष्ट
2.5.5. शिक्षा एवं विज्ञान की हानि
2.5.6 विश्व संस्थाओं का विकास
2.6 युद्ध के राजनीतिक प्रभाव
2.6.1. एकतन्त्र शासन का स्थान प्रजान्तत्र ने लिया
2.6.2. जनतन्त्र की विजय और राष्ट्रीयता का विकास
2.6.3. प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना
2.6.4. नवीन वादों का सूत्रपात
2.6.5. सैन्यवाद तथा उपनिवेशवाद में वृद्धि
2.6.6. अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास
2.6.7. संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव बढ़ना
2.6.8. शक्ति संतुलन सिद्धान्त की समाप्ति
2.6.9. राष्ट्रसंघ की स्थापना
2.6.10. आत्म निर्णय का अधिकार
2.7 बोध प्रश्न

2.0 भूमिका :

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ का यूरोप बारूद के एक बडत्रे ढेर पर खड़ा था जिसकी आग लगाने के लिए केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी। पिछली अर्ध शताब्दी से ही यूरोप की घटनाएं इस तरह घटित हो रही थी कि अब अधिक समय तक शांति स्थापित नहीं रखी जा सकती थी। यूरोप के सभी देशों में अस्त्र–शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा लगी हुई थी, क्रमशः फ्रांस प्रशा युद्ध, बर्लिन सम्मेलन , बल्गारिया का प्रश्न, त्रिराष्ट्र सन्धि का जन्म, रूस जर्मन विवाद, इंग्लैण्ड तथा जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा, पूर्व की समस्या, साम्राज्यवाद की भावना, मोरक्को के तीन संकट, बोस्निया संकट सेराजिवों हत्याकाण्ड आदि कुछ ऐसी अप्रिय घटनाएं थी जो सम्पूर्ण विश्व को एक भयंकर आग की लपेट में ले गई। सम्पूर्ण यूरोप दो सशस्त्र गुटों में बंटा हुआ था।

28 जून, 1914 को सेराबजवो में आस्ट्रिया के युवराज आर्चड्यूक फ्रांसिस फडीनेण्ड की हत्या से अस्ट्रिया तथा सर्बिया के मध्य जो युद्ध शुरू हआ, वह धीरे–धीरे विश्वव्यापी युद्ध में बदल गया। इस युद्ध में संसार के लगभग सभी राष्ट्रों ने, प्रायः सभी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्त्री–पुरूषों ने सैनिकों व सामान्य नागरिकों ने काले गोरे भूरे और पीले रंग की जातियों ने भाग लिया। सभी लोगों ने इस युद्ध में कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य किये। वास्तव में ऐसा घोर विनाशकारी युद्ध इतिहास में कभी नहीं हुआ था।

2.1 युद्ध के दल :

1. **मित्र राष्ट्र** – इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, सर्बिया, जापान, पुर्तगाल, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूमानिया, यूनान, स्याम, चीन, साइबेरिया, क्यूबा, पनामा, ब्राजील, वाटेमाला, नाइकरगुआ, कोस्टरीका, हेटी होंडुरास आदि।

2. **केन्द्रीय शक्तियां** – जर्मनी, आस्ट्रिया–हंगरी, बल्गारिया तथा टर्की।

प्रथम विश्व युद्ध मे कुल 36 देशों ने भाग लिया था। 32 देश मित्र–राष्ट्रों की ओर थे जबकि शेष चार देश केन्द्रीय शक्तियों के साथ थे।

2.2 युद्ध के कारण :

यह प्रथम विश्व–युद्ध किसी एक आकस्मिक घटना के कारण नहीं हुआ। युद्ध के आधारभूत कारण पहले से ही विद्यमान थे। यह सही है कि इसका आरम्भ आस्ट्रिया के युवराज आर्च ड्यूक फर्डीनेण्ड की हत्या के एक मास उपरान्त हुआ, पर वही इसका एकमात्र कारण नहीथी। इस युद्ध के कारण तो वर्षों से यूरोप, अफ्रीका व एशिया में घटने वाली घटनाओं से उत्पन्न होते जा रहे थे। इसके अलावा इस युद्ध में भाग कई देशों ने लिया। यह स्वाभाविक है कि उन राष्ट्रों ने इस युद्ध में भाग अपने–अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने हेतु ही लिया होगा। अतः इस युद्ध के कारण भी अनेक होने चाहिए।

2.2.1. उग्र राष्ट्रीयता :

निःसन्देह राष्ट्रीयता मानव की एक स्वाभाविक एवं उचित मनोवृत्ति है, परन्तु जब यह राष्ट्रीयता उग्र रूप धारणा कर लेती है। तो यह मानव–समाज को हितकर होने के स्थान पर अहितकर बन जाती है। उग्र–राष्ट्रीयता के आवरण में मानव केवल अपने राष्ट्र व अपनी जाति का ही भला चाहता है और अपने राष्ट्र के विकास के लिए वह दूसरे राष्ट्रों का अहित करने में नहीं हिचकता। ठीक यही देश यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में थी और 1870 से 1914 के अन्तराल में तो यह भावना इतनी उग्र हो गई कि संभवतः इतिहास में कभी न रही होगी। उग्र राष्ट्रीयता का भूत इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, हॉलैण्ड आदि यूरोप के देशों के सिर पर सवार था। ये बस देश विश्व के अधिक से अधिक देश जीतना व वहां अपने उपनिवेश स्थापित करना चाहते थे। इस कारण उनमें वैमनस्य तथा द्वेष की भावना घर कर गई थी। बड़े देशों के अतिरिक्त छोटे देश भी इस भावना से प्रेरित थे। उन्होंने अपने पडौसी देशों की अखण्डता को विनिष्ट करने का प्रयास किया। इटली व जर्मनी अपने एकीकरण का प्रमुख साधन राष्ट्रीय भावना को ही समझते थे। इतिहासकार फे भी राष्ट्रीयता की भावना को युद्ध का मूल कारण समझते है।

अतः दोनों देशों ने राष्ट्रीय संगठन को एक ध्येय माना और दोनों उसका प्रचार करने लगे। यूरोप में शक्तिशाली बन जाने पर जर्मन अपनी जाति को विश्व में सर्वश्रेष्ठ समझने लगा और इंग्लैण्ड अपने लोगों को विश्व में सर्वोच्च समझता था। जर्मनी के चान्सलर बेथमैन हालवेग का कहना था कि ईश्वर ने जर्मन जाति को संसार में विशेष स्थान दिया है। इसके विरोध में इंग्लैण्ड का सेसिल कहता था कि मेरा दावा है कि अब तक इतिहास में जितनी जातियां उत्पन्न हुई है, ब्रिटिश उनमें सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीयता की उग्र भावना ने मानव जाति की शक्ति को हानि पहुंचाने की परिस्थितियां उत्पन्न कर दी। इसी प्रकार रूस में सर्व स्लाववादियों ने स्लाव जाति को संगठित करने एवं उसे सर्वशक्तिशाली बनाने के लिए बहुत प्रचार किया।

2.2.2. यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी भावना :

उग्र राष्ट्रवाद से ही साम्राज्यवादी भावना का प्रादुर्भाव होता है। जब यूरोपीय देश उग्र राष्ट्रीयवाद के शिकार हो गए तो यह स्वाभाविक ही था कि उनके सिर पर साम्राज्यवाद का भूत सवार हो। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इंग्लैण्ड साम्राज्यवाद के क्षेत्र में सर्व अग्रणी था। बीसवी सदी के आरम्भ से ही विकसित औद्योगिक विकास ने तथा राष्ट्रों के उग्र राष्ट्रवाद ने यूरोप के देशों के साम्राज्यवाद के क्षेत्र मे और अग्रसर होने की प्रेरणा दी। अफ्रीका का बंटवारा होना अभी आरम्भ हुआ ही था। अतः जर्मनी, इटली, फ्रांस आदि देश भी अफ्रीका के प्रदेश हथियाने में इंग्लैण्ड से पीछे रहना नहीं चाहते थे। रूस भी इस भावना से कम प्रभावित नहीं था। आरम्भ मे उसने अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा को टर्की के विनाश से शान्त करना चाहा, परन्तु इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व आस्ट्रिया के प्रतिरोध के कारण उसे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपना ध्यान मध्य–एशिया तथा सुदूर पूर्व की और लगाना पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया में कदम बढ़ाने से उसके सम्बन्ध इंग्लैण्ड से तनावपूर्ण हो गये और सूदूर पूर्व मे जाने के परिणामस्वरूप उसे 1905 में जापान से करारी मात खानी पड़ी। बाल्कान युद्धों के कारणों में एक कारण यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी भावना भी थी। इटली अपने साम्राज्य विस्तार के लिए इधर–उधर जोड़–तोड कर रहा था। अफ्रीका के बंटवारे में उसे विशेष सफलता नहीं मिली थी। ट्रिपोली के प्रलोभन ने ही उसको केन्द्रीय शक्तियों से अलग कर दिया था और वह मित्र राष्ट्रों से जा मिला था। यह साम्राज्यवादी क्षुधा एक ऐसी क्षुधा है जो कभी शान्त नहीं होती।

2.2.3. औद्योगिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा :

इंग्लैण्ड ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही व्यवसाय के क्षेत्र मे पर्याप्त उन्नति कर ली थी परन्तु इटली और जर्मनी सन् 1870 के उपरान्त इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। बीसवीं सदी के आरम्भ तक इन दोनो देशों ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। इन देशों के अलावा फ्रांस व रूस भी इस क्षेत्र में आगे बढ़ रहे थे। फ्रांस तो रूस से आगे बढ़ चुका था। इसलिए अफ्रिका के विभाजन में उसके स्वार्थ ब्रिटेन से टकरा रहे थे। इसी प्रकार सुदूर–पूर्व में जापान औद्योगिक क्षेत्र मे तीव्रता से आगे बढ़ रहा था। उसके औद्योगिक विकास के कारण उसके सम्बन्ध रूस से तथा चीन से बिगड़ गये थे अमेरिका भी औद्योगिक विकास में अब पीछे नहीं था। वह भी सुदूर पूर्व में अपनी बाजार की तलाश मे था। वह चीन में अपना प्रभाव जमा रहा था और अपने मार्ग मे जापान को बाधक समझता था। उससे भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे कई राजनीतिक परिवर्तन आये, जिनसे प्रथम विश्व–युद्ध की संभावना में वृद्धि हो गई।

2.2.4. सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की भावना :

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप मे सैनिकवाद पनप रहा था। इसका मूल कारण उग्र राष्ट्रीयता, आर्थिक प्रतियोगिता तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव था। विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक शंका और ईर्ष्या बढ़ती जा रही थी, अतः यूरोप के सभी देश अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि कर रहे थे। प्रो. फे के मतानुसार – ''सैन्यवाद के अन्तर्गत दो तथ्य निहित है – प्रथम, विशाल सेनाओ तथा नौ–सेनाओं की भयानक एवं बोझिल व्यवस्था तथा परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला सन्देह, भय एवं घृणा का वातावरण, दूसरा यह कि जनरल स्टाफ की अध्यक्षता में सैनिक एवं नौ–सैनिक अधिकारियों का शक्तिशाली वर्ग, जो किसी भी राजनैतिक संकट के समय नागरिक प्रशासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता है।''

जब जर्मनी ने अपनी नौ–सेना को बढ़ाना आरम्भ किया तो यह कार्य इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति को चुनौती समझा जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप नाविक प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी। इस प्रतिस्पर्धा ने यूरोप के अन्य देशों को भी प्रभावित किया। प्रत्येक देश अपनी सैन्यवृद्धि को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा मान बैठा और सैनिक शक्ति में वृद्धि करने लगा। 1914 तक जर्मनी के पास आठ लाख पचास हजार सैनिक थे इसके अतरिक्त उसके पास पचास लाख प्रशिक्षित व्यक्ति थे जो युद्ध के समय मोर्चे पर भेजे जा सकते थे फ्रांस ने अधिक से अधिक लोगों को युद्ध के लिए तैयार किया। रूस के पास शान्ति के समय पन्द्रह लाख सैनिक थे। इन देशों ने न केवल सैनिकों की संख्या में बढ़ोतरी की अपितु आधुनिक अस्त्र–शस्त्रों का भी विकास किया।

यद्यपि रूस के जार निकोलस द्वितीय ने शस्त्रीकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबन्ध लगाने के लिए हेग में सम्मेलन आमन्त्रित किये थे, किन्तु जर्मनी के विरोधक के कारण शस्त्रीकरण को सीमित करने की योजना असफल सिद्ध हुई।

2.2.5. अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता :

आज की भांति बीसवीं सदी के प्रारम्भ में कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय संघ की अनुपस्थिति में विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता व्याप्त हो गई थी। राष्ट्र अपनी इच्छानुसार कार्य करते थे शक्तिशाली राष्ट्र रूपी मगर छोटे व निर्बल राष्ट्र रूपी मछलियों को निगल रहे थे। उन्हें कोई रोकने वाला नहीं था। नेपोलियन की आक्रामक नीति पर नियन्त्रण करने हेतु इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा व रूस ने एक संघ बनाया। रूस की साम्राज्यवादी क्षुधा को प्रतिबन्धित करने हेतु 1856 में पेरिस सम्मेलन, 1878 में बर्लिन – सम्मेलन आयोजित किये गये। हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना अवश्य हो गई थी, परन्तु इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जिसके माध्यम से वह आक्रामक देशों को नियन्त्रण में रख सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि बीसवीं सदी में विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का राज्य था। इसलिए बीसवीं सदी के आरम्भ से ही कभी एशिया में, तो कभी अफ्रीका में और कभी यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने वाली घटनाएं घटती रहीं, जिनका अन्तिम परिणाम 1914 में विश्व युद्ध के रूप में परिणित हुआ। इसलिए कतिपय इतिहासकारों ने 1914 के पहले के यूरोपीय राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए उसे अन्तर्राष्ट्रीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

अराजकता ही निरूपित किया है।

2.2.6. सीमा सम्बन्धी झगड़े :

सीमा सम्बन्धी झगड़े विभिन्न राष्ट्रों में 19वीं सदी से ही चले आ रहे थे। इन झगड़ों को 1815 मे वियना कांग्रेस ने तय करने का प्रयास किया था। कई नवीन राज्य बनाये गये, पर इस कांग्रेस ने आत्म निर्णय के सिद्धान्त को ताख में रख दिया था। इटली आस्ट्रिया हंगरी के कुछ ऐसे प्रदेशों को लेना चाहता था जिनके अधिकांश निवासी इटेलियन भाषा–भाषी थे। फ्रांस को 1870 मे परास्त कर जर्मनी एल्सेस व लोरेन को अपने प्रभुत्व में ले चुका था। फ्रांस इन दोनों प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने को कटिबद्ध था। पूर्वी यूरोप में चेक्स व पोल्स अपनी स्वतन्त्रता के लिए छट–पटा रहे थे। बाल्कान युद्धो ने इन सीमा सम्बन्धी झगड़ों को और भी विषम बना दिया था। इस विषमता से यूरोपीय देशों में कटुता उत्पन्न हो गई थी और एक राष्ट्र को समाप्त करने को उद्यत बैठा था।

2.2.7. बाल्कान युद्ध :

जिस प्रकार बर्लिन कांग्रेस ने बाल्कान प्रायद्वीप की समस्या को हल न करके इसे और जटिल ही बनाया था, उसी प्रकार बाल्कान युद्धों से भी यह पूर्वी समस्या हल नही हुई वरन् और जटिल ही हुई यहां पर एक नहीं यूरोप के दर्जनों राष्ट्रों के हित टकरानें लगे। बल्गारिया अपने पड़ौसी राज्यों का कट्टर शत्रु हो गया। बाल्कान युद्धों मे प्रादेशिक नुकसान जितना बल्गारिया को हुआ उतना अन्य राज्य को नही। अपमान भी उसी का हुआ। लन्दन सम्मेलन टर्की के साम्राज्य को नही बचा सका। अतः टर्की भी अब इंग्लैण्ड व फ्रांस के विरूद्ध हो गया। इटली को ट्रिपोली नहीं मिला तो वह बुखारेस्ट से असन्तुष्ट ही रहा। इस सन्धि से सर्वाधिक लाभ सर्बिया को हुआ था। इसके परिणामस्वरूप वह घमण्डी हो गया। इसीलिए बुखारेस्ट की सन्धि पर उसने सगर्व कहा था कि एक बाजी तो हम लोग जीत गये, अब दूसरी बाजी की तैयारी करनी है और वह भी आस्ट्रिया के साथ। स्पष्ट है कि सर्बिया के प्रतिनिधि के ये शब्द एक प्रकार से आस्ट्रिया को चेतावनी के शब्द थे। इसीलिए हैजन ने तो बाल्कान युद्धों को प्रथम विश्व युद्ध की प्रस्तावना बताया है। इतिहासकार ग्रान्ट और टेम्परले भी बाल्कान युद्धों को प्रथम विश्व–युद्ध के लिए उत्तरदायी बताते है। वे लिखते है कि "1914 के महायुद्ध के लिए कोई भी घटना इतनी उत्तरदायी नहीं है जितनी कि बल्कान युद्ध। इस युद्ध ने तुर्कों का पतन करके शक्ति संतुलन को प्रभावित किया। सर्बिया ने बोस्निया के अपमान का बदला लिया। सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणामस्वरूप कालान्तर में यूगोस्लाविया का जन्म हुआ। यूनान बृहत्तर यूनान का, रूमानिया बृहत्तर रूमानिया का और सर्बिया वृहत्तर सर्बिया का स्वप्न देखने लगे। आस–पास के देशों में रहने वाले यूनानी, रूमानियन और सर्व अपने उद्धार के लिए इन देशों की और देखने लगे। बाल्कान युद्धों के उपरान्त आस्ट्रिया और तुर्की के अधीन अन्य जातियां भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन करने लगी। इस प्रकार लन्दन सम्मेलन के उपरान्त भी बाल्कान प्रदेश यूरोपीय राजनीति का गर्म अखाड़ा ही बना रहा।

2.2.8. गुटों की प्रतिद्वन्द्विता :

इतिहासकार फे की मान्यता है कि प्रथम विश्व युद्ध के श्रीगणेश का श्रेय बहुत कुछ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में गठित विभिन्न सैनिक समझौतों को दिया जाना चाहिए। सैनिक गुटबन्दी का प्रचलन करने वाला बिस्मार्क था। फ्रांस को परास्त कर बिस्मार्क ने सैनिक गुटबन्दी का श्रीगणेश किया क्योंकि वह फ्रासं को यूरोप की राजनीति में एकाकी रखना चाहता था। 1879 में जब यह द्विगुट त्रिगुट संगठन मे परिणित हो गया तो आस्ट्रिया व जर्मनी को इटली एक सहयोगी के रूप में और मिल गया। इसकी प्रतिक्रिया यूरोप में बीसवी सदी के प्रारम्भ में हुई। 1904 में इंग्लैण्ड व फ्रांस परस्पर मित्र बन गये और एक दूसरे को सहायता देने को तत्पर हो गये। 1907 में उन दोनों को तीसरा मित्र रूस और मिल गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि 1907 मे यूरोप स्पष्ट रूप से दो सैनिक कैम्पों मे विभक्त हो गया। इन गुटों ने यूरोप की शान्ति को भंग किया। इन सैनिक समझौतों का ही यह परिणाम था कि इन गुटो के देश उन समस्याओं में भी अपनी रूचि प्रदर्शित करने लगे जिनके उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। इसका एकमात्र कारण अपने मित्रों का समर्थन करना था। सर्बिया के प्रश्न में जर्मनी को तनिक भी रूचि नहीं थी। उसने युद्ध की घोषणा इसीलिए की क्योंकि आस्ट्रिया उसके गुट का सदस्य था। फ्रांस ने सर्बिया का समर्थन इसीलिए किया क्योंकि उसका शत्रु जर्मनी–आस्ट्रिया का साथ दे रहा था और उसे यह पूर्ण आशा थी कि उसके गुट का सदस्य इंग्लैण्ड उसका साथ अवश्य देगा। वास्तव में देखा जाये तो सब्रिया ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था जिससे कि युद्ध की नौबत आती है। यदि उसके यहां आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हो भी गई तो उससे आस्ट्रिया युद्ध करे। अतः वह उसे प्रोत्साहन देता रहा। रूस ने तुरन्त ही युद्ध की घोषणा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसलिए कर दी क्योंकि वह आस्ट्रिया को नीचा दिखाना चाहता था। अतः स्पष्ट है कि यह अवसर आस्ट्रिया व सर्बिया के बीच नहीं वरन् त्रिगुटा और त्रिमैत्री गुटो के बीच थी। इसीलिए हेर जिमरमां ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था यह युद्ध गुटबन्दी प्रणाली के कारण हुआ है, जो आधुनिक युग का अभिशाप है। हालांकि दिखावे में ये गुप्त संधिया मित्रता एवं सौहार्द्र बनाये रखने के लिए की गई थी तथापि इन्होंने पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को प्रबल बनाया।

2.2.9. जर्मनी की सामुहिक नीति :

विश्व मे सामुद्रिक शक्ति इंग्लैण्ड की प्रथम थी और आज भी उसकी ही प्रथम है। महत्वाकांक्षी विलयम ने बीसवीं सदी के आरम्भ से ही अपनी नौ–सेना को बढ़ाना आरंभ कर दिया था। उसने एक समय कहा था – "मै तब तक विश्राम नहीं लूंगा जब तक कि अपनी जल सेना को इतना शक्तिशाली नहीं बना लूंगा जितनी कि मेरी थल सेना है।" जर्मनी की नौ–सेना की वृद्धि से इंग्लैण्ड चिन्तित हुआ। उसने जर्मनी से सन्धि करने का बहुत प्रयास किया परन्तु वह इसमे असफल ही रहा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का भी सन् 1917 ई. मे इस महायुद्ध में भाग लेने का एक प्रमुख कारण जर्मनी की नौ–सेना का शक्तिशाली होना ही था। वह अपनी सुरक्षा में इंग्लैण्ड को एक ढाल समझता था। वह सोचता था कि यदि जर्मनी की नौ–सेना शक्तिशाली हो जावेगी तो वह अमेरिका पर आक्रमण करने में समर्थ हो जावेगा।

2.2.10. मोरक्को प्रश्न :

इस प्रश्न को लेकर जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्ध बीसवीं सदी के आरम्भ से ही कटु हो गये थे, परन्तु इस प्रश्न से केवल फ्रांस और जर्मनी के ही सम्बन्ध नही बिगड़े वरन् रूस, इंग्लैण्ड और अमेरिका इटली भी इस प्रश्न पर जर्मनी के विरूद्ध हो गये थे। मोरक्को की स्थिति ने इस प्रश्न को आरम्भ से ही अन्तरान्ष्ट्रीय बना दिया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भी इस प्रश्न में बीच–बचाव करने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह समस्या हल नही हुई। इसके विपरीत इस समस्या ने दोनो गुटो के सदस्यो में एक दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया। इस अविश्वास के परिणामस्वरूप ही यह विश्व युद्ध हुआ। विश्वास के अलावा इस प्रश्न ने इंग्लैण्ड को जर्मनी का कट्टर शत्रु बना दिया और उसे फ्रांस के बहुत समीप ला दिया।

2.2.11. इंग्लैण्ड और जर्मनी के शासकों का एकवंशीय होना :

इंग्लैण्ड का हेनोवर वंश जर्मनी के हेनोवर राज्य से ही सम्बन्धित था। इस वंश का प्रथम शासक जार्ज प्रथम यहीं से गोद गया था। इसके कारण जर्मनी के शासक विलियम द्वितीय को इंग्लैण्ड के विशल साम्राज्य व उसके गौरव से खीझ होती थी। वह भी इंग्लैण्ड की भांति विश्व में विशाल साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। यही कारण था कि उसने इंग्लैण्ड के सम्राट् एडवर्ड सप्तम की मित्रता के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। विलियम द्वितीय के सिर पर तो केवल इसी बात का भूत सवार था कि किसी प्रकार उसका साम्राज्य इंग्लैण्ड से अधिक विस्तृत हो। अतः दोनों देशों में कटुता का बढ़ना स्वाभाविक था।

2.2.12. बगदाद रेलवे :

विलियम द्वितीय ने टर्की के सुल्तान से मित्रता स्थापित की और उसने अपने को तुर्कों का संरक्षक घोषित किया। इस मित्रता के बदले विलियम द्वितीय ने बगदाद रेलवे बनाने की अनुमति सुल्तान से प्राप्त कर ली। उनके इस समझौते से इंग्लैण्ड फ्रांस और रूस भयभीत हो गये। वे नहीं चाहते थे कि जिस यूरोप के मरीज टर्की को समय–समय पर सैनिक सहायता रूपी औषधियां देकर अब तक जीवित रखा है, वह अब उनके शत्रु (जर्मनी) के प्रभाव में चला जावे। इसी कारण यूरोप का वातावरण अशान्त बन गया। इंग्लैण्ड के इस बगदाद रेवले से भयभीत होने का एक कारण और भी था। उसे शंका हुई कि जर्मनी इस रेलवे के निर्माण से भारत की ओर जाना चाहता है। अतः रेवले लाइन के निर्माण को समाप्त करने के लिए इंग्लैण्ड ने यह युद्ध मोल लिया। जर्मनी व सर्बिया के सम्बन्ध खराब होने का एक कारण बगदाद रेलवे लाइन भी था। दूसरे बाल्कान युद्ध में सर्बिया एक विजेता के रूप में उभरा था तथा उसे एड्रियाटिक सागर का किनारा भी मिल गया था। इस कारण वह भी बगदाद रेलवे के पीछे जर्मनी का उद्देश्य टर्की को प्रभाव में रखना तो था ही पर इसके साथ ही वह पूर्वी यूरोप के देशों को अपना माल खपाने के लिए बाजर भी बनाना चाहता था। पार्कर टी. मून ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि यूरोप के देशों ने अपने उपनिवेशों को अपने प्रभुत्त्व में बनाये रखने के लिए ही बडी–बड़ी रेलवे लाइने बिछाना आरम्भ किया। रूस ने ट्रांस साईबेरियन रेलवे बना कर चीन पर प्रभाव जमाया और जापान को नाराज किया। इसी प्रकार इंग्लैण्ड ने कैप–कैरो रेलमार्ग बना कर जर्मनी को नाराज कर दिया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.2.13. अन्तर्राष्ट्रीय संघ का अभाव :

प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने के समय आज की भांति कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था। आज विश्व में जहां कहीं भी विश्व शांति को संकट उत्पन्न करने वाली कोई घटना घटती है तो संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी मध्यस्थता से उसे समाप्त करने का प्रयास करता है, परन्तु उस समय इस प्रकार का कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था जो यूरोप में बीसवी सदी के आरम्भ से ही उत्पन्न हो रही अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता पर नियन्त्रण कर सकता था।

2.2.14. समाचार पत्र :

जनमत को प्रभावित करने–कराने मे समाचारों पत्रों का बड़ा हाथ रहा है। वे अपने राष्ट्रो की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है तथा विदशी राष्ट्रों की नीतियों का विश्लेषण करते है। इस समय तक यूरोप के देशो में समाचार पत्र पर्याप्त संख्या में प्रकाशित होने लग गये थे। जर्मनी के समाचार पत्रों ने जर्मनी के लोगो को मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध उकसाया था। उन समाचार पत्रों ने जर्मन युवकों में यह धारणा बिठा दी कि हम पर युद्ध थोपा जा रहा है और हम हमारे पवित्र उद्देश्य की रक्षार्थ युद्ध कर रहे है। जैसा कि हमें जर्मनी के चान्सलर बेथमैनहॉलवेग के युद्ध से पूर्व संसद में दिए गये भाषण से स्पष्ट होता हे। उसने जर्मन संसद में कहा था, 'रीश्टाग के सभ्य गण! मै पुनः सम्राट कैसर के ही शब्दों को दोहराना चाहता हूं। जर्मन इस युद्ध मे शुद्ध ह्रदय से पवित्र उद्देश्य की रक्षार्थ भाग ले रहा है। हम अपने शान्तिपूर्ण परिश्रम के फलों के लिए लड़ रहे है। हमारे महान् भूतकाल और उज्जवल भविष्य ने हमारे ऊपर भारी राष्ट्रीय दायित्व डाले है जिन्हें हमें अवश्य पूरा करना है। हमारे राष्ट्र की अग्नि परीक्षा होने जा रही है। चान्सलर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि इसमें जर्मनी एक आक्रमण के रूप में भाग नहीं ले रहा है वरन् उस पर यह युद्ध थोपा गया है। जब हम इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लार्ड एस्क्विथ के कथन को देखते है तो वह सर्वथा इसके विपरीत मिलता है। उसने 6 अगस्त, 1914 का अपनी कॉमन सभा में भाषण देते कहा था "यदि हमसे कोई पूछेगा कि हम ब्रिटिश लोग इस युद्ध मे क्यों भाग लेने जा रहे है तो मै केवल दो ही वाक्यो में उत्तर दूंगा। प्रथमतः हम एक पवित्र अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने के उद्देश्य से इस युद्ध में भाग ले रहे है। दूसरे हम इस सिद्धान्त की रक्षार्थ लड़ने जा रहे है कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय द्वारा छोटी जाति को कुचला नहीं जा सकता और शक्तिशाली राष्ट्र अपनी मनमानी द्वारा छोटे राष्ट्रों के साथ अन्याय नही कर सकते। एस्क्विथ के इस कथन से इंग्लैण्ड वाले यही धारणा बनाते है कि वे सत्य के मार्ग पर थे परन्तु इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाता है समाचार पत्रों से। आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या के बाद आस्ट्रिया के समाचार–पत्रों ने आस्ट्रिया के नवयुवकों का सार्बिया के विरूद्ध भड़काना। उधर सर्बिया के समाचार पत्रों ने उस हत्या को राष्ट्रीय महत्व देकर आक्रमण आस्ट्रिया का सामना करने के लिए अपने नवयुवकों को प्रोत्साहित किया। इतिहासकार भी सहमत है कि समाचार–पत्रों से युद्ध का वातावरण पैदा किया जाता है। इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों ने विलियम द्वितीय की आलोचना कर जर्मनी की जनता को अपना शत्रु बनाया तो जर्मनी के समाचार पत्रो ने इंग्लैण्ड की आलोचना कर वहां के लोगों को अपना शत्रु बनाया। फ्रांस और जर्मनी में कटुता फ्रांस के समाचार पत्रों ने उत्पन्न की। समाचार पत्रों में प्रकाशित उत्तेजक लेख भी युद्ध का वातावरण बनाने में सहायक सिद्ध हुए।

2.2.15. आस्ट्रिया की दमनकारी नीति और आस्ट्रियन युवराज की हत्या :

आस्ट्रिया और रूस के सम्बन्ध बिगड़ चुके थे सर्बियाराज्य रूस के संरक्षण मे था। अतः आस्ट्रिया सर्बिया को सबक सिखाना चाहता था। जर्मनी उसकी पीठ पर खड़ा था। इस कारण रूस से वह भयभीत नहीं था। यही कारण था कि जब आस्ट्रिया का राजकुमार आर्कड्यूक फ्रांसिस फडीनेण्ड बोस्निया के नगर सराजेवो में 28 जून, सन् 1914 को मार डाला गया तो आस्ट्रिया ने बोस्निया के प्रति बड़ा कड़ा रूख धारण किया। आस्ट्रिया के महामन्त्री बकटाड ने 23 जुलाई कोसर्बिया को चुनौती दी। अल्टीमेटम की शर्तें इतनी कठोर थी कि कोई आत्म सम्मानी राष्ट्र उन्हे स्वीकार नही कर सकता था। इसके अतिरिक्त सर्बिया को अल्टीमेटम का उत्तर देने के लिए केवल 48 घंटे दिये गये। इस पर भी सर्बिया ने अल्टीमेटन की शर्त के सारी शर्तें स्वीकार कर ली थी, परन्तु आस्ट्रिया इस समय जर्मन सेना की सहायता से गर्व के नशे में चूर था। उसने 28 जुलाई, सन् 1914 को सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर ही दी।

2.3 . युद्ध रोकने के प्रयास :

इंग्लैण्ड के विदेश मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे ने युद्ध रोकने के सर्वाधिक प्रयास किये। उसने प्रस्ताव रखा कि फ्रांस, जर्मनी, इटली व इंग्लैण्ड के राजदूत इंग्लैण्ड में मिले और आस्ट्रिया व सर्बिया के बीच में युद्ध को रोकने का प्रयास करें।, परन्तु जर्मनी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फे के मतानुसार यह जर्मनी की महान् भूल थी। इससे अन्य राष्ट्रों को यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी शांति नहीं चाहता था। 27 जुलाई को ग्रे ने जर्मनी से फिर अनुरोध किया कि वह अपने प्रभाव को काम में लेकर युद्ध को रोके। इसी समय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आस्ट्रिया के विदेश मन्त्री बर्चटोल ने सूचना दी कि आस्ट्रिया व सर्बिया एक दूसरे के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर चुके है। अतः अब समझौते के प्रस्ताव पर विचार न किया जावे। इस प्रकार समझौते के सारे प्रयास विफल हो गये।

2.4 युद्ध के आर्थिक प्रभाव

2.4.1 आर्थिक विनाश – इस युद्ध में 10 खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और जानमाल की परोक्ष हानि का तो कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। मार्च, 1915 तक इंग्लैण्ड का दैनिक खर्च औसतन 15 लाख पौण्ड, 1915–16 में 40 लाख, 1916–17 में 55 लाख और 1917–18 में 65 लाख पौण्ड होता और उसका राष्ट्रीय ऋण युद्ध के अन्त तक 7,080 लाख से बढ़कर 74,350 लाख पौण्ड हो गया। फ्रांस का राष्ट्रीय ऋण 3,41,880 लाख से बढ़कर 14,74,720 लाख फ्रेंक हो गया। जर्मनी का 50,0000 लाख से बढ़कर 16,06,000 लाख मार्क हो गया। इस प्रकार इस विशाल धनराशि को चार साल में दोनो पक्षों ने फूंक कर रख दी। सन् 1918 में संयुक्त राज्य अमेरिका की सारी सम्पत्ति इससे अधिक कीमत नहीं रखती थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति की कीमत भी इस विशाल धनराशि से कम थी। इसमें एक तिहाही खर्च जर्मनी और उसके साथियो का हुआ और दो तिहाई मित्र–राष्ट्रों का। महायुद्ध का औसतन दैनिक खर्च चालीस करोड़ रूपया था और 1918 के बाद में तो इस खर्च का औसत साढ़े तीन करोड़ प्रति घण्टा पड़ता था।

2.4.2 युद्ध ऋण :

इस असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणो की मात्रा में भी असाधारण रूप में वृद्धि हो गई। 1914 में दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों का कुल सार्वजनिक ऋण आठ हजार करोड़ था, 1918 में यह बढ़कर चालीस हजार करोड़ हो गया।

इसके अतरिक्त विभिन्न देशों को सम्पत्ति के विनाश के कारण भी कठिनाई उत्पन्न हुई। कुल मिलाकर तेरह हजार दो सौ करोड़ रूपयो की सम्पत्ति नष्ट हुई। इतने भारी धन–विनाश का प्रभाव यह हुआ, कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगी, मजदूरी की दर भी ऊँची बढ़ने लगी, पैदावार बहुत कम रह गई, मुद्रा की कीमत कम होने लगी। मित्र राष्ट्रों को युद्ध से होने वाले अपार खर्च के लिए संयुक्त राष्ट्र से भारी ऋण लेने पड़े।

2.4.3 व्यापार की नीति :

अरबों रूपयों के विनाश से राष्ट्रों के व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अब प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयत्न कर रहा था कि वह अन्य देशों से कम–कम माल खरीदे और उन्हे अधिक से अधिक माल बेचे।। ऐसा करने के लिए सरकार ने तटकरों में भारी वृद्धि की, जिसके कारण विश्व व्यापार और भी कम हो गया। युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका जापान तथा कुछ लेटिन अमेरिकी देशों ने उन बाजारों मे अपने पांव जमा लिये, जो पहले ब्रिटेन और जर्मनी के हाथों में थे। 1925 तक अमेरिका का विदेशी व्यापार युद्ध पूर्व के स्तर की अपेक्षा दुगना हो गया। युद्ध से पूर्व अमेरिका कर्जदार देश था, युद्ध के बाद वह संसार का प्रमुख कर्ज देने वाला राष्ट्र बन गया।

2.4.4 मुद्रा प्रसार :

महायुद्ध में अरबों रूपया खर्च किया गया। यह राशि किसी उत्पादक कार्य में न लगकर वियना में लगायी जा रही थी। युद्ध में न केवल धन पानी की तरह बह रहा था, पर साथ ही देश के कल कारखाने, रेलवे, जहाज व अन्य सम्पति का भी विनाश हो रहा था। इस स्थिति में विविध राज्य अपने अत्यन्त बढ़े हुए खर्चों को चलाने के लिए कर्ज लेने के लिए मजबूर थे। यह कर्ज चाहे देश के धनपतियों से लिया गया या विदेशों से। धन एकत्र करने के लिए करदाताओं पर और भी भारी करों का बोझ लादा जाने लगा। अपने ऋणों को चुकाने के लिए अनेक यूरोपीय राष्ट्रो ने विशाल मात्रा मे कागजी मुद्रा जारी कर दी, जिससे कीमतो में भारी वृद्धि हुई। कागजी मुद्रा का मूल्य बाजार में बहुत गिर गया। इस मुद्रा–स्फीति ने बचतों को समाप्त कर दिया। यूरोप के प्रायः सभी देशों में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित हो गया, जिसे दूर करने के लिए अनेक नये उपाय सोचने पड़े।

2.4.5 मजदूर आन्दोलन :

महायुद्ध के अवसर पर करोड़ों की संख्या में नवयुवकों के युद्ध में चले जाने के कारण श्रमिकों की कमी हो गई, लड़ाई में विजय के लिए जितनी आवश्यकता सैनिकों की थी, उतनी ही अस्त्र–शस्त्रों व अन्य युद्धोपयोगी सामग्री की भी थी। अतः मजदूरों की आवश्यकता बढ़ गई। परिणाम यह हुआ, कि मजदूर श्रेणी में अपनी महत्ता की एक नई अनुभूति उत्पन्न हुई। अतः मजदूर अधिक वेतन और कार्य के कम घण्टों की मांग करने लगें उन्होंने रहन–सहन में उन्नति, आराम के प्रबन्ध और व्यवसाय के संचालन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मे अधिकार प्राप्त करने की मांग आरम्भ कर दी। इन अधिकारो की पूर्ति के लिए अनेक संघों की स्थापना की और आन्दोलन का सहारा लिया। उन्होंने सरकार पर प्रभाव स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। राजनीतिक क्षेत्र में मजदूर दलों की स्थापना हुई, और धीरे–धीरे मजदूर श्रेणी का राज्य शासन में महत्व बढ़ने लगा।

2.4.6 राजकीय समाजवाद का विकास :

महायुद्ध से पहले ही साम्यवाद के विचार यूरोप में लोगों को प्रभावित करने लगे थे। पर व्यवसाय और व्यापार का संचालन अभी व्यक्तियों के हाथों में था, और प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा व साधनों के अनुसार जो काम चाहे कर सकता था। किन्तु महायुद्ध के समय आवश्यकता से विवश हो विविध राज्यों ने अनेक व्यवसायों का संचालन अपने हाथों में ले लिया। क्योंकि युद्ध के समुचित संचालन के लिए प्रत्येक देश में सरकार के आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण स्थापित करना उचित समझा। युद्ध के समय उन सब उद्योग धन्धों और व्यवसायों को, जो युद्ध के लिए आवश्यक थे, जैसे अस्त्र–शस्त्र निर्माण करने के कारखाने, कायला और लोहे की खाने, रेल तथा मोटर के व्यवसायों को राज्य ने अपने अधिकार मे ले लिया था। जिन उद्योग–धन्धों पर सरकार ने अधिकार नही किया था उन पर भी युद्ध की स्थिति के कारण नियन्त्रण रखने की आवश्यकता थी, अत: सरकार ने इन पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। इस प्रकार राज्यों का आर्थिक जीवन सरकार के अधिकार में आ गया और राजकीय समाजवाद की स्वयमेव स्थापना हो गई थी। युद्ध की समाप्ति पर साम्यवादी चाहते थे कि व्यवसायों पर अब भी राज्य का नियन्त्रण जारी रहे, और उद्योगपतियां को यह अवसर न दिया जाए, कि वे मनमाने तरीको से आर्थिक सत्ता का उपयोग कर सके। यद्यपि उन्हें अपने उद्देश्य से सफलता नहीं मिली, और व्यवसाय फिर से पूजीपतियों के हाथों में चले गये, पर राज्य का अनेक प्रकार से हस्तक्षेप जारी रहा और राजकीय समाजवाद के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। इसी हस्तक्षेप की परिपाटी पर रूस में साम्यवादियों को आर्थिक नियन्त्रण में सफलता प्राप्त हुई और जर्मनी में कालान्तर में राष्ट्रीय समाजवादी पद्धति का और इटली में फासीवाद का विकास हुआ।

2.5 युद्ध के सामाजिक प्रभाव :

2.5.1. अलपसंख्यकों की समस्या के समाधान का प्रयत्न :

पेरिस की शान्ति परिषद के सम्मुख यह समस्या विकट रूप से विद्यमान थी कि विदेशों में स्थायी रूप से निवास करने वाले इन अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा किस प्रकार की जाये। यह समस्या न केवल पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नए राज्यो के सम्बन्ध ा में थी अपितु आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की में भी थी। यहां भी बहुत से ऐसे लोग स्थायी रूप से बस गये थे, जो राष्ट्रीय दृष्टि से उस देश के नहीं थे। पेरिस की शान्ति परिषद ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि को भी इस बात के लिए विवश किया कि वे अपने राज्य में स्थायी रूप से निवास करने वाली अल्पसंख्यक जातियों की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की रक्षा करने की गारन्टी दे। किन्तु पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूनान, युगोस्लाविया और तुर्की आदि इस प्रकार में ही बात नहीं पड़ती, बल्कि उनके राज्यों में विशृंखलता भी उत्पन्न होती है। इन राज्यों की इच्छा यह थी कि अल्पसंख्यक जातियों को राष्ट्रीय दृष्टि से अपना अंग बनाया जाये। परन्तु ब्रिटेन तथा अमेरिका ने इस बात पर जोर दिया कि अल्पसंख्यक जातियों के हितों की पूर्ण रूप से रक्षा की जाये। इस विवाद के परिणामस्वरूप ही यह कार्य राष्ट्रसंघ को सौपा गया। राष्ट्रसंघ ने इन राज्यों के साथ अलग–अलग सन्धियां की, परन्तु इससे अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इन अल्पसंख्यकों में अपनी पृथकता की भावना बनी रही।

2.5.2. स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन :

महायुद्ध में सैनिकों की मांग उत्तरोतर बढ़ती रहने के कारण प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र के लाखों, पुरूष अपने–अपने कार्य को छोड़कर युद्ध में चले गये और उनकी जगह कार्योलयों, दफ्तरों, दुकानों, उद्योग धन्धों आदि में पुरूषों का कार्य स्त्रियां करने लगी। यहां तक की युद्ध क्षेत्र में भी उन्होंने घायल सैनिकों की सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार वे अपनी गृहस्थी के संकुचित जीवन से निकलकर समाज के आर्थिक जीवन मैजा पहुंची और उन्होने कठिन से कठिन काम करके अपनी क्षमता का परिचय दिया। इससे उनमें आत्मविश्वास बढ़ा और उन्हें समाज में अपने महत्व का भी ज्ञान हुआ। इससे उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। उन्होंने राजनीतिक अधिकारों की मांग की। इसी के परिणाम स्वरूप 1918 मे इंग्लैण्ड मे जनता का प्रतिनिधि नियम पास हुआ जिसके अनुसार 30 वर्ष से ऊपर की अवस्था वाली महिलाओं को मताधिकार प्रदान कर दिया गया। इसके बाद 1920 में जर्मनी तथा 1917 में रूस ने यह अधिकार स्त्रियों को प्रदान किये।

2.5.3. नस्लों की समानता :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक यूरोप के लोगों में अपने वर्ण और नस्ल की उत्कृष्टता की भावना अद्भुत प्रबल थी, ये लोग एशिया और अफ्रीका के काले, भूरे पीले रंग के लोगों को अपने से हीन समझते थे, परन्तु युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर भारत, जापान और अफ्रीका से सैनिक यूरोप भेजे गये तथा उन्होंने युद्ध में गोरे सैनिकों के समान ही शौर्य दिखलाया अतः यूरोपीय नस्लों की उत्कृष्टता का विचार निराधार साबित हुआ। सब नस्ले एक समान है, कोई उत्कृष्ट या हीन नहीं है इसे विचार द्वारा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सुख शान्ति की वृद्धि में सहायता मिली।

2.5.4. धार्मिक सर्वोच्चता का भ्रम नष्ट :

बहुत से लोगो के मन और हृदय पर प्रथम विश्व युद्ध का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। लोगो का यह विश्वास था कि केवल गम्भीरता धार्मिक भावना ही युद्ध की विभिषिका को रोक सकती है, किन्तु युद्ध की घटनाओं ने उनके इस विश्वास को तोड़ दिया युद्ध के समय में दोनों पक्षों चर्च अपने–अपने राज्य के पक्ष को न्यायसंगत व धर्मानुकूल बताते थे और ईश्वर से प्रार्थना करते थे, कि उनके पक्ष की विजय हो। फ्रांस, जर्मनी आस्ट्रिया सब ईसाई धर्म के अनुयायी थे। सबका ईश्वर एक–एक धर्म पुस्तक और एक धार्मिक सिद्धान्त थे इन देशों के पादरियों ने दुखी मानव जाति की समान सेवा करने के उद्देश्यों को छोड़ राजभक्ति से अभिभूत होकर सरकार के अच्छे बुरे सब कार्यों का समर्थन करना आरम्भ किया और जनता को यह भी कहना आरम्भ कर दिया, कि युद्ध में अपने राज्य का पूर्णरूप से समर्थन करना उनका सबसे बड़ा धार्मिक कर्त्तव्य है। ईसाई धर्म के नाम पर यही बाते दोनों पक्षों के पादरी कहा करते थे। धर्म और ईश्वर का यह कैसा वीभत्स उपहास था। विज्ञान की उन्नति के कारण पहले ही ईसाई धर्म के सम्बन्ध में एक प्रकार की सन्देह की भावना लोगों के मन में पैदा हो गई थी। युद्ध के समय मे यह प्रवृति और भी बढ़ गई। अब यूरोप में एक प्रकार की नास्तिकता की भावना जोर पकड़ने लगी थी।

2.5.5. शिक्षा एवं विज्ञान की हानि :

महायुद्ध के कारण शिक्षा को बहुत हानि पहुंची। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले नवयुवक अनिवार्य सैनिक सेवा के कारण बड़ी संख्या में युद्ध क्षेत्र में चले गये बहुत से अध्यापकों को भी पुस्तकें छोड़कर बन्दुके हाथ में लेनी पड़ी। शिक्षा के व्यय में कमी की गई, फलस्वरूप कई विश्वविद्यालय तथा कालेज बन्द करने पड़े। बहुत से विद्वान तथा वैज्ञानिक युद्ध में मारे गये। परन्तु इस क्षति का एक लाभ भी हुआ कि युद्ध के बाद वैज्ञानिकों ने अपनी सारी ताकत नये–नये आविष्कारों में लगा दी। विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में इस समय नये आविष्कार हुए और इससे मानव समाज प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ा।

2.5.6 विश्व संस्थाओ का विकास :

प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए कई विश्व–संस्थाओं की स्थापना की गई। मादक वस्तुओं के व्यापार को रोकने का प्रबन्ध किया गया, श्रमिकों के कल्याण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ तथा कानूनी प्रश्नों के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के कारण विश्व युद्ध के कारण विश्व की आर्थिक और सामाजिक अवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और आने वाले कई वर्षों तक इसकी क्षतिपूर्ति न हो सकी।

2.6 युद्ध के राजनीतिक प्रभाव :

2.6.1. एकतन्त्र शासन का स्थान प्रजान्तत्र ने लिया :

इस विश्व युद्ध ने विश्व में कई महान् परिवर्तन दिखाए। फ्रांस की राज्य–क्राति लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना के उद्देश्य से हुई थी, परन्तु उसके प्रभाव से यूरोप में एकतन्त्र शासन समाप्त नही हुआ। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तो एकतन्त्र शासन पर्याप्त विकसित हुआ था, परन्तु इस विश्वयुद्ध के प्रभाव से जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस और टर्की में एकतन्त्र शासन सामप्त हो गया और उसके स्थान पर वहां जनतन्त्र सरकारें स्थापित हो गई। आस्ट्रिया का हैप्सबर्ग, प्रशासन (जर्मनी) का होहेनत्सोलर्न और रूस का रोमेनोफ राजवंशों का अन्त हो गया। बल्गारिया का राजवंश भी अधिक दिन नहीं टिका। 1925 में टर्की के सुल्तान का भी एक तन्त्र शासन समाप्त हो गया और वहां रिपब्लिक की स्थापना हो गई। इनके अतिरिक्त चेकोस्लोवाकिया, लिथूनिया, लैटेविया, एस्थेनिया, पोलैण्ड, युक्रेनिया और फिनलैड देशो में भी जनतन्त्र सरकारे स्थापित की गई। इस तरह से हम देखते है कि प्रथम विश्व–युद्ध के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिणामस्वरूप एकतन्त्र शासन के समाप्त होने के साथ प्रजातन्त्र सरकारों की बाढ़ सी आ गई।

2.6.2. जनतन्त्र की विजय और राष्ट्रीयता का विकास :

युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय का अर्थ विश्व में जनतन्त्र की विजय से लिया गया। मित्र–संघ देशों ने केन्द्रिय शक्तियों के विरूद्ध युद्ध प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों पर लडा और यह प्रजातन्त्र की विजय का परिणाम था कि यूरोप के दस देशो में प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना हुई।

यह सत्य है कि प्रथम विश्व–युद्ध की अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाली एक शक्ति उग्र–राष्ट्रीयता भी थी, परन्तु युद्ध की समाप्ति पर भी उग्र–राष्ट्रवाद की भावना शिथिल नहीं पड़ी वरन् प्रबल हुई। युद्ध की समाप्ति पर यह स्वीकार कर लिया गया कि राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर होना चाहिए। युद्ध की समाप्ति पर नवीन राज्यों की स्थापना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर की गई। वे नवीन राज्य थे चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, लिथुनिया, लैटेविया, फिनलैण्ड, एथोनिया और हंगरी। निःसन्देह इन नवीन राज्यों के निर्माण से यूरोप का मानचित्र बहुत कुछ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार बन गया था। इस कारण यूरोप में राष्ट्रीयता और विकसित हुई। जर्मनी और इटली जब क्रमशः हिटलर और मुसोलिनी के प्रभुत्व में आये तो वहां राष्ट्रीयता ने और भी उग्र रूप धारण किया।

2.6.3. प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना :

जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि मित्र–संघ के राष्ट्रों ने प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर युद्ध लड़ा था, परन्तु वास्वत मे देखा जाये तो उनका यह सिद्धान्त केवल दूसरे देशों को अपनी और आकर्षित करने का एक साधन मात्र था। पेरिस सम्मेलन में इंग्लैण्ड और फ्रांस की वास्तविक मनोवृत्तियों का पता चल गया था। युद्ध के आरम्भ में इंग्लैण्ड की सरकार ने युद्ध समाप्ति पर भारत को औपनिवेशिक राज्य देने का वचन किया था, परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही भारत की राष्ट्रीयता को समाप्त करने के लिए इंग्लैण्ड की सरकार ने रोलेट एक्ट पास किया। इस एक्ट के अन्तर्गत 13 अप्रैल, सन् 1920 को जनरल डायर ने निहत्थे भारतवासियों पर जलियांवाला बाग में गोली चलवा दी। इस प्रकार से प्रजातन्त्र के सबसे समर्थक इंग्लैण्ड ने भारत में राष्ट्रीयता को कुचल डालना चाहा। सच पूछा जाय तो युद्ध के समय यूरोपीय देशों में सरकार असाधारण शक्तियां व अधिकार प्राप्त कर ले तो अनुचित नहीं था। युद्ध में सफलता प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक भी था। लेख, भाषण व प्रेस पर युद्ध के समय नियन्त्रण भी आवश्यक था, परन्तु युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी राजनीतिक नेता सुरक्षा और भलाई के बहाने अमर्यादित सत्ता व अधिकारों का उपयोग करते रहे। परिणामतः स्पेन व इटली में लोकसत्तात्मक शासन समाप्त हो गया और उसके स्थान पर एक वर्ग विशेष का शासन स्थापित हो गया।

2.6.4. नवीन वादों का सूत्रपात :

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर समाजवाद विकसित हुआ। सन् 1917 की क्रांति के रूप में साम्यवाद ने अपने पांव जमा ही लिये थे। इटली और जर्मनी मे युद्ध के उपरान्त भी व्यवस्था इस ढंग की रही कि वहां शान्ति स्थापित नहीं हुई। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी मे नाजीवाद और इटली में फासिस्टवाद ने जन्म लिया। नाजीवाद और फासिस्टवाद के प्रभाव में आ जाने से यूरोप में सैनिकवाद पुनः शक्ति मेंआ गया। रूस मे जो साम्यवाद प्रसारित हुआ, वह भी प्रथम विश्वयुद्ध का ही परिणाम था। जब रूस मे साम्यवाद सुदृढ़ता से जम गया तो वहां कल–कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। उनमें सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। इस प्रकार से युद्ध के पश्चात् अनेक वादो का आविर्भाव हुआ, जिनके कारण विश्व की राजनीति में अनेक परिवर्तन हुए।

2.6.5. सैन्यवाद तथा उपनिवेशवाद में वृद्धि :

प्रथम विश्वयुद्ध जर्मनी व आस्ट्रिया के बढ़ते हुए सैन्यवाद के विरूद्ध लड़ा गया था और पेरिस की सन्धि से भी यह स्पष्ट होता था कि अब सैन्यवाद पर अंकुश लगाया जावेगा। वर्साय की सन्धि ने जर्मनी की सैन्य–शक्ति को अवश्य नष्ट कर दिया परन्तु मित्र राष्ट्रों ने अपनी सैन्य–शक्ति में कमी नहीं की। इंग्लैण्ड, फ्रांस व बेल्जियम ने अपनी सेना व साम्राज्य की वृद्धि के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। 1922 में फ्रांस के सैनिकों की संख्या 7,70,000 से भी अधिक थी। उस समय यूरोप में फ्रांस की सैनिक शक्ति सर्वाधिक थी। वह कहीं भी हमला कर सकता था। उसकी शक्ति को रोकने वाला कोई नहीं था। निःशस्त्रीकरण पर विभिन्न स्थानों पर सम्मेलन अवश्य होते रहे परन्तु सेना में कमी किसी भी मित्र राष्ट्र ने की। इसके विपरीत उसमें वृद्धि ही होती रही। इसी प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

युद्ध की समाप्ति पर उपनिवेशवाद की दौड़ पुनः आरम्भ हो गई। फ्रांस ने एल्सेस व लारेन प्रदेश ही नहीं वरन् उसने राइन नदी के पश्चिमी जर्मन प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। अफ्रीका में स्थित जर्मन उपनिवेशों पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया। इसी प्रकार ब्रिटेन व बेल्जियम ने भी युद्ध समाप्ति पर अनेक उपनिवेश अधीनस्थ कर लिए। इटली ने जहां यूरोप में आस्ट्रिया से कुछ प्रदेश प्राप्त किये जो वह अफ्रीका में भी अपने उपनिवेशों की स्थापना की चिन्ता करने लगा। साम्राज्य व उपनिवेश विहीन राज्य अशक्त माने गये। अतः राज्यो में औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक था। परिणामतः युद्ध की समाप्ति पर सैन्यवाद व उपनिवेशवाद पुनः प्रबल हो गये।

2.6.6. अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास :

अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म भी प्रथम विश्व युद्ध से हुआ। इतिहासकारों की यह मान्यता है और वह सत्य भी है कि उन्नीसवीं शताब्दी राष्ट्रीयता की थी और बीसवीं शताब्दी अन्तर्राष्ट्रीयता की सदी रही। वर्तमान समय में तो अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास बहुत हो चुका है। इसको विकसित करने में प्रथम विश्व युद्ध ने बहुत सहयोग दिया। यह प्रथम अवसर था जबकि 32 राष्ट्रों ने एक साथ मिलकर शत्रु का सामना किया और एशिया, यूरोप और नई दुनिया के देश भी इस युद्ध में सम्मिलित हुए। युद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र संघ की स्थापना हुई, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व में और भी व्यापक होती चली गई। इसी के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ स्थापित किया गया। इस संघ के माध्यम से विश्व के श्रमिकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना सृजित हुई।

2.6.7. संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव बढ़ना :

यह प्रथम अवसर था जबकि अमेरिका यूरोप के मामलो में हस्तक्षेप करने को विश्व के रंग मंच पर उपस्थित हुआ। इस युद्ध मे संयुक्त राज्य अमेरिका ने सक्रिय भाग लेकर तथा केन्द्रीय शक्तियों को परास्त कर विश्व में अपनी धाक जमाई। सैनिक सहायता के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका ने मित्र–संघ के सदस्यों को आर्थिक सहायता भी दी। इस कारण अमेरिका विश्व मे एक प्रतिष्ठित साहुकार माना जाने लगा और विश्व के बहुत से राष्ट्र उसके कर्जदार हो गये।

राष्ट्रसंघ की स्थापना में भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने काफी सहयोग दिया परन्तु इसका परिणाम उसकी आन्तरिक अवस्था पर खराब पड़ा। विलसन के विरोध में वहां की सीनेट ने अविश्वास का प्रस्ताव पास किया। इस प्रकार अमेरिका की विदेश नीति परपुनः प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह सत्य है कि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य भी नही रहा तथापि अन्य राजनीतिक संगठनों व आयोगों में अपने सदस्य भेजता रहा तथा विश्व राजनीति को प्रभावित करता रहा।

2.6.8. शक्ति संतुलन सिद्धान्त की समाप्ति :

यद्यपि यह युद्ध संतुलन के सिद्धान्त पर लड़ा गया था, तथापि युद्ध के उपरांत यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सका। स्वयं मित्र राष्ट्रों ने ही इस सिद्धान्त की अवहेलना की। युद्ध के पश्चात इंग्लैण्ड साम्राज्यवाद में सबसे आगे निकल गया और वह विश्व की प्रथम शक्ति बन गया। इसके विपरीत धुरी–राष्ट्र परास्त होकर अत्यन्त निर्बल हो गये और वे मित्र राष्ट्रों का मुकाबला करने में सक्षम नहीं रहे।

2.6.9. राष्ट्रसंघ की स्थापना :

जैसा कि युद्ध के कारणों में स्पष्ट किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता भी युद्ध का एक कारण था और इसे निवारण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस युद्ध में 36 राष्ट्रों ने भाग लिया। इससे स्पष्ट था कि यह युद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के समाधान के रूप में लड़ा गया। अतः युद्ध के दौरान के विश्व के राजनीतिज्ञों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना के महत्व को समझ लिया था। इस और सर्वप्रथम अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विलसन का ध्यान गया। उसके प्रयत्नों से 10 जनवरी, 1920 को इसकी स्थापना हुई। 54 राष्ट्र इसके सदस्य बन पाये थे। 1920 से दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ तक इसी संघ में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल करने का प्रयास किया था।

2.6.10. आत्म निर्णय का अधिकार :

राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने आत्म निर्णय के सिद्धान्तों को जन्म दिया। इस सिद्धान्त ने भी नवीन राज्यों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, परन्तु यूरोप के कुछ भागों में विभिन्न जातियां परस्पर इतनी अधिक मिली–जुली बसी हुई थी कि आत्म निर्णय के सिद्धान्त के द्वारा भी राष्ट्रीय भावना सफल नहीं हो सकी तथा उन प्रदेशों में अल्पसंख्यक जातियों की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया। इसके विपरीत मित्र राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त को परास्त राज्यों से उनके प्रदेश अपहृत करने में प्रयोग किया।

2.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – मित्र राष्ट्र में कौन–सा राष्ट्र शामिल नहीं था?

(अ) फ्रांस (ब) रूस

(स) रोमानिया (द) टर्की

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – बाल्कन युद्ध पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – प्रथम विश्व युद्ध के कारण और परिणामों को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 3
बोल्शेविक क्रांति : कारण और परिणाम

3.0 भूमिका

3.1 क्रांति के कारण

3.1.1. जरशाही का निरंकुशता

3.1.2. सामाजिक असमानता

3.1.3. कृषकों की दयनीय दशा

3.1.4. श्रमिको का असंतोष

3.1.5 आर्थिक एवं सामाजिक विषमता

3.1.6. बौद्धिक क्रांति

3.1.7. तात्कालिक कारण

3.2 क्रांति के परिणाम

3.3 राजनीतिक परिणाम

3.3.1. साम्यवादी शासन की शुरूआत

3.3.2. रूस का युद्ध से पृथक् होना

3.3.3. मित्र राष्ट्रों की नाराजगी

3.3.4. रूस का विश्व शक्ति के रूप में उदय

3.3.5. राष्ट्रीयता का विकास

3.3.6. साम्यवाद का प्रसार

3.3.7. पराधीन राष्ट्रों में नवचेतना का संचार

3.3.8. यूरोप में तानाशाही शक्तियों का उदय

3.4 सामाजिक परिणाम

3.4.1. समानता की भावना का उदय

3.4.2. शिक्षा का विकास

3.4.3. स्त्रियों की स्थिति में सुधार

3.5 आर्थिक परिणाम

3.5.1. सामन्तों एवं पूँजीपतियों का सफाया

3.5.2. रोटी की समस्या का समाधान

3.5.3. रूस का औद्योगिक विकास

3.5.4. पंचवर्षीय योजनाएँ

3.5.5. वर्ग–संघर्ष की समाप्ति

3.5.6. श्रमिकों के जीवन–स्तर में सुधार

3.6 क्रांति का महत्त्व और प्रभाव

3.7 बोध प्रश्न

3.0 भूमिका :

1789 की फ्रेंच क्रांति के बाद विश्व इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना 1917 की बोल्शेविक क्रांति है। जहाँ फ्रेंच क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना का संदेश दिया, वहाँ बोल्शेविक क्रांति ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी समानता का संदेश दिया। इसके अतिरिक्त इस क्रांति ने मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान यह क्रांति ऐसी परिस्थितियों में हुई जबकि रूसी सेनाएँ जर्मनी के हाथों निरन्तर पराजित होती जा रही थीं। फिर भी, यह कहना कि महायुद्ध की पराजयों के कारण ही क्रांति का सूत्रपात हुआ, उचित नहीं होगा। हाँ, यह सही है कि महायुद्ध ने क्रांति की प्रक्रिया को तीव्र बना दिया था।

क्रीमिया युद्ध और रूस–जापान युद्ध में रूस की सैनिक पराजय के बाद जार के निरंकुश राजतंत्र को प्रबल आंतरिक विरोध का सामना करना पड़ा तथा विरोधियों को संतुष्ट करने के लिए सुधारों की योजना भी कार्यान्वित करनी पड़ी थी; किन्तु सुधारवादियों को इनसे संतोष नहीं हुआ और 1905 में क्रांति हो गई। 1905 की रूसी क्रांति में 1917 की क्रांति के सभी लक्षण प्रकट हो गये थे और क्रांतिकारियों को कुछ सफलता भी मिली, परन्तु उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण जार निकोलस ने स्टॉलिपिन की सहायता से फिर अपना प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित कर लिया था और महायुद्ध के आरम्भ तक निर्जीव ड्यूमा के अतिरिक्त क्रांति का कोई चिह्न बाकी नही रहा था। यह जार की सफलता थी, परन्तु क्रांति की आग बुझी नहीं थी। क्रांतिकारी अवसर की ताक में थे। दूसरी तरफ, जार निकोलस द्वितीय ने अपने शासन के अन्तर्गत समृद्ध हो रहे भ्रष्टाचार एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। महायुद्ध के आरम्भिक काल मे देशभक्ति के जोश में सामने क्रांति का जोश थोड़े समय के लिए दब अवश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गया, क्योंकि बहुत से रूसी नेताओं का मानना था कि इस समय निरंकुश जर्मनी–आस्ट्रिया हंगरी के विरूद्ध उदारवादी इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के साथ रूस का सम्मिलित होना, स्वयं रूसियों के लिए भी लाभदायक रहेगा। किन्तु जार का अयोग्य एवं भ्रष्ट शासन देशवासियो की राष्ट्रीय भावना का लाभ न उठा सका और 1917 की क्रांति ने रूस की निरंकुश जारशाही को समाप्त कर दिया और रूस को एक साम्यवादी देश बना दिया।

1917 में रूस में दो क्रांतियाँ हुई– पहली, मार्च 1917 तथा दूसरी, नवम्बर 1917 में। लिप्सन का मत है कि क्रांति तो एक ही थी, किन्तु इसके इकाई दो थे। क्रांति का राजनीतिक इकाई ''मार्च की क्रांति'' कहलाया जिसमें निरंकुश जार को सिंहासन छोड़ना पड़ा। क्रांति का दूसरा इकाई ''नवम्बर की क्रांति'' कहलाया, जिसे ''बोल्शेविक क्रांति'' भी कहते है और जिसके फलस्वरूप रूस में किसान–मजदूर का उदय हुआ।

3.1 क्रांति के कारण :

1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति के कुछ मौलिक कारण तो उसके पूर्व की एक शताब्दी के इतिहास के गर्भ में छिपे थे और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों ने रूस में व्याप्त असंतोष का एकाएक विस्फोट कर दिया था। क्रांति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

3.1.1. जरशाही की निरंकुशता :

रूस में जार का निरंकुश शासन था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के समय से ही रूस के जार स्वेच्छाचारी शासन एवं सम्राट के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। शासन की सम्पूर्ण शक्ति सम्राट में निहित थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने कुछ उदारवादी नीति का अवलम्बन किया था, किन्तु उसके उदारवादी दृष्टिकोण के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह पुनः प्रतिक्रियावादी बन गया। अंत में किसी आतंकवादी ने उसकी हत्या कर दी। उसके उत्तराधिकारी अलेक्जेण्डर तृतीय ने अपने पिता की हत्या के बाद अनुभव किया कि स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन के द्वारा ही सम्राट की सत्ता सुरक्षित रह सकती है। अलेक्जेण्डर तृतीय के पश्चात् निकोलस द्वितीय ने भी कठोर एवं दमनकारी नीति का सहारा लिया। उसी के शासनकाल में 1905 की क्रांति हुई तथा उसे ड्यूमा (संसद) के निर्वाचन की घोषणा करनी पड़ी। किन्तु ड्यूमा के हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नहीं थी। वह सम्राट के प्रति उत्तरदायी थी तथा उसका एकमात्र कार्य सम्राट को सलाह देना था। सम्राट स्वयं अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करता था और वही उन्हें पदमुक्त कर सकता था। सम्राट को अधिकार था कि वह ड्यूमा की सलाह को स्वीकार करे या ठुकरा दे। सम्राट ही जल और थल के सेना का सेनापति होता था। रूस के नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं थी। समाचार–पत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगे हुए थे। ऐसे जनविरोधी शासन के नीचे जनता कराह रही थी। क्रीमिया युद्ध और रूस–जापान युद्ध में रूस की अपमानजनक पराजय से रूस की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचा था। प्रथम विश्वयुद्ध में रूस को भारी क्षति उठानी पड़ रही थी और इन पराजयों के परिणामस्वरूप रूस के अयोग्य व भ्रष्ट शासन का पर्दाफाश हो गया। जनता स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की विरोधी हो गई। जनता का यह असंतोष अंत में क्रांति का कारण बना।

3.1.2. सामाजिक असमानता :

1789 के पूर्व जिस प्रकार फ्रांस में सामाजिक असमानता की स्थिति थी, ठीक वेसी ही उस समय रूस मे विद्यमान थी। रूसी समाज को दो भागों में विभाजित किया जा सकता था। प्रथम तो, अधिकारयुक्त वर्ग और दूसरा अधिकारविहीन वर्ग। अधिकारयुक्त वर्ग में सम्राट का कृपापात्र कुलीन वर्ग था जो सम्राट को स्वेछाचारिता एवं निरंकुशता को आवश्यक मानता था। यह वर्ग सम्पन्न व्यक्तियों का था तथा शासन के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर और अधिकांश भूमि पर इसी वर्ग का अधिकार था। अधिकारविहीन वर्ग में किसान और मजदूर थे जिनकी स्थिति दयनीय थी।

3.1.3. कृषकों की दयनीय दशा :

रूस एक कृषि प्रधान देश था। वहाँ कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय द्वारा 1861 ई. में कृषि–दासों की मुक्ति की घोषणा के उपरान्त भी कृषकों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। रूस मे उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक बीस हजार बड़े जमींदारों के पास लगभग 1800 लाख एकड़ भूमि थी, जबकि एक करोड़ से अधिक कृषको के पास केवल 1900 लाख एकड़ भूमि थी। रूस की समस्त कृषक जनसंख्या का एक तिहाई भाग भूमिहीन था। खेती पुरानी पद्धति से की जाती थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भूमिहीन कृषकों को जमींदारों की भूमि पर काम करना पड़ता था। इन्हे कई तरह के करों का भुगतान भी करना पड़ता था, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति अधिक चिंतनीय हो गई थी। कृषि दासों की मुक्ति का नियम भी रूस के सभी प्रांतों में लागू नहीं किया गया था। कृषकों को दोनों समय का भोजन भी उपलब्ध नहीं होता था। शासन द्वारा समय–समय पर स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया था किन्तु कृषकों की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। 1902 ई. में हारकोव और पोल्टावा के किसानों ने आंदोलन किया। पहले वे भूमिकर में कमी एवं सुविधा–अधिकारों की समाप्ति की माँग करते रहे किन्तु जब उनकी माँगों की अवहेलना की गई, तो वे अधिक उग्र हो गए। क्रांतिकारी समाजवादी दल ने इन कृषकों की स्थिति का लाभ उठाया और उन्हें शासन के विरूद्ध उत्तेजित किया। 1905 ई. में यूक्रेन के दक्षिण–पश्चिमी भाग, काकेशस, पोलैण्ड, वोल्गा नदी के क्षेत्र में कृषकों के विद्रोह हुए। 1905 ई. में समस्त कृषक प्रतिनिधियो का मास्को में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें ''रूसी कृषक संघ'' बनाने का निर्णय लिया। फलस्वरूप 1906 ई. के कानून में प्रत्येक कृषक को 'कम्यून' से अपनी भूमि अलग करने का अधिकार दिया गया। 1910 ई. के भूमि अधिनियम द्वारा कृषकों द्वारा कृषकों को अपनी भूमि का समेकीकरण करने का अधिकार दिया गया। इन कानूनों से कुछ ही कृषकों को लाभ हुआ किन्तु भूमिहीन किसानो की समस्या सुलझ नहीं सकी और कृषको की दरिद्रता में भी कमी नही हुई। ऐसी स्थिति मे कृषको का विद्रोही होना अवश्यंभावी हो गया।

3.1.4. श्रमिकों का असंतोष :

रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय के समय मे पश्चिमी यूरोप के प्रमुख राज्यों में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। यद्यपि इस समय रूस एक कृषि प्रधान देश था फिर भी औद्योगिक क्रांति का प्रभाव वहाँ दिखाई देने लगा। अलेक्जेण्डर तृतीय के समय में औद्योगिकीकरण की गति में तीव्रता आई। हजारों की संख्या में भूमिहीन कृषक इन औद्योगिक केन्द्रों पर रोजगार के लिए पहुँचे। उद्योगपतियों ने उनकी असहाय एवं दयनीय स्थिति का पूरा लाभ उठाया और उनसे न्यूनतम मजदूरी पर अधिक से अधिक कार्य लिया। इनकी मजदूरी इतनी कम थी कि उनका जीवन–निर्वाह कठिन होने लगा। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए वे अपने मालिकों से कुछ भी नहीं माँग सकते थे और न 'मजदूर संघ' ही बना सकते थे। 1885 ई. के बाद यद्यपि कुछ श्रमिक कानून बनाए गए लेकिन मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आया, क्योंकि शासन की नीति मूलतः उद्योगपतियो के हितों की रक्षा करने की थी। क्रांतिकारी समाजवादी दल ने मजदूरो की इस असंतोष का लाभ उठाकर उनमें समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया। फिशर के अनुसार, ''इस साम्यवादी प्रचार ने देश के श्रमिको में जारशाही के प्रति घोर असंतोष एवं घृणा उत्पन्न कर दी, जिसके कारण लोग जार के शासन का अंत करने के लिए क्रांतिकारियों का साथ देने लगे।'' मजदूर इस दल के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे अब संघर्ष के लिए तैयार थे। उद्योगों के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से मजदूरों में एकता की भावना भी शीघ्र उत्पन्न हुई। 1902–03 ई. से ही मजदूरों की हड़ताले आरंभ हो गई थी। 1905 ई. की क्रांति का आरम्भ भी मजदूरों के जुलूस से ही हुआ था। इस समय मजदूरों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उन्होंने सेन्ट पीटर्सबर्ग मे अपनी अलग सरकार बना ली। 1905 ई. के बाद सरकार ने मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। श्रमिक दुर्घटना क्षतिपूर्ति की व्यवस्था तो 1903 ई. में ही आरम्भ कर दी गई थी। 1912 ई. में स्वास्थ्य बीमा तथा दुर्घटना बीमा अधिनियम लागू किए गए किन्तु सुधारों से मजदूरों का असंतोष दूर नहीं हुआ। ये मजदूर पूँजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही की निरंकुशता को समाप्त कर 'सर्वहारा वर्ग' का शासन स्थापित करना चाहते थे।

3.1.5 आर्थिक एवं सामाजिक विषमता :

इस समय रूस की सामाजिक स्थिति वैसी ही थी, जैसी 1789 ई. से पूर्व फ्रांस की थी। समस्त रूसी समाज दो भागों में विभक्त किया जा सकता था– प्रथम, अधिकार युक्त वर्ग–जिसमें जार के कृपापात्र कुलीन लोग थे। ये लोग जार की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता को आवश्यक समझते थे। यह वर्ग बहुत सम्पन्न था। राज्य के अधिकांश महत्त्वपूर्ण वर्ग था। इसमें किसान तथा अधिकांश भूमि पर इन्होंने अधिकार कर रखा था। दूसरा वर्ग अधिकारहीन वर्ग था। इसमे किसान तथा मजदूर थे। इनकी आर्थिक स्थिति अत्यधिक दयनीय थी। इनको कुलीन वर्ग के अत्याचारों को भी सहना पड़ता था। दास–प्रथा की समाप्ति पर भी इस वर्ग की स्थिमि में कोई सुधार नहीं हुआ। इस प्रकार रूसी समाज मे भारी आर्थिक एवं सामाजिक विषमता थी। फलतः यह वर्ग–संघर्ष रूसी क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना।

3.1.6. बौद्धिक क्रांति :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रूस में कई वर्षो से पश्चिमी यूरोप के उदारवादी विचार प्रवेश कर रहे थे और जार तथा उसके प्रतिक्रियावादी पदाधिकारी उनका दमन करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे। फिर भी उदारवादी विचारों का यहाँ प्रसार हुआ। स्वयं रूस के टॉल्सटाय, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की आदि उपन्यासकारों ने भी रूसी जीवन की विफलताओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इनके विचारों से लोगों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई। शिक्षित वर्ग राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगा। इनके साथ ही कार्ल मार्क्स, मैक्सिम गोर्की और बाकुनिन के समाजवादी विचारों का भी देश के श्रमिकों एवं बुद्धिजीवियों पर प्रभाव पड़ा। देश में कई समाजवादी दल बन गए थे, जिनका प्रभाव कृषकों और मजदूरों पर बढ़ रहा था। इसी समय समाज में शून्यवाद का उदय हुआ, जिसने प्राचीन व्यवस्थाओं को मिटाने का प्रयत्न किया।

3.1.7. तात्कालिक कारण :

प्रथम विश्व युद्ध में रूस का प्रवेश एवं आर्थिक संकट– 1905 ई. में रूस जापान द्वारा पराजित हुआ, इससे जारशाही की स्थिति कमजोर हो गई। रूस में आंतरिक असंतोष बढ़ गया और सुधारों की माँग होने लगी। सम्राट सुधारों के पक्ष में नहीं था। रूस के असंतुष्टों ने 1905 ई. में क्रांति का प्रयास किया था। उन्हें कुछ सफलता भी मिली परन्तु उनके पारस्परिक मतभेदो के कारण जार निकोलस ने पुनः प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ कर दिया और महायुद्ध के आरम्भ तक रूस में निर्जीव 'ड्यूमा' के अतिरिक्त क्रांति का कोई चिन्ह बाकी नहीं रहा। अगस्त, 1914 ई. में रूस ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से भाग लिया था। उस समय बोल्शेविक दल के पाँच सदस्यों को छोड़कर संसद के सभी सदस्यों ने शासन के इस निर्णय का स्वागत किया था। यदि जार निकोलस योग्य होता और प्रशासन ईमानदार होता, तो ऐसी परिस्थिति में जनमत को राजभक्त बनाया जा सकता था। परन्तु इस समय भी रूस–जापान युद्ध के समय के इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। अतः जनता में असंतोष बढ़ता गया।

युद्ध के प्रारम्भिक काल में रूस की सेनाओ को कुछ सफलता अवश्य मिली, परन्तु कुछ ही समय बाद जर्मनी के विरूद्ध रूस की सेनाएँ पराजित होने लगी। सेनाओं को पर्याप्त मात्रा में अस्त्र–शस्त्र एवं खाद्य सामग्री नहीं मिल पा रही थी। यातायात व्यवस्था का पूर्ण विकास न होने के कारण समय पर रसद पहुँचाने में कठिनाई होती थी। सेना के अधिकारियो की अयोग्यता, प्रशासन के विभिन्न विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा साम्राज्ञी एवं प्रमुख सामन्तों का युद्ध कार्य में हस्तक्षेप आदि के कारण रूस की सेनाओं की लगातार पराजय हुई। युद्ध के प्रथम तीन वर्षो में एक करोड़ 50 लाख सैनिक युद्ध क्षेत्र में भेजे गए, जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गई और कृषि उत्पादन में गिरावट आई। खाद्य सामग्री के साथ–साथ अन्य वस्तुओं की भी कमी होने लगी। ऐसी स्थिति में जनसाधारण का असंतोष बढ़ना स्वाभाविक ही था। 1916–17 ई. के शीतकाल में रूस में घोर असंतोष व्याप्त था। उधर तो सेनाओं की निरन्तर हार के अपमान से जनता क्षुब्ध थी, इधर अनाज, ईंधन, कपड़े आदि की कमी होने लगी और देश में दुर्भिक्ष की आशंका उत्पन्न होने लगी। इस अवस्था के लिए जनता जार की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध को ही उत्तरदायी समझती थी।

3.2 क्रांति के परिणाम :

बोल्शेविक क्रांति के परिणामस्वरूप रूस के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए, साथ ही इस क्रांति ने विश्व के अनेक देशों को भी प्रभावित किया। संक्षेप में, क्रांति के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हुए–

3.3 राजनीतिक परिणाम :

3.3.1. साम्यवादी शासन की शुरूआत :

इस क्रांति के फलस्वरूप रूस में विगत तीन शताब्दियों से चले आ रहे रोमनोव राजवंश और राजतंत्र का अंत हो गया। रूस के अंतिम जार निकोलस द्वितीय एवं उसके परिवार के अनेक सदस्यो को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। राजतंत्र के स्थान पर रूस में साम्यवादी शासन व्यवस्था की स्थापना हुई।

3.3.2. रूस का युद्ध से पृथक् होना :

सत्ता हाथ में आते ही बोल्शेविकों ने सभी राष्ट्रों से युद्ध बन्द करने की अपील की। जब मित्र राष्ट्रों ने इस अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया तो लेनिन ने मित्र राष्ट्रो से पूछे बिना ही जर्मनी के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि करके रूस को युद्ध से पृथक् कर दिया। रूसवासियों के लिए युद्ध समाप्त हो गया और अब वे अपनी आर्थिक समस्याओं के समाधान में जुट गये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.3. मित्र राष्ट्रों की नाराजगी :

जब लेनिन ने मित्र राष्ट्रों से पूछे बिना ही जर्मनी के साथ संधि कर ली तो उनका नाराज होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि पूर्वी मोर्चे से निश्चिन्त होकर जर्मनी को अपनी सम्पूर्ण शक्ति का मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध पश्चिमी मोर्चे पर उपयोग करने का अवसर मिल गया। यदि इस नाजुक समय पर अमेरिका उनकी तरफ से युद्ध मे सम्मिलित नहीं हुआ होता तो मित्र राष्ट्रो को जीता हुआ युद्ध खो देना पड़ता। बोल्शेविकों के इस कार्य ने मित्र राष्ट्रों को सोवियत सरकार का विरोधी बना दिया और उन्होंने भी साम्यवादियो का तख्ता पलटने में कोई कसर बाकी न रखी।

3.3.4. रूस का विश्व शक्ति के रूप मे उदय :

क्रांति के बाद साम्यवादी शासन के अंतर्गत रूस ने इतनी अधिक उन्नति कर ली कि वह विश्व की एक प्रमुख शक्ति बन गया। तात्कालीन इतिहासकार पियर्स ने कहा था कि सोवियत रूस आधुनिक विश्व में एकसर्वाधिक शक्तिशाली व सबसे महान् राष्ट्र बनने लगा है।

3.3.5. राष्ट्रीयता का विकास :

जारकालीन रूस में राष्ट्रीय भावना का विशेष विकास नहीं हो पाया था। परन्तु इस क्रांति के उपरान्त रूसियों में राष्ट्रीय भावना उग्र रूप में प्रसारित हुई। प्रत्येक रूसी अपने राष्ट्र के लिए बड़ा–से–बड़ा त्याग करने में अपना गौरव समझने लगा। इसी राष्ट्रीय भावना के कारण दूसरे विश्व युद्ध में रूसियों ने जर्मनी से कड़ा मुकाबला किया और पूर्वी मोर्चे पर अंत में उसे बुरी तरह से पराजित किया।

3.3.6. साम्यवाद का प्रसार :

आधुनिक विश्व में साम्यवाद का प्रादुर्भाव एवं प्रसार इस क्रांति की देन है। इस क्रांति के द्वारा ही कार्ल मार्क्स के विचार प्रसारित हो रहे है। यद्यपि रूस में साम्यवाद का प्रभुत्व लगभग समाप्त होने को आया है, फिर भी अनेक देशों में आज भी साम्यवाद एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ताकत है और पश्चिम के देश का साम्यवाद से भयभीत है।

3.3.7. पराधीन राष्ट्रों में नवचेतना का संचार :

1917 की रूसी क्रांति ने एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों को अत्यधिक प्रभावित किया। क्रांति ने पराधीन देशों के लोगों में राष्ट्रीयता का संचार कर उन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध करने की प्रेरणा दी और ऐसे संघर्षों को सोवियत संघ ने अपना नैतिक समर्थन दिया। इससे प्रोत्साहित होकर अनेक पराधीन देशों के लोगो ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन को और तेज कर दिया। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को भी इस क्रांति ने प्रोत्साहित किया।

3.3.8. यूरोप में तानाशाही शक्तियों का उदय :

पश्चिम के पूँजीवादी देशो ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को कुचलने का हर संभव प्रयास किया। दूसरी तरफ, सोवियत सरकार ने भी पूँजीवादी ताकतो का डटकर मुकाबला किया। पूँजीवाद और साम्यवाद के इस संघर्ष ने तानाशाही शक्तियों को पनपने का अवसर प्रदान कर दिया। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फासिस्टवाद और हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में नाजीवाद का उदय हुआ। प्रारम्भ में स्थानीय पूँजीवाद एवं प्रतिक्रियावादी ताकतो ने साम्यवाद से भयभीत होकर तानाशाहों को सहयोग एवं समर्थन दिया। बाद मे पश्चिमी देशो ने साम्यवाद को रोकने की दृष्टि से तानाशाहों के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई, जिससे तानाशाहो की शक्ति एवं हौसला बढ़ता गया और संसार को दूसरे महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

3.4 सामाजिक परिणाम :

3.4.1. समानता की भावना का उदय :

सामाजिक असमानता इस क्रांति का एक मुख्य कारण थी। क्रांति के बाद रूस में एक नए समाज का उदय हुआ, जो समानता की भावना पर आधारित था। पुरानी सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो गई। पूँजीपति, भूमिपति, धर्माचार्य आदि तत्त्वों का उन्मूलन कर दिया गया। शासन सत्ता पर श्रमिकों एवं कृषक वर्ग का प्रभुत्व कायम हो गया। जारकालीन असमानता के सभी अवशेषों को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नष्ट कर दिया गया।

3.4.2. शिक्षा का विकास :

क्रांति के बाद रूस में शिक्षा के क्षेत्र मे भी अभूतपूर्व विकास हुआ। जारकालीन शासन व्यवस्था में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार एवं सुविधाएँ कुछ ही परिवारों तक सीमित थीं। क्रांति के बाद सरकार ने शिक्षा का काम अपने हाथ में ले लिया और नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था को लागू किया गया। परिणामस्वरूप 1930 ई. तक रूस की नब्बे प्रतिशत जनता शिक्षित हो गई।

3.4.3. स्त्रियों की स्थिति मे सुधार :

क्रांति के फलस्वरूप रूस की स्त्रियों की स्थिति में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आया। अब उनका कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी तक ही सीमित न रहा। वे कारखानो, सरकारी कार्यालयों और सेना में भी काम करने लगीं। आर्थिक दृष्टि से वे आत्मनिर्भर बन गईं और राजनीतिक क्षेत्र में वे पुरुषों के समान ही सक्रिय भाग लेने लगीं। रूसी स्त्रियों की स्थिति में जो सुधार आया, उसका प्रभाव एशिया और अफ्रीका की स्त्रियों पर विशेष रूप से पड़ा और वे भी राष्ट्रीय आंदोलनों में सक्रिय हुईं।

3.5 आर्थिक परिणाम :

3.5.1. सामन्तों एवं पूँजीपतियों का सफाया :

1917 की बोल्शेविक क्रांति के बाद सरकारी अध्यादेशो के अन्तर्गत पूँजीपतियो से उनके कारखाने छीन लिए गए और उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। पूँजीपतियों के स्थान पर अब श्रमिकों की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। इसी प्रकार, रूसी सामन्त प्रथा का भी सफाया कर दिया गया। उनकी जागीरें छीन ली गईं और भूमि को भूमिहीन किसानों में वितरित कर दिया गया। सामन्तों एवं पूँजीपतियों के सफाए से किसानों एवं मजदूरों के शोषण का अंत हो गया, क्योंकि क्रांति ने सभी प्रकार के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया था।

3.5.2. रोटी की समस्या का समाधान :

1917 की क्रांति का सूत्रपात रोटी की समस्या को लेकर हुआ था। इसके समाधान की दिशा मे पहला कदम रूस को महायुद्ध से अलग करने की दिशा में उठाया गया। इसके बाद सामन्तों से भूमि छीनकर उस भूमि को भूमिहीन किसानों में बांट दिया गया। युद्ध के दौरान धन–सम्पन्न लोगों तथा मुनाफाखोरों ने बहुत बड़ी मात्रा में खाद्य–सामग्री का स्टॉक जमा कर रखा था। बोल्शेविक सरकार ने इस प्रकार से जमा खाद्य–सामग्री को जब्त करके निर्धन मजदूरों में बाँट दिया। इसका परिणाम यह निकला कि खाद्य वस्तुओं के भावों में काफी गिरावट आ गई और लोगों को अब भोजन की व्यवस्था की चिंता से राहत मिल गई।

3.5.3. रूस का औद्योगिक विकास :

1917 की क्रांति के पूर्व औद्योगिक विकास की दृष्टि से यूरोपीय राज्यो की तुलना में रूस काफी पिछड़ा हुआ देश था, परन्तु क्रांति के बाद रूस ने इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की। बड़े–बड़े बिजलीघरों और कल–कारखानों को स्थापित किया गया। परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा इतनी अधिक हो गई कि रूस अपनी घरेलू आवश्यकताओं को पूरी करने के बाद उत्पादित माल का निर्यात करने की स्थिति में आ गया। वह आत्म–निर्भर औद्योगिक राष्ट्र बन गया।

3.5.4. पंचवर्षीय योजनाएँ :

लेनिन के आर्थिक सुधारो से रूसियों को राहत तो मिली, परन्तु वे अधिक उन्नति नही कर पाए थे। उसके बाद स्टालिन ने रूस का आर्थिक नक्शा ही बदल दिया। उसने अपने समय में दो पंचवर्षीय योजनाएँ चालू कीं। उनमे रूस को आशातीत सफलता मिली। परिणाम यह निकला कि रूस विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में आ खड़ा हुआ।

3.5.5. वर्ग–संघर्ष की समाप्ति :

औद्योगिक विकास के साथ ही वर्ग–संघर्ष भी बढ़ता जाता है अर्थात् उद्योगपति श्रमिकों का अधिक से अधिक शोषण करने की सोचता है और श्रमिक वर्ग अधिक से अधिक पारिश्रमिक तथा सुविधाओं की माँग करता है। इस प्रकार, दोनों में संघर्ष बढ़ता ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाता है, परन्तु क्रांति के बाद उद्योगपतियों और पूँजीपतियों का सफाया हो जाने से वर्ग–संघर्ष का भी अंत हो गया। कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और राष्ट्रीय सरकार 'सर्वहारा वर्ग' की सरकार थी।

3.5.6. श्रमिकों के जीवन–स्तर में सुधार :

1917 की क्रांति के पूर्व रूस का श्रमिक वर्ग अत्यधिक दयनीय स्थिति में जीवन–यापन करता था। शासन एवं समाज में उसकी कोई मान–मर्यादा एवं प्रतिष्ठा नहीं थी। उसे बहुत कम मजदूरी मिलती थी और गंदी बस्तियों में जानवरों की भाँति जीवन बिताना पड़ता था, परन्तु क्रांति के पश्चात् धीरे–धीरे उसे अपने विकास के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध होने लगे, जिससे उसका जीवन–स्तर भी उन्नत हो गया। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति ने श्रमिक वर्ग की मान–मर्यादा एवं प्रतिष्ठा को भी बढ़ा दिया।

3.6 क्रांति का महत्त्व और प्रभाव :

1917 ई. में रूस में दो क्रांतियाँ हुई। पहली थी मार्च की क्रांति, जिसने जार के निरंकुश शासन के स्थान पर उदारवादी सिद्धान्तों के आधार पर प्रजातंत्र की स्थापना की। किन्तु यह प्रजातांत्रिक प्रयोग सफल नहीं हो पाया और नवम्बर में दूसरी क्रांति हुई जिसे 'बोल्शेविक क्रांति' कहा जाता है। इस बोल्शेविक क्रांति ने रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित किया। बोल्शेविक क्रांति को मानव जाति के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना माना जाता है।

बोल्शेविक क्रांति के फलस्वरूप विश्व मे पहली बार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित शासन व्यवस्था कायम की गई, जिसने रूस की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन किया। सामन्तों, उद्योगपतियों और पूँजीपतियों को समाप्त कर दिया गया, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया और किसानों को उनकी आवश्यकतानुसार भूमि प्रदान की गई। रूस के आर्थोडक्स चर्च, जो कि प्रतिक्रिया का गढ़ था को बन्द कक्षे उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। जनता के अधिकारो का घोषणा–पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें जातीय उत्पीड़न के अंत, रूस की सभी जातियों की समानता, सर्वसत्ता, आत्मनिर्णय के अधिकार औ सभी जातीय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबंधों को समाप्त करने की घोषणा भी थी। बोल्शेविक शासन ने निजी लाभ की भावना को समाप्त कर दिया तथा उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग के लोगों का शोषण का अंत कर दिया। इन परिवर्तनों एवं सुधारों के फलस्वरूप रूस की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया और आगे चलकर रूस एक विश्वशक्ति के रूप में सामने आया।

लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल का जो निरंकुश शासन (जिसे सर्वहारा–वर्ग का अधिनायकत्व कहते हैं) स्थापित हुआ, उसके प्रभाव से कई देशों में निरंकुश सरकारों की स्थापना हुई। विश्व के कई देशों में साम्यवादी दलो की स्थापना हुई, जिन्हें रूस से निर्देशन एवं अनुदान प्राप्त होता रहता था, हालाँकि यह आश्चर्य की बात है कि लेनिन के सभी प्रमुख अनुयायी 'साम्यवादी आंदोलन' के पक्ष में नहीं थे।रूस की बोल्शेविक क्रांति की सफलता से पराधीन राष्ट्रों में साम्राज्यवाद विरोधी भावनाएँ तीव्र हो गई। एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों के लोगों ने अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अपने राष्ट्रीय आंदोलन तेज कर दिये। सोवियत सरकार ने इस प्रकार के आंदोलनों को हमेशा नैतिक समर्थन दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोल्शेविक क्रांति ने किसानो और मजदूरों की प्रतिष्ठा में वृद्धि की और उनके जीवन को उन्नत एवं सुखप्रद बनाने का पूरा–पूरा प्रयास किया। फलस्वरूप, दुनिया भर के मजदूरों में साम्यवादी विचारधारा लोकप्रिय होने लगी जिससे पश्चिम के पूँजीवादी देश भयभीत हो गये। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की दृष्टि से अब उन्होंने अपने–अपने देशों के मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए कई कदम उठाये और राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान मे 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन' की स्थापना की। इस संगठन के द्वारा संगठित मजदूरों की माँगो को संतुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने का प्रयास किया गया। अंत में, इस क्रांति ने एक ऐसे समाज और सरकार की घोषणा की, जिसका आधार और स्वरूप बिल्कुल नया था। विश्व के अनेक देशों में ऐसे नये समाज की स्थापना के प्रयास आरम्भ हुए और समाजवाद बीसवीं शताब्दी के लोकतंत्र का मुख्य आधार बन गया। यहाँ तक कि तानाशाह और सेनानायक भी अपनी शासन व्यवस्था को समाजवाद के साथ जोड़ने लगे।

किन्तु इस क्रांति से क्रांतिकारी नेताओं की सभी आकांक्षाएँ पूरी नही हो पाई। लेनिन को आशा थी कि रूस की क्रांति के पश्चात् पश्चिमी यूरोप में भी क्रांति भड़क उठेगी तथा सम्पूर्ण यूरोप में सर्वजारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जायेगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 1919 में 'कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल' की स्थापना भी की गई। परन्तु पश्चिम के पूँजीवादी देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विरूद्ध ऊँची–ऊँची दीवारे खड़ी कर दीं, ताकि उनके देश में 'साम्यवाद के रोगाणुओं' का प्रवेश न हो सके। स्वयं बोल्शेविकों द्वारा शुद्ध साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक एवं आर्थिक ढाँचा तैयार करने का प्रयोग भी सफल नहीं हुआ। फलतः परिस्थितियों के अनुसार उन्हें अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा।

3.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – बोल्शेविक क्रांति कब हुई ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – बोल्शेविक क्रांति के सामाजिक परिणामों पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – बोल्शेविक क्रांति के कारण और परिणामों को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई 4
वर्साय समझौता

4.0 भूमिका
4.1 राष्ट्रसंघ सम्बन्धी प्रसंविदा
4.2 प्रादेशिक व्यवस्था
4.3 सैनिक व्यवस्था
4.4 आर्थिक व्यवस्था
4.5 कानूनी व्यवस्था
4.6 अन्य व्यवस्थाएँ

4.7 वर्साय व्यवस्था का जर्मनी पर प्रभाव
4.8 वर्साय संधि की आलोचना
4.8.1. अपमानजनक एवं कठोर शते
4.8.2. एकपक्षीय समझौर्ता
4.8.3. आरोपित संधि
4.8.4. राजनीतिज्ञों की शांति
4.8.5. कमजोर राजनीतिक व्यवस्था
4.8.6. विश्वासघाती संधि
4.9 सामान्य समीक्षा
4.10 बोध प्रश्न

4.0 भूमिका :

7 मई, 1919 को फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंषों के नेतृत्व में राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को वर्साय संधि का प्रारूप सौप दिया। जर्मन प्रतिनिधि मण्डल अपने विदेश मंत्री वॉन ब्रोकडोर्फ–राजाओ के नेतृत्व में 30 अप्रैल को वर्साय पहुँचा था। जर्मन प्रतिनिधियों को 'ट्रायनन पैलेस होटल' में ठहराया गया और इस होटल को काँटेदार तारों से घेर दिया गया था। जर्मन प्रतिनिधियों को किसी देश के प्रतिनिधि अथवा पत्रकार से सम्पर्क स्थापित करने से मना कर दिया गया। इस प्रकार से उन्हें नजरबंद कैदियों की भाँति रखा गया। संधि के प्रारूप को तैयार देखकर जर्मन प्रतिनिधियों को बड़ी निराशा हुई। क्योंकि वे इस विश्वास के साथ आये थे कि संधि की शर्तें आमने–सामने के वार्तालाप के बाद ही तय होगी। जर्मन प्रतिनिधियों को कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर संधि प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें। संधि की शर्तो ने समस्त जर्मन–जनता को विचलित कर दिया। जर्मनी के राष्ट्रपति ने इन शर्तो को असह्य, घातक एवं पूर्ति के अयोग्य बताया। इस पर ब्रिटेन ने प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने धमकी भरे स्वर में कहा, ''जर्मन लोग कहते है कि वे संधि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात करते है। लेकिन हम लोग कहते है–महानुभावों! आपको इस पर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते है तो आपको बर्लिन मे करना ही होगा।' यह स्पष्टतः भावी आक्रमण की चेतावनी थी।

29 मई को जर्मन प्रतिनिधि मण्डल ने वर्साय प्रारूप से सम्बन्धित अपनी आलोचना मित्र राष्ट्रो को प्रस्तुत कर दी। मित्र राष्ट्रों ने प्रारूप में मामूली संशोधन स्वीकार कर लिये और संधि का प्रारूप वापिस लौटा दिया और यह धमकी भी दी गई कि यदि जर्मनी ने पाँच दिन के अंदर संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये तो पुनः युद्ध छेड़ दिया जायेगा। जर्मनी की तत्कालीन शिडमान सरकार ने संधि को अस्वीकार करते हुए त्यागपत्र दे दिया। अंत में गुस्टावबौर ने नई सरकार बनाई और संधि को स्वीकार किया। 28 जून, 1919 को नई सरकार के प्रतिनिधियों ने वर्साय के शीशमहल में संधि पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षर करने के बाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा, ''हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित है। मेरा देश दबाव के कारण आत्म–समर्पण कर रहा है, किन्तु वह यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।''

वर्साय की संधि में 15 भाग, 439 धाराएँ और 80,000 शब्द थे। इस संधि–पत्र में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान तथा उससे सम्बन्धित व्यवस्थाएँ भी सम्मिलित थीं।

4.1 राष्ट्रसंघ सम्बन्धी प्रसंविदा :

राष्ट्रसंघ का निर्माण पेरिस शांति सम्मेलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी और वर्साय संधि का एक अभिन्न अंग था। वर्साय संधि के प्रथम भाग का सम्बन्ध राष्ट्रसंघ के गठन से ही है।

4.2 प्रादेशिक व्यवस्था :

वर्साय संधि की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार निम्नलिखित व्यवस्था की गई थी।

1. आल्सेस–लोरेन के प्रदेश जर्मनी से छीनकर पुनः फ्रांस को दे दिये गये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. जर्मन आक्रमण से बेल्जियम को जो क्षति पहुंची थी, उसकी पूर्ति के लिए मार्सनेट, यूपेन और मालमेडी के जर्मन गाँव बेल्जियम को सौप दिये गये।

3. उत्तरी जर्मनी के श्लेसविग प्रान्त में जनमत संग्रह करवाया गया और उसके आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेन्मार्क को दे दिया गया। दक्षिणी श्लेसविग जर्मनी के पास ही रखा गया।

4. जर्मनी के सार प्रदेश पर राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता तो जर्मनी की ही मानी गई परन्तु उसकी शासन–व्यवस्था राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौपी गई। 15 वर्ष बाद, उस क्षेत्र के भाग्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा करने की व्यवस्था की गई। सार प्रदेश की कोयला खानो पर फ्रांस का स्वामित्व स्वीकार किया गया। यह व्यवस्था भी की गई कि यदि 15 वर्ष बाद सार की जनता जनमत संग्रह द्वारा जर्मनी के साथ मिलने की इच्छा व्यक्त करे तो जर्मनी, फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर इन कोयला खानो को पुनः खरीद ले।

5. जर्मनी को पूर्वी सीमा पर सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी। उसे पश्चिमी प्रशा, पोजन तथा साइलेशिया का एक बड़ा भाग पोलैण्ड को सौपना पड़ा। इस व्यवस्था से नवनिर्मित पोलैण्ड को बाल्टिक सागर तक एक गलियारा मिल गया परन्तु इससे पूर्वी प्रशा का जर्मन क्षेत्र शेष जर्मनी से अलग–थलक पड़ गया।

6. जर्मनी के डेन्जिग बन्दरगाह तथा नगर एवं उसके आसपास का 700 वर्गमील का क्षेत्र राष्ट्र संघ के नियंत्रण मे रखा गया और डेन्जिग को एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया। एक अन्य संधि के द्वारा उसे पोलैण्ड के साथ एक चुँगी संघ में शामिल कर दिया गया और इस क्षेत्र के वैदेशिक सम्बन्ध पोलैण्ड को सौप दिये गये।

7. जर्मनी के मेमल बन्दरगाह और उसके आसपास का क्षेत्र लुथिआनिया को दे दिया गया।

8. दक्षिण में जर्मनी को अपना एक छोटा–सा क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को सौपना पड़ा।

9. राइनलैण्ड प्रदेश में आगामी 15 वर्षो तक मित्र राष्ट्रों की सेना रखने का फैसला किया गया।

10. राइन नदी के बायें तट का तथा 50 किलोमीटर तक दायें तट का पूरी तरह से निःशस्त्रीकरण कर दिया गया। जर्मनी को अपने इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार की किलेबन्दी करने से मना कर दिया गया। ऐसा फ्रांस की सुरक्षा के आधार पर किया गया।

वर्साय की इस प्रादेशिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में 25,000 वर्गमील का क्षेत्र तथा लगभग 70 लाख नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। इसके अलावा उसे 65 प्रतिशत कच्चे लोहे, 45 प्रतिशत कोयले, 72 प्रतिशत जस्ते और 57 प्रतिशत रांगे के बहुमूल्यवान भण्डारों से हाथ धोना पड़ा।

11. जर्मनी का समस्त औपनिवेशिक साम्राज्य छीनकर राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में रख दिया गया। राष्ट्रसंघ ने जर्मन उपनिवेशों को अधिदेश पद्धति (मैडेट सिस्टम) के अन्तर्गत इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान को सौप दिया। इसके अलावा चीन के शाण्टुंग क्षेत्र में जर्मनी के सभी अधिकार जापान को सौप दिये गये। इस प्रकार, जर्मनी को 90 लाख वर्गमील की भूमि तथा एक करोड़ तीस लाख की जनसंख्या वाले उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा जिससे उसकी आर्थिक स्थिति पूरी तरह से लड़खड़ा गई।

4.3 सैनिक व्यवस्था :

फ्रांस की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए वर्साय व्यवस्था में जर्मनी की सैनिक शक्ति को पंगु बनाने का प्रयास किया गया। मुख्य व्यवस्था इस प्रकार की गई–

1. जर्मनी को अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त करने को कहा गया। यह व्यवस्था की गई कि 31 मार्च, 1920 के बाद कम–से–कम 12 वर्ष के लिए जर्मनी अपनी स्थल सेना में एक लाख से अधिक सैनिक नहीं रख सकेगा। यह शर्त भी रखी गई कि जर्मन सैन्य अधिकारियों को कम–से–कम 25 वर्ष तक और सैनिकों को 12 वर्ष तक सैनिक सेवा में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था भी की गई कि जर्मनी एक वर्ष की अवधि में 5 प्रतिशत से अधिक सैनिकों को नहीं हटायेगा। ऐसा करने का उद्देश्य जर्मनी द्वारा अधिक–से–अधिक लोगों को सैनिक प्रशिक्षण देने से रोकना था।

2. जर्मनी के प्रधान सैनिक कार्यालय को बंद कर दिया गया और उसकी पुनर्स्थापना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके साथ ही जर्मनी में अस्त्र–शस्त्र, गोला–बारूद तथा अन्य युद्ध–सामग्री का उत्पादन सीमित कर दिया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. सभी प्रकार के टैंकों, भारी तोपों, सैनिक गाड़ियों तथा लड़ाकू वायुयानों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मनी की वायुसेना को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया।

4. जर्मनी के नौसैनिक शक्ति को भी सीमित कर दिया गया। जर्मनी को अब 10 हजार टन के 6 युद्ध पोतों, 5 क्रूजरों, 12 विध्वंसक पोतों और 12 तारपीडो नौकाओं से अधिक रखने की मनाही कर दी गई। जर्मनी को पनडुब्बी रखने का निषेध कर दिया गया और मौजूदा पनडुब्बियाँ मित्र राष्ट्रों को सौपने अथवा उन्हें नष्ट करने को कहा गया। नौ–सेना के सैनिकों तथा अधिकारियों की संख्या 15,000 तक सीमित कर दी गई। नये लड़ाकू जहाज बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। हेलिगोलैण्ड बन्दरगाह की किलेबंदी पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मनी को बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्र तट पर किलेबंदी करने से भी मना कर दिया गया।

5. राइन नदी के बायें किनारे पर तथा दाये किनारे से 50 किलोमीटर भीतर तक के क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया। इस क्षेत्र में स्थायी अथवा अस्थायी तौर पर सेना रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस क्षेत्र में किलेबंदी का भी निषेध किया गया।

6. वर्साय संधि की निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओ का जर्मनी पालन कर रहा है अथवा नही, इसकी जाँच के लिए मित्र राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना की गई। इन आयोगों को व्यापक अधिकार दिये गये तथा इनकी व्यवस्था जर्मनी के व्यय पर की गई।

संक्षेप में, जर्मनी की सैनिक शक्ति को कुचल कर उसे कमजोर बनाने में मित्र राष्ट्रो ने कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस संदर्भ में ई.एच. कार ने लिखा है कि, ''जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं मिलता।''

4.4 आर्थिक व्यवस्था :

वर्साय व्यवस्था के अन्तर्गत जो आर्थिक व्यवस्था की गई, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं–

1. क्षतिपूर्ति का स्वरूप और कुल वसूल की जाने वाली धनराशि का अंतिम निर्णय का काम एक ''क्षतिपूर्ति आयोग'' को सौपा गया और उसे 1 मई, 1921 तक अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। आयोग को वार्षिक किस्तों की राशि तथा अदायगी का ढंग तय करने को भी कहा गया।

2. आयोग की रिपोर्ट आने से पहले जर्मनी को 5 अरब डालर मूल्य का सोना, जहाज, अमानत, माल आदि मित्र राष्ट्रों को अदा करने के लिए कहा गया।

3. आयोग की माँग करने पर जर्मनी को पाँच वर्षों तक मित्र राष्ट्रों को 20 लाख टन वजन तक जहाज बनाकर प्रतिवर्ष देने पड़ेंगे और यदि जर्मनी ऐसा नहीं कर पाता है तो आयोग को अपनी इच्छानुसार कार्यवाही करने का अधिकार होगा।

4. जर्मनी 1600 अथवा इससे अधिक टन भार ढोने की क्षमता वाले सभी व्यापारिक जहाज मित्र राष्ट्रों को सौप दे।

5. क्षतिपूर्ति के अंतर्गत जर्मनी फ्रांस को 70 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष के हिसाब से दस वर्ष तक देगा। इसी प्रकार, बेल्जियम को 80 लाख टन प्रतिवर्ष के हिसाब से और इटली को 45 लाख टन प्रतिवर्ष देगा। इस कोयले की कीमत सम्बन्धित राष्ट्र अदा करेंगे। कोयले की कीमत जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दी जायेगी। यह भी व्यवस्था की गई कि जर्मनी आगामी तीस वर्षो में फ्रांस को 30,000 टन अमोनिया सल्फेट; 35,000 टन बेल्जोल और 50,000 टन कोलतार देगा। इनका मूल्य भी क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दिया जायेगा।

6. युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों के जो क्षेत्र क्षतिग्रस्त हुए, उनके पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी ने आवश्यक मात्रा में मशीनें, औजार, पत्थर, ईट, लकड़ी का सामान, स्टील, सीमेन्ट, चूना आदि देने का वचन दिया। फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन– गाय, बैल, भेड़ें, बकरियाँ, घोड़े आदि देना भी स्वीकार किया।

7. जर्मन उपनिवेशों तथा मित्रराष्ट्रों में जर्मनी की जो सरकारी पूँजी थी, उसे जब्त करने की व्यवस्था की गई। मोरक्को, मिस्र और चीन में जर्मनी को जो व्यापारिक विशेषाधिकार मिले हुए थे वे सब समाप्त कर दिये गये।

8. जर्मनी को अपने पनडुब्बी–बेतार के तार मित्र राष्ट्रों को सौपने के लिए विवश किया गया।

9. स्विट्जरलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया, जो चारों ओर स्थल से घिरे हुए है, को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा देने की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टि से जर्मनी की एल्ब, ओडर, नीमन और डेन्यूब नदियों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी की विख्यात कील नहर को भी सभी देशों के जहाजों के लिए खोल दिया गया। चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी के बंदरगाहों हैम्बर्ग और स्टैडिन को उपयोग में लाने की सुविधा दी गई।

10. युद्धकाल में बेल्जियम ने मित्रराष्ट्रों से जो कर्ज लिया था, उस कर्ज का भार जर्मनी पर डाल दिया गया और उसे उस कर्ज के बराबर धनराशि बेल्जियम को चुकाने को कहा गया।

11. 1870–71 में फ्रांस–प्रशा युद्ध तथा प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन अधिकारी फ्रांस तथा बेल्जियम से जो विजयोपहार, अभिलेख, ऐतिहासिक स्मारिकाएँ या कलाकृतियाँ ले गये थे– वे सब लौटाने को कहा गया।

4.5 कानूनी व्यवस्था :

भूतपूर्व जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय को सार्वजनिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा संधियों की पवित्रता का उल्लंघन करने का दोषी ठहराया गया तथा उस पर मुकदमा चलाने के लिए पाँच न्यायाधीशों की एक विशेष अदालत कायम की गई। परन्तु नीदरलैण्ड की सरकार ने अपने राजनैतिक शरणार्थी (विलियम द्वितीय) को सौंपने से इन्कार कर दिया, इसलिए उसके विरूद्ध मुकदमा नहीं चलाया जा सका। परन्तु लगभग 100 जर्मनों पर सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाया गया। सुनवाई के बाद केवल 12 जर्मन अधिकारियों को दोषी पाया गया और उन्हें साधारण सजाएँ दी गई।

4.6 अन्य व्यवस्थाएँ :

युद्धकाल में जर्मनी और रूस के मध्य सम्पन्न ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि को अमान्य ठहराया गया। बेल्जियम, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई। जमनी को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को अपनी नई सीमाओं के अंतर्गत रखे। संधि की शर्तों को पूरा कराने के लिए राइन के पश्चिम स्थित जर्मन क्षेत्र में मित्रराष्ट्रों ने जून, 1930 तक अपनी सेनाएँ हटा लीं।

4.7 वर्साय व्यवस्था का जर्मनी पर प्रभाव :

वर्साय व्यवस्था ने जर्मनी को राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से पंगु राष्ट्र बना दिया। लैंगसम ने लिखा है कि, ''इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवाँ भाग और लगभग 70 लाख जनसंख्या कम हो गई; उसके सारे उपनिवेश, 15 प्रतिशत कृषि भूमि, 12 प्रतिशत मवेशी और 10 प्रतिशत कारखाने छिन गये। उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घटकर 5 लाख टन रह गये। इंग्लैण्ड से टक्कर लेने की क्षमता रखने वाली उसकी नौ–सेना बिल्कुल नष्ट हो गई और स्थल सेना भी एक लाख सैनिकों तक सीमित कर दी गई। उसे अपने कोयले के 2/5वें भाग से, लोहे के 2/3वें भाग से, जस्ते के 7/10वें भाग से तथा सीसे के आधे से अधिक भाग से वंचित होना पड़ा। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग–धन्धों और व्यापार को विनष्ट कर दिया। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ एवं तेल की भारी कमी का सामना करना पड़ा। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिये।'' वर्साय संधि से होने वाले इस महाविनाश को जर्मन जनता कभी न भुला सकी।

4.8 वर्साय संधि की आलोचना :

वर्साय की संधि का अलग–अलग लोगों के लिए अलग–अलग अर्थ है। एक ओर मित्रराष्ट्रों के पक्षपाती इसमें लोकतंत्र, राष्ट्रीय आत्म–निर्णय, न्याय, कानून का शासन और सैनिकवाद के विरूद्ध सुरक्षा की विजय समझते थे; दूसरी ओर कुछ लोग इसे प्रतिशोध की प्रवृत्ति, आर्थिक अवास्तविकता और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों पर जुल्म का प्रतीक समझते थे। वस्तुतः यह शांति संधि, आदर्शवादिता और नैतिकता दोनों का सम्मिश्रण थी और इसके साथ इसमें पुरानी शक्ति–प्रतिद्वन्द्विता का भी पुट था। इस संधि से जिन लोगों को लाभ हुआ उन्होंने इसमें राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के स्वप्न को साकार होते देखा और जिन्हें क्षति पहुँची, उन्होंने इसे दुःखपूर्ण एवं आरोपित संधि कहा।

लॉयड जार्ज ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि ''प्रस्तावित संधि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। इस संधि पर केवल वही अन्याय का आरोप लगा सकता है जो जर्मनी के युद्ध कार्यों को भी न्यायसंगत ही समझता हो।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गैथोर्न हार्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि "ऐसे आदर्श स्वरूप की शांति–संधि आज तक कभी नहीं की गई।" इसके विपरीत अनेक विद्वान् वर्साय संधि की कटु आलोचना करते है। लार्ड फिलिप स्नोडेन के अनुसार, "यह संधि लुटेरों, साम्राज्यवादियों और सैन्यवादियों को संतुष्ट कर देगी, परन्तु जो यह आशा लगा रहे थे कि युद्ध का अंत होने पर शांति का राज हो जायेगा, उनकी आशाओं पर तो इसने पाला डाल दिया। यह एक शांति संधि नहीं है, वरन् दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह लोकतंत्र के प्रति और युद्ध के शहीदों के प्रति विश्वासघात है।" पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "मित्रराष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे और वे पौण्ड भर मांस ही नहीं चाहते थे अपितु जर्मनी के अधमरे शरीर से खून की आखिरी बूँद तक ले लेना चाहते थे।"

वस्तुतः वर्साय संधि में अनेक दोष थे और संधि के निर्माता भी उससे अधिक संतुष्ट नही थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स ने तो स्पष्ट कहा था कि, "मैने संधि पर इसलिए हस्ताक्षर किया है कि मै युद्ध की स्थिति का अंत देखना चाहता हूँ।" राष्ट्रपति विल्सन ने भी स्वीकार किया कि यूरोप के मौजूदा उत्तेजित वातावरण में एक अच्छी संधि करना असंभव था। वर्साय संधि पर लगाये गये प्रमुख आरोप इस प्रकार है–

4.8.1. अपमानजनक एवं कठोर शर्तें :

वर्साय की संधि की शर्तें अत्यधिक कठोर एवं अपमानजनक थीं और उनकी पूर्ति होना असंभव था। संधि–निर्माताओं का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए पंगु बनाकर उसे एक सबक सिखाना था। लॉयड जार्ज ने स्पष्ट कहा था कि "इस संधि की ध ाराएँ युद्ध मे मृत शहीदों के खून से लिखी गई है। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।" इससे साफ जाहिर है कि संधि की शर्तें प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर बनाई गई थीं।। जर्मनी पर हर्जाने की विशाल धनराशि थोप दी गई जिसे वह अदा नही कर सकता था। उसे अपमानजनक रूप में निःशस्त्र किया गया जबकि मित्रराष्ट्र सशस्त्र बने रहे। उसके समस्त उपनिवेश छीन लिए गये। यूरोप में भी उसका बहुत बड़ा भू–भाग छीन लिया गया। 15 वर्ष के लिए उसका सार का प्रदेश भी ले लिया गया और युद्ध का सारा दोष उसके मत्थे थोपकर उसका प्रबल राष्ट्रीय अपमान किया गया। इसी प्रसंग में चर्चिल ने कहा था कि, "इतिहास इस लेनदेन को पागलपन की संज्ञा प्रदान करेगा।" ऐसी अपमानजनक एवं कठोर शर्तें दुनिया का कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता था और इससे मुक्त होने का एक ही रास्ता था, वह था भावी युद्ध में सफलता प्राप्त करना। इस प्रकार, वर्साय की संधि में द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज बो दिये थे।

4.8.2. एकपक्षीय समझौता :

वर्साय की संधि का एक प्रमुख दोष यह था कि इसकी शर्तें एकपक्षीय थीं। संधि की शर्तें मित्रराष्ट्रों द्वारा तैयार की गई थीं और जर्मन प्रतिनिधियों से विचार–विमर्श नहीं किया गया। उन्हें केवल हस्ताक्ष्जर करने अथवा युद्ध को पुनः छेड़ने की धमकी भरा आदेश दिया गया था। जर्मनी पर जो शर्तें लादी गईं उन शर्तों से मित्रराष्ट्रों को मुक्त रखा गया, जैसेकि –निःशस्त्रीकरण। इसी प्रकार, युद्धकाल में दोनो पक्षों के द्वारा क्रूर कृत्य किये गये परन्तु मित्रराष्ट्रों के पास उपनिवेश बने रहे। इस सम्बन्ध मे एडम्स गिबन्स ने लिखा है कि "पारस्परिकता के अभाव में वह एक शक्ति की शांति थी।"

4.8.3. आरोपित संधि :

वर्साय की संधि को एक आरोपित संधि कहा जाता है। यह संधि मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी पर थोपी गई थी। यह एक प्रकार का आदेश था जिस पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त जर्मनी के पास कोई विकल्प नहीं था। संधि पर विचार–विमर्श करना तो दूर रहा, हस्ताक्षर करवाने के लिए भी जर्मन के प्रतिनिधियों और अपराधियों की भाँति पहरे में लाया–ले जाया गया। इस सार्वजनिक अपमान से पीड़ित जर्मन जनता वर्साय संधि को प्रारम्भ से ही आरोपित संधि मानती रही और नैतिक दृष्टि से इसका पालन करने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव नहीं किया। इस संदर्भ में ई.एच. कार ने लिखा है, "इन अनावश्यक अपमानो के, जिनका औचित्य केवल यही हो सकता है कि युद्ध की तीव्र कटुता अब भी अवशिष्ट थी, जर्मनी में व अन्यत्र व्यापक मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए।" लॉर्ड ब्राइस ने भी ब्रिटिश संसद में कहा था कि "शांति केवल संतोष से ही हो सकती है किन्तु इन संधियो के परिणाम राष्ट्रों को असंतुष्ट बनाना है। फलस्वरूप इनके स्वाभावित परिणाम क्रांतियाँ और युद्ध होंगे।"

4.8.4. राजनीतिज्ञों की शांति :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्साय की संधि द्वारा स्थापित शांति की चर्चा करते हुए जनरल स्मट्स ने कहा था कि यह संधि राजनीतिज्ञों की शांति थी, जनसाधारण की नही। इस संधि मे नवीन जीवन का आश्वासन, महान् मानवीय आदर्शों, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा न्यायसंगत एवं श्रेष्ठ विश्व के निमित्त जन–आकांक्षाओं की पूर्ति का उल्लेख नहीं था। इसमें ऐसी प्रादेशिक व्यवस्थाएँ थीं जिनमें संशोधन की सख्त आवश्यकता थी। इसमें ऐसी क्षतिपूर्तियों का समावेश किया गया जिन्हे यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गंभीर हानि पहुँचाये बिना पूरा करना संभव नहीं था। इससे जनसाधारण को वास्तविक शांति उपलब्ध नहीं हो पाई। संधि के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने 'मूर्खतापूर्ण' कहा। मार्शल फौच ने तो भविष्यवाणी कर दी थी कि ''वर्साय की संधि शांति–संधि नहीं बल्कि बीस वर्षो के लिए एक युद्ध–विराम संधि है।'' उनकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

4.8.5. कमजोर राजनीतिक व्यवस्था :

वर्साय की संधि के परिणामस्वरूप यूरोप में जो एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था अस्तित्व में आई वह काफी कमजोर सिद्ध हुई। आत्म–निर्णय के आधार पर अनेक छोटे–छोटे नवीन राष्ट्रों का निर्माण किया गया। परन्तु इन राष्ट्रों के पास अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखने अथवा अपनी आंतरिक समस्याओ को हल करने योग्य साधन तथा सामर्थ्य नहीं थी। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, एस्थोनिया, लेटाविया, लिथुआनिया आदि राष्ट्र शुरू से ही अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरे रहे। हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया आदि देश काफी निर्बल हो चुके थे। इन छोटे राष्ट्रों के दोनों तरफ बड़े असंतुष्ट देश जर्मनी और रूस थे। चूँकि छोटे राष्ट्रों के पास इन बड़े राष्ट्रों का मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी अतः अवसर मिलते ही इन बड़े राष्ट्रो ने उन्हें हड़पने तथा उन पर हावी होने का प्रयत्न शुरू करके वर्साय की व्यवस्था को मृतप्रायः बना दिया।

4.8.6. विश्वासघाती संधि :

जर्मनी का कहना था कि उसने विल्सन के चौदह बिन्दुओं को आधार मानकर आत्मसमर्पण किया था परन्तु वर्साय की संधि ा में इनका उल्लंघन करके जर्मनी के साथ जबरदस्त विश्वासघात किया गया। विल्सन ने इस चौदह–सूत्री योजना के आधार पर शत्रु राष्ट्रों से संधि करने की अपील की थी। परन्तु जब तक जर्मनी को अपनी पराजय का पूर्ण विश्वास नहीं हो गया तब तक उसने विल्सन की अपील पर ध्यान ही नहीं दिया। चौदह सूत्रों के प्रति जर्मनी का रूख प्रारम्भ से ही नकारात्मक रहा और प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के साथ की गई ब्रेस्ट–लिटोवस्क की संधि और रूमानिया के साथ की गई संधि है। इन संधियों ने मित्रराष्ट्रों को क्रोधित कर दिया था और उन्होंने यह तय कर लिया था कि उनके हितों के लाभ की दृष्टि से चौदह सूत्रों मे आवश्यक संशोधन किए जायेंगे। अतः जब जर्मनी ने चौदह बिन्दुओं को स्वीकार किया तब तक चौदह सूत्रों का कायाकल्प हो चुका था।

4.9 सामान्य समीक्षा :

वर्साय की संधि प्रमुख प्रजातांत्रिक देशों के चुने हुए प्रतिनिधियो का काम था और जिन्होंने जहाँ तक संभव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। उसके कार्यों की आलोचना करने के पूर्व हमें उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था। यहीं पर हमारे सामने एक प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि क्या 1919 में निर्धारित की जाने वाली, किसी भी स्वरूप और चरित्र वाली संधि के द्वारा एक स्थायी शांति की व्यवस्था की आशा की जा सकती थी?

किसी भी प्रसंग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि 1919 को संसार अन्तर्राष्ट्रीय घृणा से ग्रस्त था, ऐसी घृणा जिससे संसार अभी तक अनभिज्ञ था। क्योंकि इससे पूर्व विश्वव्यापी पैमाने पर इतना भारी विनाशकारी महायुद्ध नहीं लड़ा गया था। इस विनाश ने मानव समाज की सम्पूर्ण बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और वह युद्ध को आहत करने वालों के सर्वनाश के लिए तैयार हो चुकी थी। इस नाते हम शांति संधियों को दोषी नहीं ठहरा सकते।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Lonavla

परन्तु दूसरे पक्ष के लोग वर्साय की संधि का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करते है। उनका कहना है कि शांति समझौते अस्थायी आश्वासनों से परिपूर्ण थे। वे यत्र–तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावकारी भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लैन्सिंग के शब्दों में, ''शर्ते अधिक कड़ी और अपमानजनक थीं और उनमें से अधिकांश शर्ते ऐसी थी जिन्हें कार्यान्वित किया जाना, मेरी दृष्टि में असंभव था।'' इसी प्रकार, कीन्स ने क्षति–पूर्ति की कठोर शर्तों के कारण ब्रिटिश मंत्रिमण्डल ने अपना त्यागपत्र देते हुए इसे ''नृशंसतापूर्ण प्रतिशोधात्मक शांति'' की संज्ञा दी। संधियों पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मट्स ने कहा था कि ''मैने संधि पर इस कारण हस्ताक्षर नही किए कि मै उसे समस्याओ का एक संतोषजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी–न–किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमने अब तक उस वास्तविक शांति को प्राप्त नहीं किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाये देख रहे है।''

शांति संधियों पर कई दोषों का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शांति व्यवस्था में उन कई आश्वासनों और सिद्धान्तों, जिनको ठीक ढंग से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था, को सम्मिलित करके बुद्धिमानी का काम नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, सैद्धान्तिक दृष्टि से जनता के आत्म–निर्णय के अधिकार की प्रशंसा की जा सकती है परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे इस सिद्धान्त ने जितनी समस्याओं का समाधान किया उससे कहीं अधिक नूतन समस्याओं को जन्म भी दिया और ये समस्याएँ प्रतिशोध लेने वाली राष्ट्रों के नारे बन गईं। इसी प्रकार, शांति व्यवस्था में मित्रराष्ट्रो ने अपने ऊपर जो प्रतिबंध लगाये थे और जिनको निभाना कठिन था, उन्हे सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिये था, जैसाकि निःशस्त्रीकरण। आर्थिक धाराओ की कठोरता की चर्चा हम कई बार कर चुके है। इन सबसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल धमकी के द्वारा किसी देश पर कोई भी संधि कारगर सिद्ध नहीं हो सकती।

4.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – वर्साय की सन्धि में कितने भाग, धाराएँ एवं शब्द थे ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – वर्साय सन्धि की सैनिक व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – वर्साय समझौते को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 5
इटली में फासीवाद

5.0 भूमिका
5.1 इटली और शान्ति समझौता
5.2 आर्थिक संकट
5.3 राजनैतिक संकट
5.4 इटली में एक फासिस्ट अधिनायक तन्त्र का जन्म
5.5 फासिस्ट कौन थे ?
5.6 फासिस्ट नेता मुसोलिनी
5.7 फासीवाद के स्रोत

5.8 फासिस्टों के उद्देश्य

5.8.1 जनता का असन्तोष

5.8.2 आर्थिक असन्तोष

5.8.3 राष्ट्रीयता पर आघात

5.8.4 हीगल के सिद्धान्तों का प्रचार

5.8.5 साम्यवाद का प्रभाव

5.8.6 राजनैतिक दलों की आपसी फूट

5.8.7 सरकार की अकर्मण्यता

5.9 बोध प्रश्न

5.0 भूमिका :

28 जुलाई 1914 को विश्व रंगमंच पर विध्वंशकारी नाटक आरम्भ हुआ। इस युद्ध में इटली अपने साथियों की ओर से युद्ध में शामिल नहीं हुआ। किन्तु 1915 में एक गुप्त सन्धि हुई जिसमें मित्रराष्ट्रों ने इटली को ट्रिस्टे, टाइरोल और अफ्रीका के कुछ उपनिवेश देने का वादा किया। इस प्रलोभन मे आकर 23 मई 1915 को इटली मित्रराष्ट्रो की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। युद्ध में उसे भारी हानि उठानी पड़ी, क्योंकि स्वयं इटली की तो औद्योगिक क्षमता थी नहीं, इंग्लैण्ड और फ्रांस से माल आता था। लीबिया युद्ध से अभी सम्भल नहीं पाया था कि विश्वयुद्ध में कूद पड़ा। इटली युद्ध के लिए तैयार नहीं था। उसने अपनी सुरक्षा व्यवस्था, इंग्लैण्ड और फ्रांस के खतरे से बचने के लिए की थी, क्योंकि जर्मनी और आस्ट्रिया तो उसके मित्र थे। अतः वह आस्ट्रिया के आक्रमण का मुकाबला न कर सका। इटली के सैनिक अधिकारी भी अयोग्य थे, जिससे इटली की निरन्तर पराजय होती गई। अक्टूबर 1917 मे केप्रिटो के स्थान पर इटली बुरी तरह पराजित हुआ और उसे बहुत ही अपमानित होना पड़ा। इस युद्ध में इटली मे छः लाख सैनिक मारे गये, दस लाख घायल हुये, 12 अरब डालर खर्च हुए तथा 3 अरब डालर की सम्पत्ति नष्ट हो गयी। इटली की जनता अत्यन्त ही क्रुद्ध हो उठी। अतः युद्ध की समाप्ति पर इटली के सैनिक जब स्वदेश लौटे तो उनका वहां कोई स्वागत नहीं किया गया।

5.1 इटली और शान्ति समझौता :

युद्ध की समाप्ति पर पेरिस में शान्ति सम्मेलन आरम्भ हुआ। यहां इटली ने अपने साथ किये गये धोखे को अनुभव किया। लन्दन की गुप्त सन्धि मे दिये गये वादे पूरे नहीं किये गये। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन का आदर्शवाद, सर्बिया की राष्ट्रवादी आकांक्षाएं और भूमध्यसागर में इटली के प्रभुत्व को स्वीकार करने में ब्रिटेन और फ्रांस की अनिच्छा के कारण इटली का प्रतिनिधिमंडल पूर्णतया निराश होकर पेरिस से लौटा। उसकी घोर निराशा फ्यूम से संबंधित थी। उसकी निराशा उपनिवेशो के संबंध में थी। अफ्रीका में जहां उसे एक साम्राज्य बनाने की आशा थी, ब्रिटेन, फ्रांस और बैल्जियम ने आपस में राष्ट्रसंघ की मेण्डेटो के रूप में बांट लिया। सेर्वे की सन्धि के अन्तर्गत स्मर्ना, जिसके लिये इटली ललचा रहा था, यूनान को दे दिया गया। 1912 में उसके अधिकार में चले आ रहे डार्डेक्नीज द्वीप की यूनान को प्रदान करने के लिए सहमत होना पड़ा। अतः इन शान्ति सम्मेलन से इटली को कोई लाभ नहीं हुआ। उसके अतिरिक्त इटली को अल्बानिया से सेना हटाकर उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। इटली के देशभक्तों ने इसे इतिहास का काला पृष्ठ कह कर विरोध किया। अतः पेरिस के शान्ति समझौते से इटली सन्तुष्ट नहीं था। उसे दुख तो इस बात का था कि युद्ध में इतने क्षति उठाने पर भी उसे कोई लाभ नहीं हो सका, जिसकी उसने आशा की थी।

5.2 आर्थिक संकट :

इटली शान्ति सम्मेलन से तो निराश लौटा ही था कि उसे युद्ध के कुप्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे। युद्ध की इटली पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुई। प्रथम बेरोजगारी की समस्या थी। युद्ध की समाप्ति पर सैनिकों की संख्या कम कर दी गई, जिससे सैकड़ों लोग बेकार हो गये। इधर अमेरिका ने 'इमीग्रेशन एक्ट' पास किया, जिससे इटली के लोगों का अमेरीका में प्रवेश रोक दिया गया। अतः बेरोजगारी की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई। युद्ध के बाद एक भयंकर आर्थिक संकट आया। मुद्रा का मूल्य 70 प्रतिशत गिर गया। बजट में घाटे की व्यवस्था रहने लगी, उत्पादन कम हो गया, जिससे लोगों को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भुखमरी व मूल्य वृद्धि का सामना करन पड़ा। बजट में घाटे की व्यवस्था के परिणामस्वरूप अधिक कर लगाये गये, किन्तु जनता उसे अदा नहीं कर सकी, जिससे राष्ट्रीय घाटा बढ़ने लगा। कीमतें बढ़ने लगी। यद्यपि वेतन में कुछ बढ़ोतरी की गयी, किन्तु वह कीमतों के अनुपात मे नहीं की गई। इस स्थिति में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा। साम्यवादियो के प्रोत्साहन से जगह–जगह हड़तालें होने लगी। इसके अतिरिक्त साम्यवादियों ने फैक्ट्रियों और औद्योगिक संस्थानों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया।

5.3 राजनैतिक संकट :

इटली की राजनैतिक स्थिति भी अच्छी नही थी। इटली कभी भी प्रजातान्त्रिक राज्य नहीं रहा था और न ही वहां ऐसी कोई प्रथा थी। केवल 1870 में वह एक नया राष्ट्र बना था तथा उसने इंग्लैण्ड की प्रजातान्त्रिक प्रणाली को अपनाया था। किन्तु सदियों से गुलाम रहने वाला इटली ऐसी प्रजातान्त्रिक प्रणाली को सम्भाल नही सका। यहां पर भी बहुपार्टी प्रथा थी। एक राजतनैतिक दल दूसरे राजनैतिक दल तथा एक नेता दूसरे नेता को समाप्त करने पर तुले हुये थे। किसी दल को संसद में बहुमत प्राप्त नहीं होता था, जिससे मिली जुली सरकारे बनती थी, जो स्थाई नहीं थी। 23 जून 1919 से 19 अक्टूबर 1922 तक राष्ट्र पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार नौकरशाही के नियंत्रण में थी, जो पूर्णतः भ्रष्ट थी। पूंजीपतियों का सरकार पर पूर्ण प्रभाव था। अतः मध्यम एवं गरीब वर्ग की जनता निराश और असन्तुष्ट थी। सरकार इतनी कमजोर व शक्तिहीन थी कि, डी–एनुन्जो, जो कि एक कवि था, कुछ स्वयं सेवकों को लेकर फ्यूम पहुंच गया और उस पर अधिकार कर लिया। यूगोस्लाविया ने इसका घोर विरोध किया, किन्तु इटली की सरकार अपने ही आदमियों को वहां से हटाने में असमर्थ रही। नवम्बर 1920 मे इटली को यूगोस्लाविया के साथ रेपेलो की सन्धि करनी पड़ी, जिसमें इटली को अपने सभी दावे समाप्त करने पड़े। उसको यह भी स्वीकार करना पड़ा कि फ्यूम का स्वतंत्र नगर घोषित कर दिया जाय। इटली के राष्ट्रवादियों ने इस समझौते के कारण सरकार की दुर्बलता की भर्त्सना की। रैपेलों की सन्धि इटली का राष्ट्रीय अपमान था, अतः लोग सरकार का विरोध करने लगे। इटली मे लूटपाट होने लगी, कानून तोड़ने वालो के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। किसानो ने भूमि कर देना बन्द कर दिया। कारखानों पर मजदूर अपना प्रभाव जमा रहे थे। अतः वर्साय की सन्धि के बाद इटली अत्यन्त की कष्टप्रद स्थिति से गुजर रहा था।

ऐसी कष्टप्रद स्थिति को समाप्त करने के लिए तथा इटली को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिये इटली मे फासिज्म अथवा फासीवाद का उत्कर्ष हुआ, जिसका नेता मुसोलिनी था। फासीवाद वस्तुतः इटली में किसानों और मजदूरो की साम्यवादी क्रान्ति को विफल बनाने के लिए जमींदारों और पूंजीपतियों द्वारा समर्थित और सहायता पाने वाला आन्दोलन था।

5.4 इटली में एक फासिस्ट अधिनायक तन्त्र का जन्म :

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इटली के नगरों में एक नारा सुनाई पड़ता था। लेनिन चिरंजीवी हो। रूस की तरह वहां भी मजदूर कारखानों पर स्वामित्व प्राप्त करना चाहते थे और किसान जमीनों को छीन रहे थे। परन्तु इटली साम्यवादी नहीं बना। अनुभव शून्यता और कच्चा माल प्राप्त करने मे असमर्थता के कारण विवश होकर मजदूरों ने छीने हुए कारखानों को छोड़ दिया। इस समय लोगो के कुछ गिरोह ने, जो अपने आप को फासिस्ट कहते थे, यह घोषणा की कि वे इटली की साम्यवाद से रक्षा करेंगे। 'फासिस्ट' शब्द उस नाम से बना है, जो प्राचीन रोमनों ने न सरकार के अधिकार और शक्ति के एक प्रतीक का रखा था। यह प्रतीक युद्ध के फरसे के चारों और लिपटी हुई छड़ो की एक गड्डी के रूप में है।

5.5 फासिस्ट कौन थे ? :

इनमें से बहुत से तो युद्धो मे लड़ चुके थे, जिन्होंने युद्ध से लौटकर देखा था कि मुनाफाखोर व्यक्ति धनवान हो रहे है, कीमते बढ़ रही है, कारखाने बन्द हो रहे है और नौकरियों का मिलना लगभग असम्भव हो गया है। बहुत से उग्र राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी थे जो इस बात से नाराज थे कि इटालियन लोगों को शान्ति सन्धियों में उतना लाभ प्राप्त नहीं हुआ, जितना कि उन्हें वचन दिया गया था। कुछ सैन्यवादी थे, जो अपेक्षाकृत बड़ी सेना तथा अधिक राजनीतिक प्रभाव चाहते थे। कुछ लोग इसलिए फासिस्ट बन गये, क्योंकि वे इटली की युद्धोत्तर गड़बड़ियों के लिए घूसखोर, निकम्मी संसदीय सरकार को दोषी ठहराते थे। फासिस्ट आन्दोलन के समर्थन के लिए अधिकांश धन धनी व्यवसायों और जमींदारों से प्राप्त हुआ। वे साम्यवाद की आंशका से डरे हुए थें वे इटली के असन्तुलित बजट, सस्ती कागजी मुद्रा, घटते हुए विदेशी व्यापार से चिन्तित थे। फासिस्टवाद सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा का, प्रबल राष्ट्रवाद,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सैन्यवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक था।

5.6 फासिस्ट नेता मुसोलिनी :

विचित्र बात यह है कि समाजवादियों से घृणा करने वाले फासिस्टों का नेता एक समय समाजवादी रहा बेनिटो मुसोलिनी था। किसी समय उसने हिंसापूर्वक पूंजीवाद को उखाड़ फैकने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र का प्रचार करने वाले, और साम्राज्यवाद सैन्यवाद और राष्ट्रवाद की निन्दा करने वाले सम्पादकीय लेख लिखे थे। उसने मिलान से पोपोलो डी इटेलिया नामक दैनिक समाचारपत्र मे ऐसे उत्तेजक लेख लिखे, जिसके कारण इटली मई, 1915 में मित्र राष्ट्रों की और से युद्ध में सम्मिलित हो गया। 1916 में मुसोलिनी भी एक साधारण सैनिक के रूप में युद्ध क्षेत्र में गया था, किन्तु कुछ माह बाद गम्भीर रूप से घायल हो जाने के कारण उसे वापस भेज दिया गया।

मुसालिनी के आदर्श नायक जूलियस सीजर और नेपोलियन थे। यह छोटा, भेजा व्यक्ति जिसकी छाती ढोल जैसी थी और जिसका जबड़ा आगे को निकला हुआ था जन समुदाय के सामने भाषण देते हुए बड़ी नाटकीय मुद्राएं बनाता था। उसकी बाहें मुडी हुई मुख पर क्रोध का आवेश, और दमकती हुई आंखे, तब उसके मुख से शब्द ऐसे निकलते थे जैसे मशीनगन से गोलियां छट रही हो। इन सबके द्वारा वह अपने श्रोताओं को भावाद्वेलित कर देता था। वह जन समर्थन प्राप्त करने के लिए सब वर्गों को सब चीजों का वचन दे देता था।

इटली की युद्धोत्तर काल की कठिन परिस्थितियो के कारण मुसोलिनी को फासिस्ट संगठन स्थापित करने का अवसर मिला। मुसोलिनी ने स्वयं लिखा था कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद के दो वर्ष मुझे इटली के जीवन के सर्वाधिक अन्धकारपूर्ण एवं कष्टदायक प्रतीत हुए। पेरिस के शान्ति सम्मेलन के असन्तोषजनक निर्णय और उसके साथ देशों की लगातर बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति, बेरोजगारी अशान्ति और अराजकता तथा साम्यवादी क्रांति के भय के कारण जनता के विभिन्न वर्ग सरकार के विरोधी हो गये। उन्हें निर्बल एवं अकर्मण्य प्रजातन्त्रीय सरकार से किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही। ऐसी स्थिति मे मुसोलिनी ने, 23 मार्च 1919 को मिलान नगर में फासियों डी कम्बेटिमेन्टा यापासी की स्थापना की। मिलान की पहली सभा में केवल 54 व्यक्तियों ने जिनमें अधिकांश पूर्व सैनिक तथा उग्रविचारों के कट्टर राष्ट्रवादी थे, इस संगठन में सम्मिलित होना स्वीकार किया।

फासीवाद की व्याख्या करते हुए मुसोलिनी ने लिखा है – फासीवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किये जाने की आवश्यकता के कारण हुआ है, अतः फासीवाद सैद्धान्तिक होने के स्थान पर आरम्भ से ही व्यवहारिक रहा है।''

मेरीयन आइरिश के मतानुसार ''अपने विकसित रूप में फासीवाद एक देश का शासन है जिस पर तानाशाह का नियन्त्रण रहता है यह तानाशाह सर्वाधिकार पूर्ण राज्य की स्थापना करता है। फासीवाद के अन्तर्गत उन्नीसवी शताब्दी के राजनीतिक राष्ट्रवाद का बीसवी शताब्दी के आर्थिक समष्टिवाद के साथ समन्वय रहता है। मुसोलिनी ने एक महत्वपूर्ण बात यह कही थी कि हम फासिस्टों में परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तवादियो की मान्यताओं को तोड़ने का साहस है। हम कुलीनतन्त्रवादी भी है। क्रांतिकारी भी है और प्रतिक्रियावादी भी श्रमजीवी भी है और श्रमिक विरोधी भी शान्तिवादी भी है। इतना ही काफी है कि हम लोगो का एक दृष्टि बिन्दु है – राष्ट्र और सब बातें बाद की।''

5.7 फासीवाद के स्रोत :

फासीवाद कोई मौलिक दर्शन नही है। यह अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का मिश्रण है। वास्तव में यह एक विरोधी दार्शनिक विचारधारा है और अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का विरोध करती है। फासीवाद अवसरवादी थे। वे कार्य में विश्वास करते थे बात में नही। मुसोलिनी डार्विन से अधिक प्रभावित था। डार्विन के अनुसारजो जीवन संघर्ष की प्रतिस्पर्धा में ठहर नहीं सकते वे नष्ट हो जाते है। जीवन संघर्ष से भरा हुआ है। फासीवाद का मुख्य स्रोत बुद्धि विराधवाद है। फासीवाद में इसको ग्रहण किया है क्योंसम्पूर्ण मानव जाति पूर्ण रूप से बुद्धिमान नहीं हा सकती। फासीवाद का आधार परम्परावाद भी है। इसी विचारधारा के आधारपर फासीवादियों ने उग्र–राष्ट्रवाद का निर्माण किया। फासीवाद हीगल के आदर्शवाद से भी प्रभावित है।

इस प्रकार फासीवाद विरोधीवादों का मिला–जुला वाद था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.8 फासिस्टों के उद्देश्य :

फासीवाद व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद, उदारवाद और लोकतन्त्रवाद का कट्टर विरोधी था। वह राज्य को सर्वश्रेष्ट मानता था। राज्य के भीतर सब कुछ है राज्य के बाहर कुछ नहीं राज्य के विरूद्ध कुछ भी नहीं है।'' फासीवाद दल नेता और एक शासन में विश्वास रखता था। यह युवकों को आह्वान देता था – विश्वास करो, आज्ञा मानो और लड़ो।

फासिस्टों के मुख्य उद्देश्य थे – राज्य की शक्ति एवं सत्ता को बढ़ाना, निजी सम्पति की रक्षा, शक्तिशाली सैन्य संगठन, साम्यवाद का विरोध, शक्तिशाली विदेश नीति, व्यापार व उद्योग धन्धों की रक्षा आदि।

फांसीवाद के उदय एवं उत्कर्ष के निम्नलिखित कारण थे –

5.8.1 जनता का असन्तोष :

पेरिस के शान्ति सम्मेलन के बाद इटली ने स्वयं को असन्तुष्ट राज्यो की श्रेणी में पाया। लन्दन की गुप्त सन्धि में जो प्रदेश उसे देने को कहा गया था पेरिस सम्मेलन में उनमें से अधिकांश उसे प्रदान नहीं किये गये। इटली को इस बात से विशेष दुख हुआ कि फ्रांस को 60 लाख आबादी वाली 2 लाख 53 हजार वर्ग मील भूमि मिली और ब्रिटेन को 90 लाख से अधिक आबादी वाली 9 लाख 90 हजार वर्ग मील भूमि ही प्राप्त हुई। फ्यूम के न मिलने से तो जनता में अत्यधिक असंतोष था। इसी असंतोष के कारण डी–एनुन्जो को वीरता से इटलीवासी बहुत प्रभावित हुये। जनता ने इटली की कमजोर स्थिति के लिये सरकार को उत्तरदायी ठहराया। फासिस्ट दल ने जनता में यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि सरकार की अयोग्यता के कारण हमें फ्यूम नगर छोड़ना पड़ा है। फासिस्ट दल के इस प्रचार से युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक भी फासिस्ट दल में सम्मिलित हो गये। इससे फासिस्ट दल की शक्ति में वृद्धि हो गई तथा जनतंत्रीय सरकार बदनाम हो गई। इस प्रकार संसदीय शासन के स्थान पर शक्तिशाली तानाशाही शासन स्थापित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

5.8.2 आर्थिक असन्तोष :

विश्वयुद्ध के कारण इटली को अपार जन–धन की हानि उठानी पड़ी थी। उसने अपनी सेना तथा युद्ध सामग्री पर बहुत व्यय किया था। इससे उसका राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया तथा देश के उद्योग एवं व्यापार अव्यवस्थित हो गये। मुद्रा का मूल्य गिरने लगा और बेरोजगारों की फौज खड़ी हो गयी। बाजारों की कमी के कारण विदेशी व्यापार भी बहुत कम हो गया था। इटली की जनसंख्या मे वृद्धि हो रही थी, किन्तु विदेशी राज्यो के प्रतिबन्धों के कारण वे दूसरे राज्यों मे जाकर बस नहीं सकते थे। इटली ने ये सभी कठिनाइयां इसलिए मोल ली थीं कि युद्ध के पश्चात् उसे लाभ ही होगा। किन्तु जब युद्ध के बाद इटली को कुछ प्राप्त नहीं हुआ तो ये आर्थिक कठिनाइयां जनता को बुरी तरह अखरने लगीं। आर्थिक असन्तोष ने सम्पूर्ण देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैला दी। इटलीवासी अपनी इन कठिनाइयों का कारण जनतंन्त्रीय सरकार को मानते थे और अब वे एक शक्तिशाली शासन की कामना करने लगे।

5.8.3 राष्ट्रीयता पर आघात :

19वी शताब्दी मे यूरोपीय देश अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। इटली भी ट्यूनिस पर अधिकार करना चाहता था किन्तु 1881 में जर्मनी के प्रोत्साहन पर फ्रांस ने उस पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् इटली ने अबिसीनिया पर अधिकार करने के लिए उस पर आक्रमण किया, किन्तु आडोवा के युद्ध में इटली को अपमानजनक करने के लिए उस पर आक्रमण किया, किन्तु आडोवा के युद्ध में इटली को अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा। इस पराजय से इटली के राष्ट्रीय सम्मान को बड़ा आघात पहुंचा। अपने इस राष्ट्रीय अपमान के लिये इटली के लोग जनतंत्रीय सरकार को दोषी मानते थे। अतः अटली के लोग जनतंत्रीय सरकार के स्थान पर एक ऐसी सरकार की स्थापना चाहते थे जो इटलीवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इटली की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर सके। फासिस्ट दल इटलीवासियो की इन आकांक्षाओं की पूर्ति करने की घोषणा कर रहा था। अतः फासिस्ट इल को जनता का समर्थन मिलना स्वाभाविक ही था।

5.8.4 हीगल के सिद्धान्तो का प्रचार :

हीगल का जन्म जर्मनी में हुआ था तथा वह बहुत ही उग्र विचारों वाला व्यक्ति था। वह राज्य को ईश्वर का रूप मानता था, जो कभी गलती नहीं कर सकता था। हीगल के अनुसार नागरिक और राज्यों के अधिकारों में कभी संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि नागरिकों के वे ही अधिकार है जो राज्य प्रदान करता है। नागरिक राज्य के आदर्शों का पालन करके ही उन्नति कर सकता है। हीगल के इन सिद्धान्तों को जेण्टिल तथा प्रोजोलीन नामक दो विद्वान इटली में खूब प्रचार कर रहे थे। हीगल के सिद्धान्तों के प्रचार से इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मत की प्रतिष्ठा हुई कि राज्य में व्यक्ति का महत्व कुछ भी नहीं है, सब कुछ राज्य के लिये है। हीगल के सिद्धान्तों में और फासिस्ट दल के सिद्धान्तों में काफी समानता थी। अतः फासिस्ट दल को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

5.8.5 साम्यवाद का प्रभाव :

इटली में असन्तोष और निराशा का वातावरण छाया हुआ था। ऐसे असन्तोषपूर्ण वातावरण में मार्क्सवाद और संघवाद के उदय से किसानों तथा मजदूरों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और इटली में साम्यवाद जोर पकड़ने लगा। जगह–जगह हड़तालें और तोड़–फोड़ की घटनाएं होने लगीं। इटली के साम्यवादी, रूस की तरह इटली में भी क्रांति करा कर किसानों और मजदूरों का शासन स्थापित करना चाहते थे। देश में कई समाजवादी दल स्थापित हो गये। किन्तु जनता में तात्कालिक सामाजवादी सरकार से प्रबल असन्तोष था। दुकानदार सरकार से इसलिये नाराज थे कि समाजवादी सरकार मूल्य निश्चित नहीं कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमीदारों को कृषक संघों से तथा भूमि के वितरण से अनेक आशंकाएं थी। मिल मालिक मजदूरों की हड़तालों से तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। पूंजीपति सरकार से इसलिये नाराज थे कि वे उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने मे असमर्थ थी तथा साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से भयभीत थे। फासिस्ट दल उस समय जनता को अन्धकार में आशा की किरण तथा ऐसा साधन प्रतीत होता था जो उस समय की अराजकता का अन्त कर सकता था और साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करके एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर सकता था। फासिस्ट दल साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करके एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर सकता था। फासिस्ट दल साम्यवाद का कट्टर विरोधी होने के कारण उसको जमींदारों और पूंजीपतियों ने मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता दी। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के लोग फासिस्ट दल में सम्मिलित होने लगे।

5.8.6 राजनैतिक दलों की आपसी फूट :

इटली में अनेक राजनैतिक दल थे। अनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के कारण प्रायः प्रत्येक दल के प्रतिनिधि लोक सभा में पहुंच जाते थे, किन्तु किसी भी दल को इतना बहुमत प्राप्त नही होता था कि वे स्वतंत्र रूप से अपना मन्त्रिमण्डल बना सके। अतः मिलेजुले दलो का मन्त्रिमण्डल बनाया जाता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य देश की समस्याओ के संबंध में विचार न करके केवल जोड़ तोड़ की राजनीति अपना कर किसी तरह सत्ता अपने हाथों में ले लेते थे। इन राजनैतिक दलों की पारस्परिक फूट के कारण वे संयुक्त रूप से उग्रवादियों का विरोध नहीं कर सकते थे।

5.8.7 सरकार की अकर्मण्यता :

एक ओर इटली मे इस प्रकार की अराजकता फैल रही थी और दूसरी और सरकार सर्वथा निष्क्रिय होकर बैठी थी। जनता की निर्वाचन में इसको चेम्बर ऑफ डेपूटीज में एक तिहाई स्थान प्राप्त हुए। उन्होंने गांव–गांव मे अपनी सभाएं स्थापित कर ली। उन्होंने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसानों और मजदूरों को जमीदारो से जमीन छीन कर उसको परस्पर छोटे–छोटे टुकड़ों में बांटने के लिये प्रोत्साहित किया। 1920 तक मजदूरो ने 100 कारखानो पर अधिकार कर लिया और उन्हें वे स्वयं चलाने लगे। इस प्रकार समाजवादियों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। फलस्वरूप 1921 में जियालिटी ने प्रधान मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया। इसके बाद बनने वाले मन्त्रिमण्डलों में साम्यवादियों तथा फासिस्टवादियो का संघर्ष बहुत बढ़ गया। सरकार ने इस बढ़ते हुए संघर्ष को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया तथा इससे संबन्धित अपराधियो को दण्डित करने का प्रयास नहीं किया। इससे फासिस्ट दल को शक्ति सम्पन्न होने का अवसर मिल जायेगा। किन्तु जियालिटी का अनुमान गलत सिद्ध हुआ। मुसोलिनी के कुशल नेतृत्व में फासिस्टवादियों ने समाजवादियों पर विजय प्राप्त करली और अन्त में मुसोलिनी ने शासन की समस्त सत्ता अपने हाथ में ले ली। यदि इस समय शासन सत्ता किसी योग्य नेता के हाथ में होती तो परिस्थिति पर नियन्त्रण किया जा सकता था। किन्तु सरकार ने इन परिस्थितियों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की, जिससे इटली में जनतंत्र का अन्त हो गया।

इन परिस्थितियों में फासिस्ट दल उत्तरोतर प्रगति करता गया। फासिस्ट दल का जन्मदाता मुसोलिनी था। देश के सभी वर्गों ने अपनी परम्परागत संस्थाओं की रक्षा करने के लिये, शक्तिशाली सरकार की स्थापना के लिये तथा देश को विनाश से बचाने के लिये एक संगठन स्थापित किया, जिसके सदस्य फेसियो कहलाते थे। आरम्भ में यह दल शक्तिशाली नहीं था, किन्तु धीरे–धीरे देश की परिस्थितियों ने उसे प्रोत्साहित किया। भाग्यवश उसे मुसोलिनी जैसा एक कुशल नेता मिल गया। फलस्वरूप इटली में फांसीवाद का जन्म हुआ, जिसने इटली के शासन का स्वरूप ही बदल दिया।

5.9 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – मुसोलिनी का पुरा नाम बताइएं?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – फासीवाद के स्रोत लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – फासीवाद के उदय के कारणों को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई – 6
जर्मनी में नाजीवाद

6.0 प्रस्तावना
6.1 नाजीवाद का प्रणेता
6.2 नाजीवाद के उदय के कारण
6.2.1. हिटलर का व्यक्तित्व
6.2.2. वर्साय की आरोपित सन्धि
6.2.3. जातीय उत्कृष्टता का प्रचार
6.2.4. प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था
6.2.5. साम्यवाद का भय

6.2.6. मनोवैज्ञानिक कारण
6.3 जर्मनी की आर्थिक अवस्था
6.3.1 वाइमर गणतन्त्र के प्रति असन्तोष
6.3.2 जर्मन संविधान में कमियां
6.3..3 हिटलर का आकर्षक कार्यक्रम
6.3.4 सेनव नौकरशाही का समर्थन
6.3.5 फान पॉपेन का षड्यन्त्र
6.4 नाजीवाद में हिटलर का योगदान
6.5 नाजीवाद का दर्शन
6.6 प्यूहरर प्रिल्सिप
6.7 समाज और व्यक्ति
6.8 बोध प्रश्न

6.0 प्रस्तावना :

नाजीवाद का उदय दो विश्व–युद्धों के मध्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है जिसने इस अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न किये। इसका प्रणेता हिटलर था। उसने भी फासीवाद के प्रणेता मुसोलिनी की भांति एक सैनिक रूप में प्रथम विश्व युद्ध में भाग लिया था। जर्मनी की पराजय से वह अत्यन्त विक्षुब्ध था परन्तु वर्साय की थोपी गई सन्धि से वह और भी दुःखी था और बदले की भावना से उद्वेलित हो रहा था परन्तु मुसोलिनी की भांति वह देश की सत्ता शीघ्रता से प्राप्त नहीं कर सका। वह जर्मनी का तानाशाह 1933 में वाइमर गणतन्त्र को समाप्त करके बना। हालांकि इतिहासकार जान इ. रोड्स के मतानुसार उसे वाइमर गणतन्त्र का तख्ता नहीं पलटना पड़ा क्योंकि उसका अस्तित्व पहले ही समाप्त हो चुका था। परन्तु फिर भी नाजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जाने से पूर्व परास्त जर्मनी को विभिन्न परिस्थितियों से गुजरना पड़ा था। इस नाजीवाद की लहर ने न केवल जर्मनी की काया पलट की वरन् समस्त अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर दिए। इसका श्रेय हिटलर को ही जाता है।

6.1 नाजीवाद का प्रणेता :

जर्मनी में उक्त नाजी क्रांति हिटलर के नेतृत्व मे ही सफल रही थी। इस दल का संस्थापक भी हिटलर ही था। उसका जन्म 20 अप्रेल, 1889 को आस्ट्रिया के एक ग्राम ब्राना में हुआ था। यह ग्राम आस्ट्रिया की सीमा पर नदी के किनारे स्थित है। हिटलर का परिवार एक साधारण परिवार था। उसके पिता अलोइस हिटलर चुंगी विभाग में एक साधारण कर्मचारी था। सेवानिवृत हो जाने पर अलोइस हिटलर लिंज नगर के समीप एक ग्राम में आकर बस गया। बाल्यावस्था में हिटलर एक प्रतिभा सम्पन्न युवक सिद्ध नहीं हुआ। इसके अलावा उसके पारिवारिक कलह–पूर्ण जीवन ने भी उसकी प्रतिभा को विकसित नहीं होने दिया। 1900 में हिटलर प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लिंज के माध्यमिक शाला में भर्ती हुआ। उसकी माता का नाम क्लारा प्योटजल था। यह हिटलर के पिता की तीसरी पत्नी थी। वियना जाकर हिटलर ललित कला की शिक्षा लेनी चाही पर वह असफल रहा। यहीं उसने यहूदियों को जर्मनी जनता का शोषण करते देखा। इससे वह आजन्म के लिए यहूदियों का कट्टर विरोधी हो गया।

मई, 1913 में वियना से वह म्यूनिख आ गया। यहां उसने एक वर्ष तक चित्रकारी व रंगाई का कार्य कर अपना जीवनयापन किया। इसके उपरान्त उसने सेना में नौकरी करने का प्रयास किया। सेना में नौकरी न मिलने पर वह पांच वर्ष तक कुली का काम करता रहा। इसके उपरानत वह सेना में भर्ती हुआ था। वियना के पांच वर्ष के संघर्ष पूर्ण जीवन ने ही उसे सिखाया कि संघर्ष सभी वस्तुओं का जनक है मानवतावादी सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्ति जीवित नहीं रहता वरन् एक क्रूर संघर्ष के कारण आगे बढ़ता है। प्रथम विश्व युद्ध में वह मोर्चे पर गया था और वीरता से युद्ध करने पर उसे 1918 मे आयरन क्रॉस से सम्मानित किया गया था। युद्ध में घायल हो जाने पर वह सैनिक अस्पताल में भर्ती हुआ। यहीं उसे वर्साय की सन्धि का पता चला था। वर्साय की सन्धि से वह अति क्षुब्ध हुआ था तथा जर्मनी की पराजय का कारण वह राजनीतिक नेताओं की कायरता तथा यहूदियों का विश्वासघात मानता था। उसने पराजय का बदला लेने का संकल्प किया। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध ने भी उसके जीवन मे एक महत्वपूर्ण मोड़ लाने का कार्य किया। सैनिक अस्पताल से मुक्त होकर उसने राजनीति में प्रवेश करने का दृढ़ निश्चय किया और म्यूनिख आ गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

म्यूनिख में आकर उसने राजनीति मे भाग लेना आरम्भ किया तथा वह जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादी श्रमिक दल का सदस्य बन गया। यही 1919 में क्षेत्रीय सेना के अन्तर्गत सूचना एवं प्रसारण विभाग में कार्य करने लगा। उसका प्रधान कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों की गतिविधियों की सूचना उच्च अधिकारयिों को देना तथा समाजवादी विचारों के प्रसार को रोकना था। 1923 में उसने भी वाइमर गणतन्त्र की समाप्ति का प्रयास किया था पर उसमें उसे असफलता के साथ–साथ पांच वर्ष का कठोर कारावास भी मिला। उस कारावास के समय में उसने मेन काम्फ पुस्तक लिखी। मेन काम्पफ का अर्थ मेरा संघर्ष है। इस पुस्तक के माध्यम से हिटलर ने अपने राजनीतिक विचार जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किये। यही पुस्तक आगे चलकर नाजी दल की बाईबिल बन गई। अपनी इस पुस्तक में उसने यह भी लिखा है कि सामान्यत: एक व्यक्ति को 30 वर्ष की उम्र से पूर्व राजनीति मे प्रवेश नहीं करना चाहिए। जेल से मुक्त होते ही वह अपने दल का सबल बनाने में जुट गया। 1929 के आर्थिक संकट से इस दल को महान शक्ति मिली। भूखे व बेरोजगार जर्मन अधिकाधिक संख्या में उसके दल के सदस्य होने लगे और यह दल भी अब एक सैनिक संगठन हो गया। 1928 मे इसके दल के सदस्य 60 हजार हो गये। सेना के उच्च अधिकारी रोहम के सहयोग से उसके दल मे कई सैनिक भी सम्मिलित हो गये। 1920 में उसने अपने दल का नाम जर्मनी वर्कर्स पाटी के स्थान पर नेशनल शोशलिस्ट जर्मनी लेबर पार्टी रखा। कुछ समय उपरान्त ड्रेक्सलर, हिटलर और गाटफ्रेड फेडर ने मिलकर 25 कार्यसूत्री कार्यक्रम तैयार किया, जिसमें अपने दल के उद्देश्य स्पष्ट किये गयें इन सिद्धान्तों मे एक सिद्धान्त तृतीय जर्मनी साम्राज्य की स्थापना करना भी था। इस तृतीय जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत वह जर्मनों से आबाद आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि देशों को मिलाना चाहता था। यहूदियों को वह विदेशी मानता था। इसके अलावा वह अपने निर्धारित कार्यक्रम के अन्तर्गत वर्साय की सन्धि की समाप्ति, युद्ध अपराध का निराकरण एवं जर्मनी से अपहृत उपनिवेशो को पुन: प्राप्त करना चाहता था।

1920–21 उसने शस्त्र सैनिक दलों का गठन किया। उन्हें दो शाखाओं मे विभक्त किया गया प्रथम शाखा आक्रामक सशस्त्र दलों की थी जिन्हें एस.ए. नाम दिया गया जबकि दूसरी शाखा का नाम रखा गया। प्रथम शाखा का कार्य प्रदर्शन करना, दलीय सभाओं की रक्षा करना था। इस दल के सदस्य भूरे रंग की कमीज पहिनते थे। दूसरी शाखा के सदस्य काली कमीज पहनते थे। इस दल के सदस्य अपनी पार्टी के उच्च नेताओं के अंगरक्षक होते थे। अक्टूबर, 1922 में हिटलर ने प्रथम शाखा के 800 सैनिक को लेकर काबर्ग में प्रदर्शन किया।

1923 मे जब फ्रांस के सैनिकों ने रूस के औद्योगिक प्रदेश पर अधिकार कर लिया तो जर्मनी की आर्थिक अवस्था और दयनीय हो गई। बेरोजगार युवक हिटलर के समर्थक हो गये। 1923 में उसने म्यूनिख में नवीन सरकार स्थापित करने का प्रयास किया परन्तु वह असफल रहा। इसी प्रयास के फलस्वरूप उसे जेल जाना पड़ा था। 1925 व 1927 में हिटलर ने अपने दल का पुनर्गठन किया। 1930 के चुनाव मे इसके दल को 20 प्रतिशत मत मिले तथा 1932 मे जब राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। वह हिटलर को हैय दृष्टि से देखता था। हिटलर के प्रधानमंत्री बनने से कुछ दिन पूर्व ही हिण्डनबर्ग ने कहा था – "प्रतिज्ञा करता हूं कि वह बोहेमिन सिपाही मेरे रहते कभी भी जर्मनी का चान्सलर नही बनेगा। मै अधिक से अधिक उसे उपनगरीय डाकखाने का पोस्टमास्टर बना सकता हूँ। पर उसे ही हिटलर को चान्सलर का पद सम्भालने के लिए आमन्त्रित करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि हिटलर में कुछ अपूर्व गुण थे।

6.2 नाजीवाद के उदय के कारण :

नात्सीदल और उसके प्रमुख नेता हिटलर ने जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की, उसके मूल में अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारण निहित थे। उसमें कुछ निम्नलिखित थे:–

6.2.1. हिटलर का व्यक्तित्व :

नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण हिटलर का आसाधारण व्यक्तित्व था। उसमें नायक होने के सभी गुण थे। वह एक मंजा हुआ राजनीतिज्ञ, एक प्रतिभावान एवं महान वक्ता और एक वीर सैनिक था। उसमें परिस्थितियों के अनुसर राजनीतिक दाव–पेचों को अपने अनुकूल कार्यान्वित करने की अद्भुत योग्यता थी। उसकी वक्तृत्व–शक्ति बेमिशाल थी। उसकी वाणी में एक विचित्र मोहिनी शक्ति थी जो श्रोताओं को मंत्र–मुग्ध कर देती थी। बैन्स ने उसके संबंध में लिखा है, "हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था, एक चतुर जन नेता था और एक श्रेष्ठ अभिनेता था। वह एक साधन सम्पन्न आन्दोलनकारी तथा एक योग्य संगठन कर्ता था।" अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह उस राष्ट्र का अधिनायक बन गया जिसका वह मूल नागरिक भी नहीं था। इससे भी अधिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आश्चर्य की बात यह है कि उसकी उन्नति में जनमत का बहुत बड़ा हाथ रहा था।

6.2.2. वर्साय की आरोपित सन्धि :

जर्मन जनता वर्साय की आरोपित सन्धि को भूल नही पाई। इस सन्धि ने उनके देश को नैतिक और भौतिक दृष्टि से मृतप्राय बना दिया था। वर्साय की संधि के बाद की घटनाओ–फ्रांस का सतत् विरोधी रुख, रूसी आधिपत्य, राइन आधिपत्य, क्षतिपूर्ति की भारी रकम, जर्मनी का एक पक्षीय नि:शस्त्रीकरण आदि ने जर्मनों के क्रोध को भड़काने का काम किया। 1924 से 1929 के अस्थायी आर्थिक पुनरुत्थान के काल में असन्तोष एवं प्रतिशोध के ये तत्व पृष्टभूमि मे धकेल दिये गये परन्तु उनका अस्तित्व कायम रहा। 1930–31 के आर्थिक संकट के समय में ये तत्व अपनी पूर्ण शक्ति के साथ आ धमके और एक बार पुन: वर्साय की संधि के प्रति विद्यमान आक्रोश फूट पड़ा। नात्सीदल ने "वर्साय का अन्त हो" का नारा लगा कर लाखों संतुष्ट जर्मनों का समर्थन प्राप्त कर लिया। वस्तुत: नात्सीदल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण वर्साय की संध के प्रति जर्मन जनता का क्रोध था। परन्तु इतिहासकार लिप्सन इसे सही नही मानते है।

6.2.3. जातीय उत्कृष्टता का प्रचार :

नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में उग्र राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण था। हिटलर ने इसे और भी उग्र बनाने के लिये जातीय उत्कृष्टता का विचार प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि ईश्वर ने जर्मन जाति को अन्य जातियों पर शासन करने के लिए बनाया है। चूंकि जर्मन जाति शुरू से ही सैनिक मनोवृत्ति एवं वीर नायक मिल गया और अपनी स्वाभाविक भावना के साथ जनता ने उसे अपना "फ्यूहर" मान लिया।

6.2.4. प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था :

हिटलर और नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता मे प्रजातांत्रिक लोकसभात्मक शासन पद्धति के विरुद्ध अरुचि होना था। बहुत से जर्मन, संसदात्मक शासन प्रणाली, जिस अंग से वह कार्य कर रही थी, उससे ऊब गये थे, क्योंकि उन्हें वे दिन याद थे जबकि लोकसभा में अनुशासन और व्यवस्था की दृढ़ व्यवस्था थी और वाद–विवाद तथा फजीतियो का वातावरण नही था। तत्कालीन जर्मन राजनीतिज्ञ केवल थोथे वचन और प्रतिज्ञाएं करते रहते थे। इससे सामान्य जनता को भारी आघात पहुंचता था। वह एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य विधाता देखना चाहती थी जो कि जनता को मौजूदा शोचनीय स्थिति से मुक्ति दिलवा सके।

6.2.5. साम्यवाद का भय :

1917 ई. में रूस में साम्यवादियों को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका प्रभाव यूरोप के कई देशो पर पड़ा। जर्मनी में यह प्रभाव अधिक रहा। नवम्बर 1932 के चुनावों मे साम्यवादी दल को 100 स्थान मिले। साम्यवादियों को इस सफलता ने नात्सीदल के भाग्योदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो लोग एक शक्तिशाली व्यक्ति को जर्मनी का भाग्य–विधाता देखना पसंद करते थे वे तो नात्सीदल के अनुयायी बन ही चुके थे परन्तु साम्यवादी भय ने उद्योगपतियो तथा पूंजीपतियों को भी नात्सीदल का समर्थन करने के लिए विवश कर दिया। हिटलर ने सामान्य जनता में भी साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। जब रीष्टाग भवन को जलाने का सारा दोष साम्यवादियों के मत्थे मंढा गया तो लोग यह अनुभव करने लगे कि इनको दबाने के लिए न्यासी दल को समर्थन देना आवश्यक है क्योकि साम्यवादी दल से टक्कर लेने लायक यदि कोई दल है तो वह नात्सी दल ही है।

6.2.6. मनोवैज्ञानिक कारण :

नात्सीदल के उत्कर्ष का एक कारण मनोवैज्ञानिक था ।ऐसा प्रतीत होता था कि प्रजातन्त्र अधिकांश जर्मनों की रुचि के प्रति अपेक्षित ध्यान देने मे अनिच्छुक है अथवा समर्थ है। साम्राज्यवादी जर्मनी के महान पुरुषो एवं उनके आदर्शों की हत्या करने वाले प्रयत्नों के संबंध में प्रजातांत्रिक सरकार की सहिष्णु नीति, साम्राज्यवादी ध्वज को तत्परता को त्यागता तथा सोवियत रूस के साथ मैत्री गठबन्धन–इन सब कार्यो ने जर्मन जनता को प्रजातंत्र से विमुख कर दिया। सामन्तवादी तत्वो, नवयुवकों, आदर्श किसानों और सैनिकों जिन्हे मौजूदा राजनीतिज्ञों से घृणा थी, ने इस असन्तोष को और अधिक फैलाने में सहयोग दिया। नात्सीदल और हिटलर ने इस असन्तोष का महत्व समझा और इसका लाभ उठाने का पूरा–पूरा प्रयास किया। लीबेन्स ने ठीक कहा है कि हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था और उसमें संघर्ष और संगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। उसके असन्तुष्ट लोगों के मन की बात जानने की क्षमता थी और तत्कालीन परिस्थितियो को अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए मोड़ने की भी क्षमता थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.3 जर्मनी की आर्थिक अवस्था :

हिटलर के उत्थान में जर्मनी की तत्कालीन दयनीय आर्थिक अवस्था ने विशेष सहयोग दिया। जर्मनी के पास पैसा बिल्कुल नहीं रहा। देश में भुखमरी व बेरोजगारी फैलती रही। मुद्रा का मूल्य बुरी तरह गिर गया। इस पर भी मित्र राष्ट्रों ने कहा कि हम तो क्षतिपूर्ति की रकम पूरी व समय पर ही लेंगे। इसके विरूद्ध हिटलर ने क्षतिपूर्ति न देने की आवाज उठाई। इसके अलावा उसने जर्मनी के नवयुवकों के सामने आशाजनक कार्यक्रम भी रखा।

6.3.1 वाइमर गणतन्त्र के प्रति असन्तोष :

इस गणतन्त्र सरकार को जर्मनी की आम जनता सम्मान से नही देखती थी क्योंकि वर्साय की सन्धि को स्वीकार इसी सरकार ने किया था। सन्धि की कठोर एवं अपमानजनक शर्तें भी इसी सरकार ने स्वीकार की थी। अतः जनता इस सरकार से बदला लेना चाहती थी और अब उसे हिटलर जैसा सुयोग्य नेता मिल गया। इस सरकार ने अपनी स्थापना के समय जनता को अनेक सुनहरे स्वप्न दिखाये थे, परन्तु वह प्रत्येक कार्य में असफल रही।

6.3.2 जर्मन संविधान में कमियां :

वर्साय की सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी में राजतंत्र का स्थान वाइमर प्रजातन्त्र ने ले किया था। इसके अन्तर्गत जर्मनी में एकतन्त्री संविधान बनाया गया। उसमें निम्न कमियां रह गई थी

1. संकट कालीन घोषणा की धारा नहीं रखी गई।
2. राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री के अधिकारों का स्पष्ट विश्लेषण नहीं किया गया।
3. चुनाव की प्रणाली आनुपातिक रखी गई।

6.3..3 हिटलर का आकर्षक कार्यक्रम :

हिटलर ने अपने अनुयायियों व देशवासियों के समक्ष कार्यक्रम ही इस प्रकार का प्रस्तुत किया कि वे सब उसमें पूर्ण निष्ठा रखते हुए उसे पूर्ण सक्रिय सहयोग देने लगे। वह कार्यक्रम निम्न प्रकार का था –

1. वर्साय की सन्धि से जर्मनी पर लगा अपमान समाप्त करना है।
2. जर्मन भाषी सब राज्यों को एक सूत्र में पिरोकर एक सुदृढ़ साम्राज्य के अन्तर्गत रखना है।
3. प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी से अपहृत उपनिवेश पुनः प्राप्त करने है।
4. यहूदियों को जर्मन राज्य से निष्कासित करना है क्योंकि वे जर्मनी को हराने में मित्र–राष्ट्रों को सहायक सिद्ध हुए थे।
5. वर्तमान जर्मनी की सीमा का विस्तार करना है।
6. साम्यवाद के विस्तार को जर्मनी में रोकना है।
7. देश में शान्ति की स्थापना होगी तथा देश की बेकारी व बेरोजगारी दूर की जावेगी।

6.3.4 सेनव नौकरशाही का समर्थन :

सेना व राजकीय उच्च पदों पर आसीन अधिकांशतः उच्च वर्ग व परम्परावादी वर्ग के लोग थे। उनके विचार अनुदार थे। वे राजतन्त्र के समर्थक तथा प्रजातन्त्र के विरोधी थे। अतः वे आसानी से हिटलर के सहयोगी बन गये।

6.3.5 फान पॉपेन का षड्यन्त्र :

हिटलर को सत्ता दिलाने मे अहम भूमिका निभाने वाला फान पॉपेन था। वह जर्मनी का प्रमुख राजनीतिज्ञ व पूर्व प्रधानमंत्री था। वह पुनः प्रधानमंत्री पद लेना चाहता था, लेकिन कई दल उसका विरोध कर रहे थे। उसने सोचा कि यदि वह हिटलर को चान्सलर पद दिलवा दे तो हिटलर उसका गुलाम हो जावेगा और वह उसके माध्यम से जर्मनी का वास्तविक प्रशासक बन जावेगा। अतः उसने राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग को राजी किया कि वह हिटलर को चान्सलर बना दे और उसको वाइस चान्सलर। हिण्डेनबर्ग ने फॉन पॉपेन की बात स्वीकार कर ली। परिणाम उल्टा रहा। हिटलर ने अल्प समय में ही फान पॉपेन को पदच्युत कर दिया और स्वयं शक्तिशाली चान्सलर बन गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.4 नाजीवाद में हिटलर का योगदान :

नाजीवाद की बाईबिल मेन काम्फ समझी जाती है। इसकी रचना हिटलर ने अपने कारावास में की थी अत: नाजवाद को समझने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन आवश्यक है। इसके अलावा हिटलर ने पुस्तक और लिखी थी। इस पुस्तक की भूमिका इतिहासकार एच. आर. ट्रेवर रोपर ने लिखी थी। इस पुस्तक मे हिटलर द्वारा दिए गये भाषणो का सग्रह है। हिटलर द्वारा समय–समय पर दिए गये भाषण भी नाजीवाद के दर्शन को स्पष्ट करने में सहयोगी सिद्ध होते है।

6.5 नाजीवाद का दर्शन :

नाजीवाद का स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित दर्शन प्राप्त नहीं है। इसके प्रणेता हिटलर ने अपनी पुस्तक में जीवन दर्शन या विश्व के प्रति दृष्टिकोण पर लिखा तो पर्याप्त है परन्तु उनसे भी नाजीवाद का दर्शन स्पष्ट नही होता। अत: नाजीवाद को परिभाषित करना आसान नहीं है और नाजीवाद के समर्थकों ने भी इसे स्पष्ट करने का प्रयास नही किया। अत: दल के कार्यक्रम के नाम पर हमें इसे 25 सूत्री सिद्धान्त प्राप्त होते है। इसका प्रतिपादन तो 24 फरवरी, 1920 को ही हो गया था और हिटलर ने उन्हे स्थायी तथा अडिग घोषित किया था। इन सिद्धान्तों पर किसी को बहस करने की अनुमति नहीं दी गई। उनमें से प्रमुख सिद्धान्त यहां उल्लेखित है –

1. हम मांग करते है कि सभी जर्मनों को आत्म–निर्णय के अधिकार के अन्तर्गत एक महान जर्मन राज्य में संगठित किया जावे।

2. हम मांग करते है कि जर्मन जनता को अन्य राष्ट्रो के समान अधिकार हो तथा वर्साय की सन्धि तथा सेट जर्मन की सन्धियां समाप्त की जावे।

3. जो हमारे देश निवासी है वे ही हमारे राज्य के नागरिक होंगे। केवल जर्मन रक्त के लोगों को ही देशवासी माना जावेगा। अत: कोई भी यहूदी जर्मनी का नागरिक नहीं समझा जावेगा।

4. अनागरिकों को जर्मन में विदेशियों की भांति रहना पडेगा।

5. सरकार के निर्वाचन व कानून बनाने में देश के नागरिक ही भाग ले सकेंगे।

6. हम मांग करते है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए सन्तोषजनक आजीविका कमाने का अवसर उपलब्ध हो। उनका जीवन–स्तर उन्नत हो। यदि नागरिक को पर्याप्त भोजन उपलब्ध न हो तो विदेशियों को जर्मनी से निकाल दिया जावे।

7. सभी नागरिकों के अधिकार व कर्त्तव्य समान होंगे।

8. शारीरिक व मानसिक सेवा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा।

9. हम मांग करते है कि राज्य विशाल उद्योग में लाभ प्राप्त करे।

10. हम मांग करते है कि वृद्ध व्यक्तियों की उचित व्यवस्था की जावे।

11. एक सुदृढ़ मध्यमवर्ग के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिया जावे।

12. हम मांग करते है कि राष्ट्र की आवश्यकता के अनुपात में कृषि क्षेत्र में सुधार करके उत्पादन बढ़ाया जावे।

13. हम मांग करते है कि जनकल्याण के विरूद्ध कार्य करने वालो के विरूद्ध निरन्तर कार्यवाही की जावे। देशद्रोही, सूदखोरों व मुनाफाखोरों को मृत्यु दण्ड दिया जावे।

14. हम मांग करते है कि जर्मनी में रोमन कानून के स्थान पर जर्मन कानून लागू किये जावे।

15. राष्ट्र की समस्त सांस्कृतिक व्यवस्था को पूर्णत: संगठित किया जावे ताकि प्रत्येक प्रतिभा सम्पन्न एवं परिश्रमी जर्मन युवक को उच्च शिक्षा प्राप्ति का अवसर मिल सके।

16. राज्य का कर्तव्य है कि वह मातृत्व कल्याण केन्द्रों की स्थापना करें। नवयुवकों के लिए शारीरिक व्यायाम व खेल कूद की व्यवस्था करे।

17. देश की वर्तमान प्रोफेशनल सेना के स्थान पर राष्ट्रीय सेना का गठन किया जावे।

18. जर्मन भाषा के समाचार पत्रों का प्रकाशन जर्मन ही कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट झलकता है कि हिटलर किसी भी स्थिति मे दोहरी स्वामिभक्ति सहन नहीं कर सकता था। हिटलर ने कहा था – "आप या तो जर्मन है या ईसाई। आप दोनों नहीं हो सकते।" नाजियों की मान्यता थी कि "ईश्वर जनता में, हमारे भाग्य या नियति में तथा रक्त में है। नाजी ईसा को यूहदी न मानकर आर्य मानते थे तथा उसे दया की मूर्ति के स्थान पर एक क्रांतिकारी व्यक्ति, जिसने सूदखोर यहूदियों को मन्दिरों से निकाल फैका, मानते थे।

6.6 प्यूहरर प्रिल्सिप :

नात्सी दर्शन पूर्णतः नेतृत्व के सिद्धान्त पर आधारित था। हिटलर नाजी दल का निर्विवाद नेता था और जर्मनी के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य था कि वह उसके आदेशों के सन्मुख नत मस्तक हो। नाजीदल का गठन भी इसी सिद्धान्त पर आधारित था। संगठनों की दृष्टि से हिटलर ने गाउए नामक जिले बनाए, जहां का नेता गाउए लाईटर कहलाता था। प्रारम्भ में इस प्रकार के 23 जिले थे, परन्तु पार्टी के विकास के साथ–साथ इनकी संख्या भी बढ़ी गई और अन्त में उनकी संख्या 32 हो गई थी। इसी प्रकार प्रान्डीय स्तरपर स्टाटहाल्टर के पद की व्यवस्था की गई। हिटलर के सत्ता में आते ही ये स्टाटहाल्अर प्रान्तों के शासक बन बैठे थे। हिटलर केन्द्र में तानाशाह था तो वे अपने प्रान्तों के तानाशाह थे। वे केवल हिटलर के प्रति ही उत्तरदायी होते थे।

6.7 समाज और व्यक्ति :

समाज वीरोचित फोलक के अलावा और कुछ नहीं था। यह तथ्य रक्त व भूमि के सिद्धान्त पर आधारित था जिसके अन्तर्गत एक अतिमानव या अलौकिक प्रजाति का उन्नति सम्भव था। फोल्क सर्वोच्च माना गया। अतः व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र था। राज्य समाज का प्रतिनिधित्व करता था और इस प्रकार व्यक्ति राज्य के समक्ष नगण्य था। नाजी दर्शन में प्रजातन्त्र को ऐतिहासिक दुर्घटना तथा साम्यवाद को एक षड्यन्त्र व एक बीमारी का प्रतीक माना गया है। नाजी दर्शन के अनुसार आदर्श राज्य वही ह। जहां व्यक्ति के हित समुदाय या फोल्क के लिए समर्पित कर किए दिए। हिटलर राष्ट्र का प्रवक्ता था। वह प्रत्येक व्यक्ति को फोल्क की पूजा करना आवश्यक बताता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को उसने कल्पना बताया है। नागरिक स्वतन्त्रता को समुदाय की सेवा करने में निहित बताया है। नाजियो की मान्यता थी कि जिस प्रकार एक उद्योगपति अपने श्रमिकों को नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार नागरिकों को राष्ट्रहित में सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जाना चाहिए। धर्म कुछ नहीं है। व्यक्ति द्वारा फोल्क की पूजा सच्चा धर्म है।

6.8 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – नाजीवाद का प्रणेता कौन था ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – हिटलर के आकर्षक कार्यक्रमों पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – नाजीवाद के उदय के कारणों को विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

संवर्ग – 5

इकाई – 1

द्वितीय विश्व युद्ध : कारण एवं परिणाम

1.0 भूमिका

1.1 युद्ध के कारण

1.1.1. जर्मनी वर्साय की सन्धि का बदला लेना चाहता था

1.1.2. साम्राज्यवादी भावना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.1.3. औद्योगिक विकास

1.1.4. राष्ट्रसंघ की असफलता

1.1.5. निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की असफलता

1.1.6. तानाशाहों का उत्कर्ष

1.1.7. अल्प संख्यक जातियों का असन्तोष

1.1.8. राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ

1.1.9. विश्व का दो गुटो में विभाजन

1.1.10. स्पेन का गुह युद्ध

1.1.11. इंग्लैण्ड व फ्रांस की तुष्टिकरण की पुष्टि

1.1.12. फासीवांद और नाजीवाद का उदय

1.1.13. मित्र राष्ट्रों के आन्तरिक मतभेद

1.1.14. पोलैण्ड पर आक्रमण

5.2 युद्ध के दो दल

1.3 शान्ति समझौता

1.4 द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम

1.4.1 यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त

1.4.2 राष्ट्रीयता एवं नव जागरण

1.4.3 दो शक्तिशाली गुटों का उत्कर्ष

1.4.4 युद्धोत्तर विश्व मे सिद्धान्तों का संघर्ष

1.4.5 शीत युद्ध का श्रीगणेश

1.4.6 प्रादेशिक संगठन

1.4.7 निशस्त्रीकरण

1.4.8 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

1.5 बोध प्रश्न

1.0 भूमिका :

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के ठीक बीस वर्ष बाद दूसरा विध्वंशकारी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। 1919 में लोगो ने यह आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में पुरानी त्रुटियों को दोहराया नहीं जायेगा और कोई भी राष्ट्र पाशविक शक्ति का स्थान ग्रहण नहीं कर सकेगा। किन्तु ये सभी भविष्यवाणियां पूर्णतः मिथ्या प्रमाणित हुई। वर्साय की संधि पर विचार करते हुए मार्मल फौश ने कहा था, "यह शान्ति संधि नही है, यह तो बीस वर्ष के लिये युद्ध–विराम सन्धि है।" मार्शल समझौते के बाद चेम्बरलेन ने लन्दन हवाई अड्डे पर उसके स्वागतार्थ आये मित्रों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "मै आपके लिए सम्मानपूर्वक शांति लाया हूं।" इसके प्रत्युत्तर मे चर्चिल ने कहा, "ब्रिटेन और फ्रांस के समक्ष दो मार्ग थे–युद्ध और अनादर, उन्होंने 'अनादर' को चुना, किन्तु वे युद्ध से भी नहीं बच सकते।" चर्चिल की यह भविष्यवाणी भी सत्य हुई। ये दोनों ही कूटनीतिक मनुष्य की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए उन्होने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जो घटनाचक्र चला वह पुनः दूसरे महायुद्ध की ओर ले गया। अतः उन तत्वों का विवेचन करना समीचीन होगा, जिन्होने दूसरे विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित कारण बताये गये है।

1.1 युद्ध के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.1.1. जर्मनी वर्साय की सन्धि का बदला लेना चाहता था :

वर्साय सन्धि में मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ बहुत अन्याय किया था। सन्धि की सब शर्तें उसके लिए अति अपमानजनक थी। विजेताओं ने सन्धि का प्रारूप ही इस उद्देश्य के साथ तैयार किया था कि परास्त जर्मनी फिर कभी भी सिर न उठा सके। उसको सैनिक दृष्टि से सर्वथा पंगु बना दिया था। वहां की अनिवार्य सैनिक शिक्षा समाप्त कर दी गई थी तथा स्थल सैनिकों की संख्या एक लाख निर्धारित कर दी गई। टैंक व वायु सेना लगभग समाप्त कर दी गई थी। जब हिटलर ने सत्ता अपने हाथ में ले ली तो वह मित्र–राष्ट्रो के देशों से उस सन्धि का बदला लेने की इच्छा करने लगा। सन् 1935 से ही उसने सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले उसने वर्साय की सन्धि द्वारा की गई प्रादेशिक व्यवस्था को चुनौती दी। राइन प्रदेश का सैन्यकरण किया तथा उसने आस्ट्रिया व सुडेटेनलैण्ड पर अधिकार कर लिया। इसे उपरान्त उसने अपनी सेना में आशातीत वृद्धि की। इसके पश्चात् हिटलर ने क्षतिपूर्ति की राशि देने से भी इन्कार कर दिया। उसकी इन कार्यवाहियों से विश्व का वातावरण क्षुब्ध हो गया। इन कार्यवाहियों के करने से पूर्व उसने स्पष्ट कहा था कि हम इस दयनीय अवस्था के दास दूसरों के कारण ही बने है।

1.1.2. साम्राज्यवादी भावना :

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र–संघ के राष्ट्रों की विजय का अर्थ प्रजातन्त्र की विजय से लिया गया था, परन्तु युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों में, साम्राज्यवादी भावना पुनः प्रबल हो गई। इंग्लैण्ड व फ्रांस ने तो विजित जर्मनी के प्रदेशों को अधीनस्थ कर अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा को शान्त कर लिया था। उन्हें देखकर इटली अफ्रीका मे अपने पांव फैलाने लगा तो सुदूरपूर्व में निर्भय होकर जापान साम्राज्यवाद मे बाजी मारने का प्रयास करने लगा। इससे विश्व का वातावरण अशान्त तथा अनिश्चित बनने लगा। उन दोनों के विरूद्ध जब राष्ट्र–संघ कुछ नहीं कर सका तो हिटलर भी निर्भिक हो साम्राज्यवाद की दौड़ में दौड़ने लगा। इस प्रकार इन तीनों धुरी राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद की दौड़ मे भाग लेकर ऐसा कटु अन्तर्राष्ट्रीय माहौल बना दिया कि दूसरे विश्वयुद्ध का होना अनिवार्य प्रतीत होने लगा।

1.1.3. औद्योगिक विकास :

यूरोप के देशों में औद्योगिक विकास तो प्रखरता से उन्नीसवीं सदी से ही हो रहा था। प्रथम विश्व–युद्ध के विनाश ने यूरोप के औद्योगिक विकास पर बड़ा प्रहार किया था। वर्साय की सन्धि के होते ही इंग्लैण्ड, फ्रांस, व उनके सहयोगी देश तो पुनः औद्योगिक विकास में जुट गए, परन्तु जर्मनी व इटली इस दौड़ में आगे नहीं आ सके। जर्मनी तो राइन प्रदेश के चले जाने पर लोहा और कोयले के अभाव में अपना औद्योगिक विकास नहीं कर सकता था। इटली भी इस दशा में अत्यन्त दीन सिद्ध हो रहा था। इटली के पास न तो कोयला ही था और न तेल। उसे लोहे का भी अभाव था। यही हालत जापान की थी। प्राकृतिक साधनों के क्षेत्र में वह भी अभी हीन था पर उसका औद्योगिक विकास तीव्रता से हो रहा था। इटली व जापान कच्चे सामान की भी तलाश में थे तो अपने उत्पादित साधन को खपाने के लिए वे बाजार की तलाश में भी थे। इसी कारण जर्मनी ने राइन प्रदेश पुनः प्राप्त किया, इटली ने इथोपिया पर अधिकार किया तो जापान ने मंचूरिया पर किया। इन्ही घटनाओं ने विश्व को पुनः युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया।

1.1.4. राष्ट्रसंघ की असफलता :

राष्ट्रसंघ की स्थापना मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने तथा शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था के लिए की गई थी परन्तु वह अपने इन उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहे। राष्ट्रसंघ का जन्मदाता विल्सन स्वयं अमेरिका को इसका सदस्य नहीं बना सका। फलतः एक शक्तिशाली राष्ट्र के समर्थन एवं सहयोग से यह वंचित रहा। प्रारम्भ में पराजित राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखना इस बात का द्योतक हो गया कि राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का गुट है। रूस 'राष्ट्रसंघ' को पश्चिमी राष्ट्रों का साम्यवादी रूस के विरूद्ध एक षड़यन्त्र मानता था।

यद्यपि 1925 से 1929 तक राष्ट्रसंघ ने कुछ क्षेत्रों मे महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे प्रभावित होकर 50 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली किन्तु यह स्थिति क्षणिक रही। ज्योंही बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ का प्रश्न आया तो केवल आयोगों की नियुक्ति के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ विधवा स्त्री की तरह हाथ पांव पीट कर रह गया। मित्र राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ को अपने स्वार्थों की सिद्धी के लिए प्रयोग किया। इंग्लैण्ड रूस की साम्यवादी प्रवृत्तियों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखना चाहता था। फ्रांस का उद्देश्य शान्ति सम्मेलन की शर्तों का पालन करना था। अनेक शक्तिशाली देशों ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा की जैसे मंचूरिया काण्ड के समय जापान राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों को ठुकराते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग हो गया। अभिसीनिया युद्ध के बाद इटली ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी। हिटलर का तो कहना था कि 'खोये हुए प्रदेशों की पुनः प्राप्ति ईश्वर से प्रार्थना करने से अथवा राष्ट्रसंघ के प्रति पवित्र आस्था रखने से नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वरन् सैनिक शक्ति से ही हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय राष्ट्रसंघ कोई कारगर कदम नहीं उठा सकता। छोटे–छोटे राष्ट्रो को राष्ट्रसंघ से सुरक्षा पाने का विश्वास समाप्त हो गया। राष्ट्रसंघ के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना शीघ्र ही विस्फोटक बनकर युद्ध के रूप में परिगणित हो गई।

1.1.5. निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की असफलता :

विश्व राजनीतिज्ञों का यह मानना था कि शान्ति एवं सुरक्षा के लिए शस्त्रास्त्रो की होड़ को समाप्त करना आवश्यक था वर्साई की सन्धि के द्वारा जर्मनी को पूर्णतः शक्तिहीन करने के लिए निःशस्त्रीकरण की योजना प्रस्तुत थी। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को यह आश्वासन दिया था कि कुछ समय बाद व्यापक निःशस्त्रीकरण किया जायेगा। जिससे सुरक्षा की सम्भावना स्थापित हो सके। सिद्धान्त रूप से इस योजना का समर्थन किया जा सकता था किन्तु इस सम्बन्ध में अलग–अलग राष्ट्रों द्वारा जो नीति अपनायी गई उससे निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण की भावना को बल मिला।

निःशस्त्रीकरण के लिए पहला प्रयास 1921 में वाशिंगटन सम्मेलन मे किया गया था। जिसमें प्रमुख नौसैनिक राष्ट्रों ने अपनी नौसैनाओं का टन भार के अनुपातों की योजना से परिसीमित करना स्वीकार किया। किन्तु इसके पश्चात लन्दन नौसैनिक सम्मेलन मे केवल ब्रिटेन, अमेरिका और जापान के बीच कुछ सीमित समझौता हो सका और फ्रांस व इटली के बीच पारस्परिक मतभदो के कारण कोई समझौता नहीं हो सका। जापान ने भी समानता के सिद्धान्त के आधार पर ब्रिटेन तथा अमेरिका के समकक्ष नौसैनिक शक्ति बनाने की मांग की किन्तु इस बात को स्वीकार नहीं किया गया। 1932 मे जिनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन फ्रांस तथा जर्मनी के मतभेदों के कारण कोई निर्णय नहीं कर सका और हिटलर ने सम्मेलन से पृथक होने की घोषणा कर दी, जिससे सम्मेलन लगभग समाप्त हो गया। जर्मनी का कहना था कि यदि जर्मनी को शस्त्रहीन किया जाता है तो निःशस्त्रीकरण का सिद्धान्त दूसरे राज्यों पर भी लागू किया जाये। सभी देशों ने सुरक्षा के नाम पर युद्ध की तैयारिया आरम्भ कर दी। फ्रांस ने अपनी उत्तर पूर्वी सीमा पर भूमिगत किलो की शृंखला बनाई जिसे मैजिनो लाइन कहा जाता था। इसी तरह जर्मनी ने भी सीगफ्रीड लाइन तैयार की। अब निःशस्त्रीकरण मात्र औपचारिक वार्ता रह गई थी। चर्चिल का मत था कि यदि वर्साई की सन्धि की निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं का 1934 तक कड़ाई से पालन किया जाता तो हिंसा या रक्तपात के बिना संसार की शान्ति एवं सुरक्षा की अनिश्चित काल तक रक्षा की जा सकती थी।

पुनः शस्त्रीकरण के परिणामस्वरूप सभी देशों में भय और आशंका फैल गई और सभी युद्ध की तैयारी में जुट गए।

1.1.6. तानाशाहों का उत्कर्ष :

इस समय कई देशों में तानाशाहों का उत्कर्ष हुआ जिनके कार्यो और उग्र नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी मे वाइमर गणतंत्र की स्थापना हुई थी और अनेक विरोधी दलों का उत्कर्ष होने लगा था। इन दलों में नाजी दल प्रमुख था जो वर्साय संधि को भंग करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता था। 1933 मे हिटलर जर्मनी का तानाशाह बन गया। इसी प्रकार इटली मे भी मित्र राष्ट्रों के प्रति असन्तोष था, क्योंकि युद्ध की लूट मे उसे उचित हिस्सा प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये इटली भी वर्साय की संधि का विरोधी हो गया। फलतः इटली में फासिस्टवाद का उत्कर्ष हुआ। 1922 में इस दल के नेता मुसोलिनी के हाथ में सत्ता आ गयी, और वह इटली का तानाशाह बन गया। मुसोलिनी के लिये युद्ध जीवन था और शान्ति मृत्यु। स्पेन में भी हिटलर और मुसोलिनी द्वारा समर्थित जनरल फ्रेंको की तानाशाही स्थापित हुई। जापान में भी साम्राज्यवादी भावनाएं पनप रही थीं। जापान ने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा करते हुए मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी ने यूरोप की राजनैतिक स्थिति को संकटमय बना दिया। वास्तव में यह संधि तानाशाहों का समझौता थी। इन सभी घटनाओ ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

1.1.7. अल्प संख्यक जातियों का असन्तोष :

जिस प्रकार शान्ति समझौते द्वारा सीमाओं में परिवर्तन किया गया वहां जातियों का भी अदल–बदल होना स्वाभाविक था। बाल्कन प्रायद्वीप और मध्य यूरोप में यह स्थिति अत्यन्त ही जटिल थी। आस्ट्रिया को जर्मनी से पृथक रखा गया, चैकोस्लोवाकिया को स्वतंत्र राज्य स्वीकार किया गया तथा पौलेंड का विभाजन कर दिया गया। यद्यपि मित्र राष्ट्रों ने आत्म निर्णय का सिद्धांत स्वीकार किया था, किन्तु इस सिद्धांत को सभी जगह लागू करना सम्भव नहीं था। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर एक दूसरे की विरोधी अल्प संख्यक जातियां बस गयीं और उनमें भयंकर असन्तोष फैल गया क्योंकि वे एक राज्य के अधीन असुरक्षा का अनुभव कर रही थीं। कुछ जर्मन जाति के लोग चैकोस्लोवाकिया में थे, कुछ पोलैण्ड में थे और कुछ आस्ट्रिया में। वे सभी अपने को विदेशी शासन के अध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ीन मानती थी। हिटलर ने उनमे व्याप्त असन्तोष का पूरा लाभ उठाया। उसने जिन जिन राज्यों मे अल्प संख्यक के रूप में जर्मन जाति के लोग बिखरे हुए थे और असन्तुष्ट थे, उनकी सहायता करना आरम्भ किया ताकि उनमे तीव्र राष्ट्रीय भावना जीवित रहे। उसने पश्चिम की शक्तियों से सौदेबाजी की और अल्प संख्यकों पर कुशासन का बहाना बना कर आस्ट्रिया और सूडेटनलैण्ड का अपहरण कर लिया। तत्पश्चात उसने पोलैण्ड पर हमला कर दिया।

1.1.8. राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ :

प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक सम्पन्नता की होड़, अपने माल की बिक्री के लिये नये बाजारों की खोज, कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधा आदि ने विभिन्न राष्ट्रो में पारस्परिक संघष को प्रोत्साहन दिया था। इस प्रकार प्रथम युद्ध की समाप्ति कर प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थो के वशीभूत हो चुका था और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का कोई स्थान नहीं था। वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी से उसके सभी उपनिवेश छीन लिये गये थे और ये सभी उपनिवेश इंग्लैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस में बांट दिये गये थे। फलस्वरूप इंग्लैण्ड, फ्रांस और बेल्जियम को इन प्रदेशो से कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा बढ़ गयी, किन्तु दूसरी ओर जर्मनी को भारी हानि उठानी पड़ रही थी। जर्मनी की भांति इटली भी कच्चा माल प्राप्त करने के लिए उपनिवेश स्थापित करने तथा तैयार माल के लिये बाजारो की खोज की फिकर में था। तेल, लोहे और कोयले की कमी ने तो इटली को साम्राज्यवादी नीति अपनाने के लिये विवश कर दिया था। इसी प्रकार जापान भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए, औद्योगिक विकास के लिये कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल के लिये बाजार स्थापित करने हेतु चीन में अपने पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहा था। इन विभिन्न स्वार्थो ने आर्थिक संघर्ष को जन्म दिया। 1929–30 के आर्थिक संकट ने तो एक नयी स्थिति उत्पन्न कर दी। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने उद्योगों की रक्षा के लिये भारी कर–प्रणाली, आयात–निर्यात पर प्रतिबंध, आयातित माल पर भारी तटकर, विदेशी व्यापार पर प्रतिबंध आदि कार्यान्वित किये। इससे सम्पन्न देशों में तैयार माल एकत्रित होने लगा, क्योंकि उसके स्वयं के यहां तो इतने माल की खपत हो नहीं रही थी। सर्वाधिक समस्या तो उन देशों के समक्ष उत्पन्न हुई, जिनके पास न तो कच्चा माल था और न ही उपनिवेश थे। इस प्रकार की विषम स्थिति उन देशों मे अधिक थी जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध मे भारी हानि उठानी पड़ी थी। अतः जर्मनी, जापान और इटली अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओ की पूर्ति के लिये एक दूसरे के निकट आने लगे। जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया, इटली ने अबीसीनिया पर अधिकार कर लिया और जर्मनी ने भी यूरोप में अपने खोये प्रदेशो का उपहरण करना आरम्भ कर दिया। ये सभी घटनाएं द्वितीय विश्व युद्ध की अग्रदूत बन गयीं।

1.1.9. विश्व का दो गुटों में विभाजन :

जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व यूरोप दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था, उसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया। 1937 तक अन्तर्राष्ट्रीय रंग–मंच पर दो शक्तिशाली गुटों का निर्माण हो चुका था। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे राष्ट्र थे जो वर्साय की सन्धि के विरोधी तथा अधिनायकवाद के समर्थक थे। अतः इन तीनों ने मिलकर रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी का निर्माण कर लिया। दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों का सुदृढ़ संगठन था। युद्ध आरम्भ होने पर रूस प्रथम गुट मेंथा और उसने जर्मनी से विश्वासघात करके रूस पर आक्रमण कर दिया तो रूस भी मित्र राष्ट्रों के गुट मे आ मिला। ज्योंही मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन और फ्रांस) ने पोलैड को समर्थन दिया त्योंही द्वितीय महासमर भड़क उठा।

1.1.10. स्पेन का गृह युद्ध :

1931 में स्पेन में गणतन्त्र की स्थापना हो गई थी। इस नवीन शासन व्यवस्था से स्पेन के वामपक्षी व दक्षिणपक्षी दलों में संघर्ष छिड़ गया। परिणामतः वहां गृह–युद्ध छिड़ गया। जनरल फ्रेंको ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। वह फास्सिट विचारों का समर्थक तथा साम्यवाद का विरोधी था। इस कारण मुसोलिनी का झुकाव जनरल फ्रेंको की तरफ हो गया। इसके अलावा मुसोलिनी स्पेन की सहायता करके भूमध्यसागर पर अपना प्रभाव भी बढ़ाना चाहता था। अबिसीनिया के मामले में हिटलर मुसेलिनी का समर्थन कर चुका था। अतः दोनों मे सम्बन्ध अच्छे स्थापित हो गये थे। इस कारण स्पेन के मामले में हिटलर भी मुसोलिनी का सहयोगी बन गया। दोनों अधिनायकों ने स्पेन में जनरल फ्रेंको का अधिनायकवाद स्थापित करा दिया। इंग्लैण्ड व फ्रांस दोनों इस पर मौन रहे। इस सफलता से हिटलर और साहसी बन गया।

1.1.11. इंग्लैण्ड व फ्रांस की तुष्टिकरण की पुष्टि :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

फ्रांस ने तो इटली के प्रति तुष्टिकरण करने की नीति अपनाई और इंग्लैण्ड ने जर्मनी के प्रति अपनाई। मुसोलिनी ने तो इन राष्ट्रों की चुप्पी से इथोपिया पर अधिकार कर लिया। इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन ने शान्ति की नीति अपनाते हुए दो बार हिटलर के आक्रमण कार्यों को सहन किया। उन्हें यह आशा थी कि अब हिटलर शांति भंग नहीं करेगा। वास्तव में देखा जाये तो ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन तथा फ्रांस के प्रधानमंत्री देलदियर की तुष्टिकरण की नीति के कारण ही हिटलर के इतने हौसले बढ़े। यदि आस्ट्रिया पर अधिकार करते ही हिटलर को रोक दिया जाता तो सम्भवतः दूसरे विश्व युद्ध की नौबत नहीं आती है।

1.1.12. फासीवांद और नाजीवाद का उदय :

इटली में फासीवाद को जन्म दिया मुसोलिनी ने तथा जर्मनी में नाजीवाद को जन्म दिया हिटलर ने। ये दोनों ही वाद युद्ध तथा अधिनायकतन्त्र के समर्थक तथा प्रजातन्त्र के विरोधी थे। अधिनायक मुसोलिनी ने लन्दन की गुप्त सन्धि की शर्तों को पूरा कराने का प्रयास किया तो हिटलर ने वर्साय की शर्तों का उल्लंघन करने का प्रयास किया। इसके अलावा ये दोनों वाद साम्यवाद के विरोधी भी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड व फ्रांस ने भी इन अधिनायकों का समर्थन किया। इटली व जर्मनी दोनों मित्र बन गये बाद मे जापान भी इस खेमें मे आ गया। जापान में सैनिकवाद का प्रभाव था। इस प्रकार इन तीनों धुर राष्ट्रों के मेल ने यूरोप में शक्ति सन्तुलन को नष्ट कर दिया और मित्र–राष्ट्रों के समक्ष उनके अस्तित्व के लिए एक चुनौती प्रस्तुत कर दी। फासीवाद व नाजीवाद दोनों दोनों ही प्रजातन्त्र विरोधी थे।

1.1.13. मित्र राष्ट्रों के आन्तरिक मतभेद :

मित्र राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदो ने भी जर्मनी और इटली की शक्ति के विकास में बड़ा योगदान दिया। क्षतिपूर्ति की समस्या पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये थे। फ्रांस जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करना चाहता था। किन्तु ब्रिटेन का मत था कि क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने में पहले जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। इस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस मे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। ब्रिटेन 'शक्ति सन्तुलन' के सिद्धांत की नीति का समर्थक था, जबकि फ्रांस ने अपने को हर प्रकार से सुरक्षित करके यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने की नीति अपनाई। हिटलर के उत्कर्ष के बाद उसने साम्यवाद के विरुद्ध विषवमन करना आरम्भ किया और ब्रिटेन और फ्रांस साम्यवाद के हौवे से शंकित थे ही, अतः दोनों ने हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। फलस्वरूप मित्र राष्ट्र उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त वर्साय सन्धि के समय यह निर्णय लिया गया कि ब्रिटेन ने भी फ्रांस को सुरक्षा का आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। फलतः फ्रांस ने निराश होकर पोलैण्ड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया से अलग–अलग सन्धियां की। दोनों के इस प्रकार के मतभेद और जर्मनी एवं इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति को देखकर तानाशाहों का हौसला बढ़ता गया। इधर मित्र राष्ट्रो और रूस के बीच भी तीव्र मतभेद थे। ब्रिटेन, रूस के साम्यवाद की लहर को रोकने के लिए हिटलर को ढाल समझता था, इसलिए उसने जर्मनी की शक्ति बढ़ाने में भी रुचि ली। मित्र राष्ट्रो को तो साम्यवादी रूस पर विश्वास ही नहीं था। म्यूनिक सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों को तो साम्यवादी रूस पर विश्वास ही नहीं था। म्यूनिक सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने रूस को आमन्त्रित ही नहीं किया। इस पर रूस ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। रूस जानता था कि सूडेटनलैड जर्मनी को देना रूस पर आक्रमण करने के लिए अग्रिम भुगतान था। अतः उसने मित्र राष्ट्रो के प्रबल शत्रु जर्मनी से अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस प्रकार पारस्परिक अविश्वास के कारण मित्र राष्ट्रों का मोर्चा निर्बल हो गया तथा वे तानाशाहों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में कठिनाई अनुभव करने लगे। इस गम्भीर स्थिति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

1.1.14. पोलैण्ड पर आक्रमण :

उपर्युक्त गम्भीर कारणों में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बारूद का महल खड़ा हो चुका था, अब तो केवल एक चिनगारी लगाने की देर थी। यह कार्य हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके सम्पन्न कर दिया जिससे बारूद के महल में एक भयंकर विस्फोट हो गया। 1 सितम्बर 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड पर अचानक चढ़ाई कर दी। 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी को युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी, किन्तु हिटलर ने इस चेतावनी की अपेक्षा की। फलतः ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कुछ ही समय में युद्ध ने विस्तृत रूप धारण कर लिया और विश्व राजनीतिक मंच पर पुनः एक बार वीभत्स ताण्डव नृत्य आरम्भ हो गया।

5.2 युद्ध के दो दल :

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Lecturer

1. जर्मनी के विरूद्ध इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका थे, इनका दल मित्र–राष्ट्र कहलाया।

2. जर्मनी, इटली, रूस और जापान एक और थे। इनका दल धुरीराष्ट्र कहलाया।

रूस युद्ध के आरम्भ में जर्मनी की तरफ था, परन्तु बाद में वह मित्र–राष्ट्रों से मिल गया और युद्ध के अन्त तक उनके साथ रहा।

1.3 शान्ति समझौता :

युद्ध की समाप्ति पर अब यह आवश्यक हो गया कि युद्धोत्तर विश्व में स्थायी शांति की स्थापना के लिए विश्व में नयी व्यवस्था की जाय। किन्तु एक ही स्थान पर बैठकर एक समय में निर्णय लेना कठिन था। अतः इस बार परम्परागत तरीको को त्याग कर अनेक भिन्न–भिन्न स्थानो पर बैठके करके समझौते किये गए। ये बैठकें काहिरा, तेहरान, याल्टा, पोल्ट्सडम आदि स्थानो पर हुई और अनेक सम्मेलनों के पश्चात् सर्वमान्य संधियां की गई। शांति स्थापित करने के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन मित्र राष्ट्र अटलाण्टिक चार्टर, कासाब्लांका, मास्को, तेहरान, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलनों में पहले ही कर चुके थे। अतः प्रारंभिक कठिनाइयों के निराकरण के पश्चात् संधि प्रपत्र तैयार कर लिये गये। तत्पश्चात् पेरिस मे 29 जुलाई 1946 से 15 अक्टूबर 1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे तैयार किये गये सन्धि प्रपत्रों को विजयी, पराजित और युद्ध मे भाग लेने वाले अन्य राज्यों के समक्ष विचारार्थ रखे गये। दोनो पक्षों को अपने–अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया गया। अतः 1919 के शान्ति सम्मेलन की अपेक्षा इस बार पराजित राष्ट्रों के प्रति उदारता का व्यवहार किया गया, क्योंकि प्रथम युद्ध के पश्चात् सम्पन्न हुई सन्धि को पराजित राष्ट्रों पर थोपा गया था जिसके बड़े अनिष्टकारी परिणाम हुए। 1919 मे शांति सम्मेलन की समस्त कार्यवाही को गुप्त रखा गया तथा पराजित राष्ट्रों को अपमानित किया गया था। किन्तु इस बार विजयी राष्ट्रों के व्यवहार में शिष्टता थी तथा पराजित राष्ट्रो को विचार प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता थी।

पेरिस सम्मेलन में काफी विचार विनियम के पश्चात 10 फरवरी 1947 को मित्र राष्ट्रों एवं पराजित राष्ट्रों ने इन सन्धियो पर हस्ताक्षर किये। इन सन्धियो को विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पुष्टि करने हेतु 15 सितम्बर 1946 अन्तिम तिथि स्वीकार कर ली गई। फिर भी किसी पराजित राष्ट्र ने शान्ति सन्धियों को सन्तोषजनक, न्याय संगत और अच्छी नहीं माना और इन सन्धियो मे संशोधन करने हेतु उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। आस्ट्रिया, जर्मनी और जापान के साथ शांति सन्धियो के विषय मे तीव्र मतभेद बने रहे। अन्त में 1946 मे जर्मनी के साथ और 1951 में जापान के साथ सन्धि की गई। इटली ने तो 1943 में ही युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे। आस्ट्रिया ने जुलाई 1955 में शांति समझौते पर हस्ताक्षर किये। अक्टूबर 1956 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ जिससे दोनों के बीच युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी।

1.4 द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम :

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से इतिहास के एक इकाई का अथवा एक युग का अन्त हो गया। यह युद्ध मानव इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था। युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रो ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रयोग किया। फलतः युद्ध काल मे दोनो ही पक्षों को अपार क्षति उठानी पड़ी। विनाश का सबसे अधिक वीभत्स दृश्य सोवियत रूस को देखना पड़ा, क्योंकि रूस के बार बार कहने पर भी पश्चिमी राष्ट्रो ने 1944 तक धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला, इसलिये जर्मनी का प्रहार सबसे अधिक लाल सेना को ही सहन करना पड़ा। इसी प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस को भी भारी हानि उठानी पड़ी, किन्तु उनकी क्षति रूस की तुलना में कुछ कम थी। पराजित राष्ट्रो ने भी जो क्षति उठायी, उसकी तो कल्पना ही नही की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामो से एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के निम्नलिखित परिणाम निकले –

1.4.1 यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त :

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक यूरोप, विश्व इतिहास का निर्माता था किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोपियन राष्ट्र आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अपाहिज हो चुके थे। विश्व समाज को अनुशासित करने वाला यूरोप अब 'समस्या प्रधान' यूरोप बन गया। विश्व युद्ध के बाद जर्मनी पूर्णतः पंगु हो चुका था, इटली सर्वनाश के कगार पर खड़ा सिसक रहा था तथा ब्रिटेन और फ्रांस की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रो के रूप में उभर कर सामने आयी तथा विश्व के राष्ट्र तेजी से उनके प्रभाव क्षेत्रों में बंटने लगे। इस प्रकार विश्व राजनीति का नेतृत्व अब यूरोप के हाथो से निकल कर इन दो महाशक्तियो के हाथों में चला गया और ये दोनों ही परस्पर विरोधी विचारधाराओं के प्रतीक बन गये। रूस साम्यवादी विचारधारा का पोषक बन गया और अमरीका लोकतंत्र एवं पूंजीवादी आकांक्षाओं के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सहारा बन गया। विश्व राजनीतिक शिखर पर रूस और अमरिका रूपी दो सितारे चमक उठे जिन्होंने विश्व नेतृत्व की कुंजी यूरोप के हाथों से छीन ली और इस प्रकार विश्व में यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त हो गया।

1.4.2 राष्ट्रीयता एवं नव जागरण :

युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों के साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावनाएं प्रज्जवलित हुई। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने तो यूरोपीय राष्ट्रों के अवशिष्ट प्रभाव को भी समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों के साम्राज्य मे राष्ट्रीयता एवं नव जागरण की शक्तियां इतनी प्रबल हो उठी कि यूरोपीय राष्ट्रो के लिये अपने साम्राज्यों को बनाये रखना कठिन हो गया। पराजित राष्ट्रों जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्य तो छीन ही लिये गये थे किन्तु विजयी राष्ट्र भी अपने साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सके। परिस्थितियों से विवश होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया जिससे भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिस्र आदि देशों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। फ्रेंच हिन्द–चीन में फ्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि स्वतन्त्र हुए। हॉलैण्ड के उपनिवेशों जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि ने हिन्देशिया नामक संघराज्य की स्थापना की और वह भी स्वतंत्र हो गया। जर्मनी दो भागों में विभाजित हो गया, पश्चिमी जर्मनी मित्र राष्ट्रों के प्रभाव मे आ गया और पूर्वी जर्मनी पर रूस का प्रभाव स्थापित हो गया। जापान में क्यूराइल द्वीपों एवं दक्षिणी सखालिन पर रूस ने अधिकार कर लिया। फारमोसा चीन ने ले लिया और कोरिया पर अमेरिका एवं रूस ने अपने अपने क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उन्हे उपयुक्त समय पर स्वतन्त्रता देने आश्वासन दिया। यद्यपि पुर्तगाल और स्पेन आदि कुछ देश अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में अभी तक जमे हुए थे, किन्तु अब यूरोप के साम्राज्य का सूर्य अस्त हो चुका था। वस्तुतः 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका मे यूरोपीय साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और 1945 के बाद इसका उन्मूलन हो गया। वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद एशिया और अफ्रीका में इतनी तीव्र गति से घटनाएं घटी कि वहां आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों का विस्फोट हो गया। 1945 के पश्चात् यूरोपीय साम्राज्यवाद को कितना गहरा आघात पहुंचा, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि युद्ध के पूर्व विश्व की जनसंख्या का 33 प्रतिशत उपनिवेशों में निवास करता था, किन्तु आज उनकी संख्या केवल तीन या चार प्रतिशत रह गयी है।

1.4.3 दो शक्तिशाली गुटों का उत्कर्ष :

द्वितीय विश्व युद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह भी निकला कि प्राचीन शक्ति सन्तुलन पूरी तरह से नष्ट हो गया। विश्व को दो प्रमुख शक्तियों–जर्मनी और इटली का पूर्ण पराभव हो चुका था तथा फ्रांस अपने विनाश की दहलीज पर खड़ा था। ब्रिटेन आर्थिक, सामरिक और राजनीतिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक क्षीण हो चुका था। यूरोपीय महाद्वीप पर, युद्धकालीन महाक्षतियों के बावजूद शक्तिशाली होकर निकलने वाला एक मात्र राष्ट्र रूस था। किन्तु युद्धकालीन क्षति उसके लिये वरदान सिद्ध हुई। रूस को विशाल प्रदेशों की उपलब्धि हुई तथा अनेक पड़ौसी देशों पर उसकी आर्थिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। अब उसकी सीमाओं मे वे सभी प्रदेश सम्मिलित हो गये जो किसी समय जारकालीन रूस में शामिल थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद रूस को जितना अपमान सहन करना पड़ा था अब उसका उतना ही सम्मान बढ़ गया। विश्व राजनीति में साम्यवादी सिद्धान्तो में लोगों की आस्था बढ़ने लगी। पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया आदि की जो सरकारें बनी वे सोवियत रूस की मित्र बनी। आन्तरिक क्षेत्र में स्टालिन के शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। रूसी नागरिकों के आत्म विश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। अल्पकाल में ही रूसियों ने बड़े उत्साह और जोश के साथ नाजी आक्रमण के अवशेषों को मिटा दिया और शीघ्र ही वह विश्व की एक महाशक्ति बन गया। विध्वंशकारी महायुद्ध से अस्त व्यस्त विश्व में केवल एक देश ऐसा था जो सोवियत रूस का मुकाबला कर सके। यह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध में अमेरिका का कोई विशेष नुकसान नहीं हुआ था। अतः आर्थिक दृष्टि से विश्व का वह सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र था तथा विश्व के सभी पूंजीवादी राष्ट्र अमेरिका की सहायता से अपनी अर्थ व्यवस्था ठीक करने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार युद्ध के बाद विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र बन गये–सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। इन दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व में दो विरोधी गुटो का निर्माण होने लगा, जिसने भयानक शीतयुद्ध को जन्म दिया। शक्ति के इन दो प्रमुख केन्द्रों के स्थापित हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। सोवियत रूस की अपेक्षा अमेरिका के प्रभाव में निरन्तर कमी होती गयी।

1.4.4 युद्धोत्तर विश्व में सिद्धान्तों का संघर्ष :

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व मे 'सिद्धान्तों एवं आदर्शो पर बल देने की प्रवृत्ति' एक प्रमुख विशेषता बन गयी। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं ने सिर उठाया जिनमें कुछ मे तो साम्य था तो कुछ में परस्पर विरोध। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विचारधाराएं पल्लवित होती गयी और अपनी शाखाओं और उप शाखाओं का विस्तार करती रही। युद्धोपरान्त अमेरिका ने उदारवादी नीति अपनायी तथा आर्थिक दृष्टि से पस्त राष्ट्रों को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये सहायता प्रदान की। दूसरी ओर उसने पिछड़े हुए एशियायी राष्ट्रों को भी सहायता देने की नीति अपनायी। इस विचारधारा का अमेरिकन उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत रूस साम्यवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया जिसका एकमात्र लक्ष्य विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना हो गया। किसानो के समर्थन एवं पूंजीपतियों के विरुद्ध अपने आकर्षक विचारों से साम्यवाद ने स्वाधीनता का आश्वासन दिया, उनमे साम्राज्यवाद और उपनिवेशेवाद के विरुद्ध कटु प्रचार करके राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया। अपने आकर्षक आर्थिक सिद्धान्तो से एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को अपने प्रभाव में लाने में सफलता प्राप्त की। साम्यवादी रूस, पूंजीवादी अमेरिका का कट्टर शत्रु है। अतः अमेरिका एवं अन्य पूंजीवादी देशों ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का डट कर विरोध किया। इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप आज सम्पूर्ण विश्व साम्यवादी और पूंजीवादी दो खेमों में विभाजित है और प्रत्येक एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है। द्वितीय महायुद्ध के बाद 1947 में भारत की स्वतंत्रता के साथ ही असंलग्नतावाद की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह विचारधारा न तो साम्यवाद की ओर आकर्षित होने की कहती है और न पूंजीवाद की ओर। इस प्रकार भारत, विश्व में तटस्थ देशों का नेता बन गया। साम्यवाद एवं पूंजीवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए असंलग्नवाद की विचारधारा विकसित हुई थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विचारधारा को लोकप्रियता प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को इस विचारधारा का प्रबल पोषक माना गया। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक विचारधाराओं का विकास हुआ।

1.4.5 शीत युद्ध का श्रीगणेश :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर रूस और अमेरिका जैसी दो महाशक्तियों का उत्कर्ष हुआ था। नाजी जर्मन को कुचलने की समान स्वार्थ भावना के कारण युद्ध काल में रूस तथा अमेरिका एवं पाश्चात्य शक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बंध रहे, किन्तु युद्ध के बाद दोनों में मतभेद उग्र हो गये। दोनों पक्षों की विचारधाराओं मे विरोध तो पहले से ही विद्यमान था और युद्ध काल में दोनों एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे। साम्यवादी रूस युद्धकाल में निरन्तर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाता जा रहा था जिसे पश्चात्य देश रोकने का प्रयत्न करते रहे। पाश्चात्य देशों ने भी रूस को युद्धकाल मे उतना सहयोग नहीं दिया जितना देना चाहिये था। अतः युद्ध के पश्चात् दोनों पक्षों ने खुलकर एक दूसरे पर आरोप लगाये। साम्यवादी देशों का केन्द्र रूस बन गया तथा साम्यवाद विरोधी देशों का नेतृत्व अमेरिका करने लगा। दोनों के वाक् संघर्ष ने एक नये प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को जन्म दिया जिसे 'शीतयुद्ध' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार के संबंधों में विरोधी राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक संबंध बने रहते है और प्रत्यक्ष संघर्ष नही होता, किन्तु उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुतापूर्ण होता है। दोनों पक्ष अपने भाषणों में एवं समाचार पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन करते रहते है।

1.4.6 प्रादेशिक संगठन :

युद्ध के बाद कोई संतोषजनक शांति समझौता नहीं हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी रूस व अमेरिका के बीच चलने वाले शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया था। फलतः दोनों अपनी भावी सुरक्षा के लिये प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। फलस्वरूप अनेक ऐसी संधियों और संगठनों का विकास होने लगा जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को प्रोत्साहित करके साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। साम्यवादी रूस तथा उसके साथी राष्ट्रो में स्वाभाविक रूप मे पाश्चात्य शक्तियों के इन प्रयासों की प्रतिक्रिया का परिणाम यह निकला कि एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी राष्ट्रों ने साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सुरक्षा संगठनों का घेरा डालकर साम्यवाद पर अंकुश लगाने की चेष्टा की तो दूसरी ओर रूस ने अपने और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच साम्यवादी सरकारो की स्थापना करके सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी राष्ट्रों के सुरक्षा संगठनों मे 'उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन', दक्षिणी पूर्वी एशिया संधि संगठन, बगदाद पेक्ट आदि उल्लेखनीय है। साम्यवादी सुरक्षा संगठनों में वारसा पेक्ट प्रमुख है।

1.4.7 निशस्त्रीकरण :

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भी निशस्त्रीकरण के प्रयास होते रहे थे, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इस समस्या का महत्व अधिक बढ़ गया था, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध में नये–नये वैज्ञानिक अस्त्र शस्त्रों तथा अणु बम जैसे विनाशकारी शस्त्रों का प्रयोग हो चुका था, जिससे भावी विश्व में शान्ति बनाये रखना अत्यन्त ही आवश्यक हो गया था। क्योंकि विनाशकारी शस्त्रों में आविष्कार के कारण यदि अब विश्व में तृतीय युद्ध लड़ा गया तो विश्व मात्र राख का ढेर बन कर रह जायेगा। अतः युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मे अस्त्र शस्त्रों को सीमित करने के प्रश्न पर गम्भीर रूप से विचार होने लगा। इस प्रश्न के समाधान के लिये सरकारी और गैर सरकारी दोनों स्तरों पर प्रयत्न किये जाने लगे। किन्तु रूस और अमेरिका के बीच इस प्रश्न के संबंध मे गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। एक पूर्णतः निशस्त्रीकरण का पक्षपाती है तो दूसरा आंशिक निशस्त्रीकरण चाहता है। इन मतभेदों के कारण निशस्त्रीकरण के सभी प्रयास विफल हुए है। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से लगातार आज तक किसी भी देश ने निशस्त्रीकरण के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है और उसका महत्व आज भी है।

1.4.8 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना :

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से सभी राष्ट्र आंतकित थे। इस युद्ध के भीषण ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञो को मानव जाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित बनाए रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव कराई। पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका पिछले राष्ट्र संघ से एक भिन्न संगठन बनना चाहते थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था, ''राष्ट्रसंघ की असेम्बली जैसी संस्था के पुनर्निर्माण से अधिक निरर्थक कोई अन्य कार्य नहीं है।'' युद्धकाल में ही इसकी स्थापना के प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। अक्टूबर 1943 में मास्को सम्मेलन मे सामान्य सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने का विचार स्वीकार किया। तत्पश्चात् भिन्न–भिन्न बैठकों में इसके संगठन एवं विधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा जून 1945 मे सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसे अन्तिम रूप दिया गया। इसके बाद 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान को लागू कर दिया गया। निष्कर्षतः द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव से विश्व का कोई भी राष्ट्र अछूता नहीं रहा। यहां तक कि जो देश इस युद्ध मे तटस्थ रहे वे भी इसके प्रभावों से मुक्त नहीं रह सके। युद्ध के परिणामस्वरूप शक्ति सन्तुलन ब्रिटेन के हाथों से निकल कर अमेरिका के हाथों में आ गया। वैज्ञानिक आविष्कारों की दौड़ आरम्भ हुई। 'शांति को बनाये रखने' के नाम पर नये नये विध्वंशक अस्त्र शस्त्रो का निर्माण आरम्भ हो गया। यद्यपि नये नये आविष्कारकर्त्ता राष्ट्रों का कहना है कि वे इनका प्रयोग शांतिपूर्ण उपायो के लिए करेंगे। किन्तु वास्तव में इनका प्रयोग शांतिपूर्ण उपायों के लिये होगा या युद्ध के लिए कहना कठिन है।

1.5 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – स्पेन में गणतन्त्र की स्थापना कब हुई?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – द्वितीय विश्व युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्रों का उल्लेख करिए ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण और परिणामों की विवेचना किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 2

राष्ट्रसंघ : उद्देश्य, उपलब्धियाँ एवं अफसलता के कारण

2.0 भूमिका

2.1 उद्देश्य और सदस्यता

2.2 राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग

2.2.1 असेम्बली

2.2.2 कौसिल

2.2.3 सचिवालय

2.2.4 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.2.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन
2.3 राष्ट्रसंघ के प्रशासनिक एवं संरक्षण सम्बन्धी कार्य
2.3.1 प्रशासनिक कार्य
2.3.2 संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य
2.3.3 अल्पसंख्यकों के हितों के सुरक्षा सम्बन्धी कार्य
2.4 राष्ट्रसंघ के आर्थिक, सामाजिक और मानवीय कार्य
2.4.1 आर्थिक सहयोग
2.4.2 शरणार्थी सहायता
2.4.3 बौद्धिक सहयोग
2.4.4 स्वास्थ्य और चिकित्सा
2.4.5 नारी कल्याण और बाल कल्याण
2.4.6 अन्य कार्य
2.5.1 राजनैतिक कार्य
2.5.1 अल्बानिया का सीमा विवाद
2.5.2 आयरलैड द्वीप समूह की समस्या
2.5.3 ऊपरी साइलेशिया विवाद
2.5.4 यूनान–बल्गेरिया का विवाद
2.5.5 पेरू और कोलम्बिया का विवाद
2.5.6 मौसुल की समस्या
2.5.7 मंचूरिया का विवाद
2.5.8 बोलीविया–पेरागुए विवाद
2.5.9 इथोपिया का अन्त
2.5.10 स्पेन का गृह–युद्ध
2.5.11 रूसी–फिनिश युद्ध
2.6 राष्ट्रसंघ के कार्यों की समीक्षा
2.7 राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण
2.7.1. सांविधानिक दुर्बलता
2.7.2. अमेरिका का असहयोग
2.7.3. संघ की स्वरूप सम्बन्धी दुर्बलता
2.7.4. वर्साय की सन्धि से जन्म
2.7.5. सदस्य राज्यों के दृष्टिकोणों में आधारभूत अन्तर
2.7.6. अधिनायकवाद का उदय
2.7.7. आक्रांताओं का संरक्षक
2.7.8. निःशस्त्रीकरण में असफलता
2.7.9. महान् आर्थिक मन्दी
2.7.10 . अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव
2.7.11. उग्र राष्ट्रीयता
2.7.12. सदस्य राज्यों की सिद्धान्तहीनता और राष्ट्रसंघ में अनास्था

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.7.13. अन्तर्राष्ट्रीय सेना का अभाव

2.8 बोध प्रश्न

2.0 भूमिका :

प्रथम महायुद्ध में ही एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण की बात चल पड़ी थी जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का महत्वपूर्ण साधन बन सके। युद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ के लिए अनेक योजनाएं प्रस्तावित की गई। 14 फरवरी, 1919 को राष्ट्रसंघ आयोग ने राष्ट्रसंघ का अन्तिम प्रारूप तैयार किया, 28 अप्रैल को उसे स्वीकार किया गया और 10 जनवरी, 1920 से उसे लागू कर दिया गया। वर्साय की सन्धि की प्रथम 26 धाराओं मं राष्ट्रसंघ की व्यवस्था की गई। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में रखा गया।

2.1 उद्देश्य और सदस्यता :

इस अन्तर्राट्रीय संस्था के उद्देश्य मुख्यतः ये थे –

1. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना,
2. भावी युद्ध की सम्भावना को रोकना तथा समस्याओं को मैत्रीपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करना,
3. वैयक्तिक स्वार्थ के स्थान पर प्रत्येक कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से करना,
4. 1919–20 की शान्ति सन्धियों द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करना,
5. यूरोप में सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की भावनाओं को हतोत्साहित करना और निःशस्त्रीकरण पर विशेष रूप से बल देना, एवं
6. सभी राष्ट्रों का सम्मान करते हुए किस भी राष्ट्र के विकास के मार्ग में बाधाएं उपस्थित न करना।

राष्ट्रसंघ के सदस्य दो भागों मे विभाजित थे– मौलिक और प्रविष्ट। मौलिक सदस्य वे थे जिन्होंने शान्ति सन्धियों या वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे और जो संघ का सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किए गए थे। वे नए राष्ट्र जिन्हें राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाता था, प्रविष्ट सदस्य होते थे।

2.2 राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग :

राष्ट्रसंघ के तीन प्रमुख अंग थे – असेम्बली, कौसिल और सचिवालय। इसके दो स्वायत्त अंग थे– अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन।

2.2.1 असेम्बली :

असेम्बली या साधारण सभा राष्ट्रसंघराष्ट्रसंघ की प्रतिनिध्यात्मक एवं व्यापक अंग थी। इसमें संघ के सभी सदस्य राष्ट्र सम्मिलित थे और प्रत्येक राष्ट्र को समान रूप से एक मत देने का अधिकार था, यद्यपि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने तीन प्रतिनिधि भेज सकता था। असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर मास में जेनेवा नगर में होता था। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त असाधारण अधिवेशन बुलाने की भी व्यवस्था थी। राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव के अनुसार असेम्बली अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनती थी और इस सम्बन्ध मे नियम भी बनाती थी। यह प्रतिवर्ष एक अध्यक्ष तथा आठा उपाध्यक्षों का निर्वाचन करती थी। असेम्बली की सहायता के लिए स्वयं असेम्बली द्वारा गठित छः स्थायी समितियां बनी हुई थी। इनके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के समाधान हेतु समितियां बनाने के लिए भी असेम्बली स्वतन्त्र थी। असेम्बली मे मतदान की चार पद्धतियां थी। कुछ विषयो के लिए दो–तिहाई बहुमत की और कुछ के लिए पूर्ण बहुमत आवश्यक था।

असेम्बली का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था। राष्ट्रसंघ के क्षेत्राधिकार में आने वाले किसी भी विषय पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रभावित करने वाले किसी भ्ज्ञी विषय पर असेम्बली विचार कर सकती थी। मोटे तोर पर उसके तीन कार्यक्षेत्र थे – निर्वाचन सम्बन्धी, अंगीभूत सम्बन्धी और परामर्श सम्बन्धी। निर्वाचन सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के असेम्बली का काम –

1. दो–तिहाई मतों से संघ्ज्ञ के नए सदस्यों का चुनाव,

Jan Kranti Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. साधारण बहुमत द्वारा कौसिल के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों का निर्वाचन और 3. कौसिल द्वारा नियुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति की पुष्टि करना था।

अंगीभूत कार्यों के अन्तर्गत असेम्बली संविदा के नियमो में संशोधन कर सकती थी, परन्तु ऐसे संशोधन कौसिल तथा प्रभावित देशों द्वारा स्वीकार्य होने जरूरी थे। परामर्श सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत असेम्बली अन्तर्राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धित किसी भी सामान्य प्रश्न पर विचार कर सकती थी और कौसिल को अपना परामर्श भेज सकती थी; परन्तु असेम्बली स्वयं कोई कार्य नही कर सकती थी; केवल परामर्श दे सकती थी।

प्रथम असेम्बली को विल्सन ने आहूत किया था और 15 नवम्बर, 1920 को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। असेम्बली का अन्तिम अधिवेशन 18 अप्रैल, 1946 को हुआ था। इस अधिवेशन में उपस्थित 34 सदस्यो ने सर्वसम्मति से राष्ट्रसंघ को विघटित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

2.2.2 कौंसिल :

कौसिल अथवा परिसद् राष्ट्रसंघ की एक लघु समिति के समान थी। इसे प्रायः संघ की कार्यकारिणी भी कहा जाता है। कौसिल में दो प्रकार के सदस्य थे – स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में स्थायी सदस्यों की संख्या 5 और अस्थायी सदस्यों की संख्या 4 रखी गई थी, परन्तु बाद में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 9 कर दी गई। अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान को स्थायी सदस्यता प्रदान की गई थी, परन्तु अमेरिका द्वारा शान्ति समझौतो का अनुसमर्थन न किए जाने से अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन पाया। असेम्बली प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए तीन अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करती थी।

परिषद् के निर्णय प्रायः निर्विरोध होते थे। केवल रीति विषयक मामलों, अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित धाराओं के संशोधन, संघ के सदस्य राष्ट्रों के आपसी विवादों के सम्बन्ध में सिफारिश सम्बन्धी मामलों में कौसिल बहुमत से निर्णय ले सकती थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भांति राष्ट्रसंघ के स्थायी सदस्यों को ''निषेधाधिकार'' (वीटो) प्राप्त नहीं था। कौसिल की अध्यक्षता, कौसिल के सदस्यों में से, प्रति सम्मेलन पर सदस्यो की फ्रेंच नामावली के क्रमानुसार बदलती रहती थी। कौसिल मे जब कोई ऐसा वाद–विवाद चल रहा हो, जिसमें किसी राष्ट्र का स्वार्थ प्रभावित होता हो, तो उसके प्रतिनिधि को भी कौसिल की बैठक में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता था। कौसिल एक वर्ष में तीन–चार बार अपनी बैठक में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता था। कौसिल एक वर्ष में तीन–चार अपनी बैठक करती थी, परन्तु विशेष समस्या उपस्थित होने पर किसी भी समय अपनी बैठक कर सकती थी।

असेम्बली की भांति कौसिल का कार्यक्षेत्र भी असीमित था। उसके मुख्य कार्य इस प्रकार थे –

1. महासचिव द्वारा की गई विभागीय नियुक्तियों को स्थायी करना।

2. निः शस्त्रीकरण के लिए योजनाएं बनाना तथा युद्ध के खतरों को टालना तथा उन देशों को सहयोग देना जो युद्ध सामग्री का निर्माण करने में असमर्थ हों।

3. आक्रामक कार्यवाही के समय सम्बन्धित देशों को कर्त्तव्य पालन करने का सुझाव देना।

4. प्रतिश्रव की सुरक्षा के लिए यदि सैनिक कार्यवाही की आवश्यकता आ पड़े, तो कौन देश कितनी सैनिक सहायता देगा – इसका निर्णय करना।

5. प्रतिश्रव के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्य को सदस्यता से पृथक् करना।

6. मेंडेट पद्धति के अन्तर्गत बड़े राज्यों के संरक्षण मे रखे गए देशों के बारे में वार्षिक रिपोर्ट मंगवाना तथा उस पर विचार करना। इसके अतिरिक्त, कौसिल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य झगड़ों को निपटना था।

कौसिल को इन झगड़ो को असेम्बली के पास भी भेजना पड़ता था। इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सारघाटी, डेन्जिग और मिश्रित आयोगों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी अनेक काम करने पड़ते थे। असेम्बली के साथ मिलकर कौसिल को निम्नलिखित कार्य करने पड़ते थे –

1. कौसिल के अतिरिक्त स्थायी सदस्यों की नियुक्ति।
2. अतिरिक्त अस्थायी सदस्यों की संख्या निर्धारित करना।
3. राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. शान्ति सन्धियों में संशोधन।

5. अन्तर्राष्ट्री न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन।

6. न्यायालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति।

इन सभी कार्यों के लिए असेम्बली और कौसिल का मिला–जुला क्षेत्राधिकार था। इस प्रकार, कौसिल वास्तव में राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली अंग था।

2.2.3 सचिवालय :

सचिवालय राष्ट्रसंघ का स्थायी प्रशासनिक अंग था। इसका केन्द्र जेनेवा में था। इसे राष्ट्रसंघ का ''सर्वाधिक उपयोगी और सबसे कम विवादास्पद अंग'' कह कर पुकारा गया है। इसमें लगभग 600 अधिकारी, कर्मचारी और विशेषज्ञ काम करते थे और उनकी नियुक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा के सिद्धांत पर की जाती थी। सचिवालय का प्रधान अधिकारी ''महासचिव'' कहलाता था। इसकी नियुक्ति असेम्बली की स्वीकृति के साथ कौसिल करती थी। ग्रेट ब्रिटेन के सुयोग्य राजनीतिज्ञ सर ड्रयूमण्ड ने 1920 से लेकर 1933 तक इस पद पर कार्य किया था। महासचिव की सहायता के लिए दो उपसचिव और दो सहायक सचिव होते थे। सचिवालय के 11 विभाग थे। प्रत्येक विभाग एक निदेशक के अधिकार में रहता था।

सचिवालय असेम्बली और कौसिल दोनों के लिए कार्य करता था। सचिवालय असेम्बली तथा कौसिल के विचारणीय विषयों की सूची तैयार करता था; बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था; बैठकों की व्यवस्था करता था; विविध विषयों के मसौदे तैयार करता था; संधियों को पंजीबद्ध करता था और इसी प्रकार के अनेक प्रशासनिक कार्य करता था।

2.2.4 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय :

प्रारंभ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए असेम्बली और कौसिल द्वारा 9 वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त 11 न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी; परन्तु कुछ समय बाद न्यायाधीशों की संख्या को बढ़ाकर 15 कर दिया गया। न्यायालय के अध्यक्ष का चुनाव स्वयं न्यायाधीशों द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष होती थी। हेग नगर को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का केन्द्र चुना गया। न्यायालय का वार्षिक बजट लगभग पांच लाख डालर था जो कि राष्ट्र संघ द्वारा चुकाया जाता था। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार था – ऐच्छिक और अनिवार्य। जब कोई राज्य विशिष्ट समझौते के अन्तर्गत किसी झगड़े को इस न्यायालय के निर्णयार्थ प्रस्तुत करता था, तो वह न्यायालय के ऐच्छिक क्षेत्राधिकार में आता था। इसका अधिकार अनिवार्य तब होता था, जब सन्धि के द्वारा राज्यों के बीच यह समझौता होता कि सन्धि संबंधी झगड़ों को इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए और सन्धि करने वाले राज्यों ने साफ तौर से इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अपने ऊपर अनिवार्य मान लिया हो।

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र तो ऐसे मामलों से था जो कानूनी प्रकृति के हो। इसके अन्तर्गत संधियों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून संबंधी किसी भी प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन, उल्लंघन के लिए क्षतिपूर्ति का रूप एवं उसकी सीमा की व्याख्या करना शामिल था। न्यायालय में अभियोग के वादी–प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही (जिनमें स्वतंत्र उपनिवेश भी सम्मिलित थे) उपस्थित हो सकते थे। मूलतः न्यायालय का कार्य तो केवल उन्हीं मामलों के विचार तक सीमित कर दिया गया था जो राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बीच में होते थे; परन्तु बाद में गैर–सदस्य राष्ट्रो के लिए भी इस न्यायालय का द्वार खोल दिया गया। न्यायालय को कौसिल तथा असेम्बली को मांगने पर सलाह देने का भी अधिकार था। यद्यपि न्यायालय के सुझाव अनिवार्य नही होते थे परन्तु प्रायः उन्हे स्वीकार कर लिया जाता था।

2.2.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन :

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन यद्यपि एक स्वायत्त संस्था थी, फिर भी यह राष्ट्रसंघ का एक अंग थी। इसका केन्द्र जेनेवा में था और इसका संगठन राष्ट्रसंघ का एक अंग थी। इसका संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन में मिलता–जुलता था। इसकी एक साधारण सभा, एक शासकीय परिषद् और एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय था। इसका निर्माण पेरिस शांति सम्मेलन द्वारा, संगठित श्रमिकों की मांगों को संतुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने के लिए एक समान प्रयास का परिणाम था। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण संसार में श्रमिक संबंधी कानूनों के निर्माण में एकरूपता लाने का प्रयत्न करना था। निःसंदेह संगठन ने समय–समय पर सदस्य राष्ट्रों तथा अन्य राष्ट्रो को सुझाव भेजे परन्तु इसके कार्यो को केवल सुझाव मान लिया गया और इन सुझावों को कार्यान्वित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करने की दिशा में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया। संगठन के कार्यों में समय और परिश्रम लगा, उसको देखते हुए उसकी उपलब्धियां नगण्य कही जा सकती है।

2.3 राष्ट्रसंघ के प्रशासनिक एवं संरक्षण सम्बन्धी कार्य :

राष्ट्रसंघ ने दो महायुद्धों के बीच प्रशासनिक, राजनीतिक और गैर–राजनीतिक सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से यह असफल रहा, तथापि गैर–राजनीतिक क्षेत्र में इसे महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

2.3.1 प्रशासनिक कार्य :

राष्ट्रसंघ का जन्म शान्ति–सन्धियों से हुआ था, अतः इसे कुछ महत्वपूर्ण प्रशासकीय कार्य सौपे गए –

1. वर्साय की सन्धि के अनुसार इसे सार बेसिन पर 15 वर्ष तक शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। सन् 1935 में राष्ट्रसंघ परिषद् द्वारा इस क्षेत्र में जनमत संग्रह कराया गया। जनमत संग्रह के निर्णय के आधार पर। 1 मार्च, 1935 को राष्ट्रसंघ ने सार का प्रशासन जर्मनी को सौपकर अपने एक उत्तरदायित्व से मुक्ति पाई।

2. डजिंग के जर्मन बन्दरगाह को राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया था। इस नगर के शासन की देखरेख के लिए राष्ट्रसंघ ने एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की। डेजिंग तथा पोलैण्ड के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे और डेजिंग के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिल सकी। आगे चलकर डेंजिग में नाजियों का प्रभाव बढ़ गया और उपद्रव होने लगे। सन् 1939 में डजिंग तथा पोलिश गलियारे की समस्या को लेकर ही द्वितीय महायुद्ध हुआ।

2.3.2 संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य :

संरक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ पर यह दायित्व था कि वह भूतपूर्व जर्मन साम्राज्य के उपनिवेशों और टर्की के खलीफा साम्राज्य के अरब उपनिवेशों के कल्याण और उन्नति की व्यवस्था करें। राष्ट्रसंघ ने इस प्रदेशों और उपनिवेशों का शासनाधिकार विभिन्न दशों को सौपा जिन्हें संरक्षक राज्य कहा गया। ये संरक्षक राज्य राष्ट्रसंघ के साथ किए गए समझोतों के अनुसार उनको सौपे गये भू–भागों का प्रबन्ध करते थे। उन्हें अपने शासन–प्रबन्ध की रिपोर्ट प्रतिवर्ष राष्ट्रसंघ को देनी पड़ती थी संघ का स्थाई संरक्षण आयोग उन रिपोर्टों की जांच करता था, याचिकाएं सुनता था और परिषद् को आवश्यक सिफारिशें करता था।

संरक्षण अथवा मैण्टैट शासन के अधीन 14 क्षेत्र थे जिन्हें 'बी' 'सी' श्रेणियों में विभाजित किया गया। ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, जापान और दक्षिण अफ्रीकन संघ ये संरक्षक राज्य थे। संरक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वाधिक लाभ ब्रिटेन और फ्रांस को हुआ।

राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था सिद्धान्त और व्यवहार में भिन्न रही। व्यवहार में यह व्यवस्था साम्राज्यवाद का एक नवीन स्वरूप सिद्ध हुयी। संरक्षक राज्यों ने अपने अधीन संरक्षित प्रदेशों का शोषण किया और अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए वहां दमन चक्र चलाया।

2.3.3 अल्पसंख्यकों के हितों के सुरक्षा सम्बन्धी कार्य :

प्रथम महायुद्ध के बाद भूतपूर्व साम्राज्यों के अल्पसंख्कों और उनकी पुनर्व्यस्था की गम्भीर समस्या उत्पन्न हुयी। विभिन्न प्रयासों के बावजूद यूरोप में लगभग 16 करोड़ 80 लाख राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शेष थे जिनके सरक्षण के लिए क्रांति सम्मेलन में राष्ट्रों ने आपस में कुछ संधियां की। इन सन्धियों की व्यस्थाओं को लागू करने का भार राष्ट्रसंघ को सौपा गया। राष्ट्रसंघ पर लगभग 3 करोड़ अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का भार पड़ा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ और विविध राज्यों के बीच कई समझौते हुए।

विभिन्न कठिनाइयों और परिस्थितियों के कारण राष्ट्रसंघ अल्पसंख्यकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाया। अल्संख्यक संधियों से विमुक्त देश अल्पसंख्यकों के साथ निर्दयता का व्यवहार करते रहे। साथ ही सन्धियों से बंधे हुए देशों में भी अल्पसंख्यकों को परा संरक्षण नहीं मिला। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने अल्पसंख्याकों के आवेदनों पर विचार किया। उनकी कुछ असुविधाओं को दूर भी किया, परन्तु स्थायी एकरूपता लाने में वह असफल रहा जिसके परिणामस्वरूप अल्पसंख्यको के अधिकारों की रक्षा के प्रति उदासीन हो गए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.4 राष्ट्रसंघ के आर्थिक, सामाजिक और मानवीय कार्य :

राष्ट्रसंघ ने आर्थिक, सामाजिक आदि मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तराष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखते हुए कार्य किया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नवीनयुग का सूत्रपात हुआ। संघ के प्रयत्नों से विश्व इतिहास में सम्भवतः पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर भी गम्भीर रूप से विचार–विमर्श प्रारम्भ हुआ।

2.4.1 आर्थिक सहयोग :

संघ ने युद्ध से जर्जर राज्यों की अर्थव्यवस्था को पुनः स्थापित करने का उत्तरदायित्व सम्भाला। उसने विश्व के राष्ट्रों को स्वस्थ आर्थिक नीतियां अपनाने को प्रेरित किया। संघ ने अनेक आर्थिक और वित्तीय समुदायों की स्थापना की जिन्होंने आंकड़ों के संकलन तथा आर्थिक समस्याओ के क्षेत्र में उपयोगी शोध कार्य किए। आर्थिक संकट ग्रस्त देशो के पुनर्निर्माण के लिए संघ ने वित्तीय सहायता प्रदान की। आस्ट्रिया, हंगर, बल्गारिया, डेजिंग आदि के आर्थिक पुनर्निर्माण में राष्ट्रसंघ बहुत सहायक सिद्ध हुआ। डेजिग के लिए न केवल एक विशेष मुद्रा की व्यवस्था की गयी बल्कि एक केन्द्रीय बैंक भी स्थापित किया गया।

2.4.2 शरणार्थी सहायता :

शरणार्थियो को बसाने और उनके पुनर्निर्माण के क्षेत्र मे भी राष्ट्रसंघ की उल्लेखनीय भूमिका रही। शरणार्थी सहायता कार्य के लिए संघ ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय की स्थापना की जिसके निर्देशन मे लाखों रूसी, यूनानी और आर्मेनियन पुनः बसाये गए। राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से स्थापित यूनानी शरणार्थी बोर्ड ने यूनानी शरणार्थियों को बसाने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया और संघ ने इसके लिए यूनानी सरकार की दो भारी ऋण भी दिए।

2.4.3 बौद्धिक सहयोग :

राष्ट्रसंघ ने बौद्धिक सहयोग के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया। इसने बौद्धिक सहयेाग के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का वैज्ञानिक अध्ययन, शिक्षा सम्बन्धी सूचना एकत्र करना, स्मारकों एवं कला आदि के कार्यो की सुरक्षा, राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में युवकों की शिक्षा प्रौढ़ तथा श्रमिकों की शिक्षा की समस्या के राष्ट्रीय केन्द्रों का एकीकरण, वैज्ञानिक, अजायबघरों और थियेटरों, संगीत और कविता में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सहयोग आदि। राष्ट्रसंघ ने बौद्धिक सहयोग की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने, राष्ट्रसंघ की समिति ने और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समितियों ने पूर्णतः बौद्धिक सहयोग संगठन का रूप धारण कर लिया। इस संगठन द्वारा सम्मेलनों, विचार गोष्ठियों और वाद–विवादों का अयोजन किया गया। सामूहिक शिक्षा पर साहित्य प्रकाशित किया गया। अनेक उच्च कोटि की साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित की गई। अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक मैत्री का प्रसार किया गया। इस प्रकार विभिन्न कार्यों द्वारा विश्व शान्ति की स्थापना में सहयेाग दिया गया।

2.4.4 स्वास्थ्य और चिकित्सा :

इन क्षेत्रों मे राष्ट्रसंघ का कार्य बहुत ही सराहनीय रहा। इसने स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की। इसके प्रयत्नों के फलस्वरूप नगरों मे मृत्यु दर कम हो गई। ग्रामीण स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए। युद्ध की समाप्ति के बाद रूस में टायफस की भयंकर महामारी फैली। राष्ट्रसंघ की स्वास्थ्य समिति ने हैजा, मलेरिया, चेचक, तपैदिक आदि भयानक रोगों के कारणों की जांच की और इनकी रोकथाम के उपाय खोजे।

2.4.5 नारी कल्याण और बाल कल्याण :

राष्ट्रसंघ ने स्त्रियों के अनैतिक व्यापार को रोकने, अश्लील प्रकाशनों को रोकने और वेश्यावृति का अन्त करने के लिए काफी प्रयत्न किए। उसके प्रयासों से विवाह की आयु से सम्बन्धित कानूनों मे सुधार हुए और गैर–कानूनी बच्चों की समस्या पर अनेक देशों में सुधार–नियम पारित हुए।

2.4.6 अन्य कार्य :

राष्ट्रसंघ ने परिवहन तथा संचार, बिजली और जल के वितरण मादक द्रव्यो पर नियन्त्रण, दासता और बेरोजगारी की समाप्ति, युद्धबन्दियों को रिहाई आदि के क्षेत्र में भी उल्लेखिनीय सफलताएं प्राप्त की।

2.5.1 राजनैतिक कार्य :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.1 अल्बानिया का सीमा विवाद :

अल्बानिया एक छोटा–सा देश था जो कि यूनान और यूगोस्लाविया के पश्चिम में स्थित था। यूनान और यूगोस्लाविया दोनों ही इस देश को हड़पना चाहते थे परन्तु राष्ट्रसंघ ने उसे एक स्वतंत्र राज्य की मान्यता दे दी। 1921 ई. मे अल्बानिया और यूगोस्लाविया में सीमा–विवाद उठ खड़ा हुआ और यूगोस्लाविया के कुछ सैनिक दस्ते अल्बानिया की सीमा के भीतर तक जा पहुंचे। अल्बानिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की और संघ के हस्तक्षेप से दोनों देशों के मध्य समझौता हो गया।

2.5.2 आयरलैंड द्वीप समूह की समस्या :

बाल्टिक सागर में स्थित आलैंड द्वीप समूह के स्वामित्व के प्रश्न पर फिनलैंड और स्वीडन के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल ने राष्ट्रसंघ का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया। कौसिल ने तीन सदस्यों की एक जांच समिति नियुक्त की। इस समिति ने फिनलैण्ड के पक्ष में निर्णय दिया। कौसिल ने आयरलैंड द्वीप समूह पर फिनलैंड की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार किया। स्वीडन ने भी कौसिल के निर्णय को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, विवाद का अन्त हुआ।

2.5.3 ऊपरी साइलेशिया विवाद :

1921 में पोलैण्ड और जर्मनी के मध्य ऊपरी साइलेशिया की सीमांत रेखा को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। इस विवाद को राष्ट्रसंघ के सामने रखा गया। कौसिल ने दोनों देशों में समझौता करवाकर इस विवाद को हल किया।

2.5.4 यूनान–बल्गेरिया का विवाद :

1925 ई. मे यूनानी सैनिक दस्ते यूनान बल्गेरियन सीमांत पर एकत्र हो गये और कुछ सैनिक दस्ते वास्तव मे बल्गेरिया सीमा में घुस गये जिससे सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। बल्गेरियन सरकार ने इस विवाद को राष्ट्रसंघ के सामने रखा। कौसिल ने फ्रेंच, ब्रिटिश और इटालियन सेनाधिकारियों को घटनास्थल पर भेजा और दोनों देशों को अपनी–अपनी सेनाएं अपनी–अपनी सीमा में हटा लेने को कहा गया। दोनों देशों ने इसे स्वीकार कर लिया। बाद में संघ ने एक जांच समिति नियुक्त की। समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौसिल के उत्तरदायित्व के प्रश्न का निर्णय किया; हर्जाना निश्चित किया और भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए दोनों देशों को आवश्यक निर्देश भी दिये।

2.5.5 पेरू और कोलम्बिया का विवाद :

1932 ई. में पेरू और कोलम्बिया सशस्त्र इडप पर उतर आये। पेरू ने कोलम्बिया ने लौटिशया नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। कोलम्बिया के अनुरोध पर राष्ट्रसंघ ने इसमे हस्तक्षेप किया। राष्ट्रसंघ ने इस नगर को अपने एक आयोग को सौप दिया। 1934 ई. मे संघ के प्रयत्नों से दोनों देशों में समझौता हो गया। पेरू ने अपने कार्य के लिए क्षमा मांग ली और यह नगर पुनः कोलम्बिया को लौटा दिया गया।

2.5.6 मौसुल की समस्या :

1962 ई. मे मौसुल के सम्पन्न तेल क्षेत्र के स्वामित्व को लेकर इराक और तुर्की मे झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इराक पर इस समय ग्रेट ब्रिटेन का संरक्षण था। यह प्रथम अवसर था जबकि राष्ट्रसंघ के सम्मुख आने वाली राजनीतिक समस्याओं में एक महान् शक्ति सम्मिलित थी। संघ का निर्णय ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष में रहा। निर्बल और कमजोर तुर्की को कुछ छोटी–छोटी सुविधाएं देकर संतुष्ट कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ महान् शक्ति से टक्कर लेने से बच गया और समस्या का समाधान भी हो गया।

2.5.7 मंचूरिया का विवाद :

सुदूरपूर्व की समस्याओं को सुलझाने मे तो राष्ट्र संघ पूर्णरूप से असफल रहा। जापान ने संधि–व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए, अचानक चीन के मुगदन नगर और मंचूरिया के अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया। चीन ने राष्ट्रसंघ से अपील की। संघ चीन को मंचूरिया वापस दिलवाने मे असफल रहा। चीन की निरन्तर अपीलों पर राष्ट्रसंघ ने घटना स्थल पर एक जांच आयोग भेजा और इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान को आक्रामक घोषित किया और उसके कार्यो को अवैधानिक ठहराया। संघ ने इस संबंध में प्रस्ताव भी पास किये। परन्तु केवल प्रस्तावो को पारित करने के अतिरिक्त संघ इस दिशा में सक्रिय कदम उठाने में असफल रहा और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तब तक जापान ने लगभग सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और अपने संरक्षण में एक स्वतंत्र ''मंचूको'' राज्य की स्थापना भी कर दी। संघ एक दर्शन की भांति तमाशा देखता रहा। 1935 ई. में जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को इस्तीफा दे दिया और 1937 ई. मे उसने बड़े पैमाने पर चीन में अपनी आक्रामक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। जुलाई 1937 ई. मे चीन ने जापानी कार्यवाहियो का चिट्ठा भेजते हुए संघ से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। परन्तु राष्ट्रसंघ न तो चीन को उसकी भूमि ही दिलवा सका और न उसकी प्रादेशिक अखण्डता को कायम रख सका; न युद्ध बन्द करवा सका और न जापान को दण्डित कर सका। 28 सितम्बर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास करके जापान द्वारा चीन में की जाने वाली कार्यवाहियों की निन्दा अवश्य की। जापान की कार्यवाही ने राष्ट्रसंघ की निर्बलता को स्पष्ट कर दिया और इससे हिटलर और मुसोलिनी जैसे अधिनायकों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला।

2.5.8 बोलीविया–पेरागुए विवाद :

1928 ई. में दक्षिण अमेरिका के दो राज्यों–बोलीविया और पेरागुए जो कि संघ के सदस्य भी थे, के मध्य स्थित चाको प्रांत को लेकर युद्ध छिड़ गया। पेरागुए ने चाको प्रान्त के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। यह मामला राष्ट्र संघ के सामने लाया गया। संघ ने विचार–विमर्श के उपरान्त घटनास्थल पर एक आयोग भेजा। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। लगभग तीन साल तक युद्ध जारी रहा। नवम्बर 1934 में संघ ने फिर कई सुझाव भेजे। बोलीविया ने तो इन सुझावों को स्वीकार कर लिया परन्तु पेरागुए ने इन सुझावों को ठुकरा दिया। जब संघ ने उस पर अधिक दबाव डाला तो उसने संघ की सदस्यता ही त्याग दी। दोनों राज्यों के बीच तनावपूर्ण स्थिति का अन्त तभी हो सका जबकि अमेरिका के 6 राज्यों ने सामूहिक हस्तक्षेप किया।

2.5.9 इथोपिया का अन्त :

इथोपिया (अबीसीनिया) में इटली की आक्रामक कार्यवाही को नियंत्रित करने में राष्ट्रसंघ के खोखलेपन को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया। चीन में जापान की कार्यवाही को नियंत्रित करने में असफल रहने पर राष्ट्रसंघ की तरफ से यह दलील दी गई थी कि अमेरिका के सहयोग के बिना प्रशान्त महासागर में जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना संभव नहीं है। परन्तु अब इटली के मामले में इस प्रकार की दलील के लिए कोई स्थान नहीं था। इटली और इथोपिया दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। इटली ने इथोपिया को हड़पने की तैयारी आक्रमण की तिथि से बहुत समय पहले ही कर रखी थी। स्वेजनहर के मार्ग से इटालियन सैनिक और अस्त्र–शस्त्र इटालियन सोमालीलैण्ड में पहुंचते रहे और राष्ट्रसंघ में कोई भी ऐसा न था जो इस तरफ ध्यान दे सके। 3 अक्टूबर 1935 को इटली की सेना ने इथोपिया की सीमा में प्रवेश किया और इथोपिया ने उसी समय राष्ट्रसंघ को इसकी सूचना भेज दी। 5 अक्टूबर को इथोपियाई प्रतिनिधि ने संघ के हस्तक्षेप करने तथा इटली को रोकने की प्रार्थना की। 7 अक्टूबर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास किया और इटली की निन्दा की परन्तु किसी प्रकार की अनुशास्तिया नहीं लगाई गई और आर्थिक घेराबन्दी की गई परन्तु उसमें भी युद्ध में काम आने वाली आवश्यक वस्तु तेल पर छूट दे दी गई। फ्रांस और इंग्लैण्ड में एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण ये अनुशास्तियां भी प्रभावकारी सिद्ध न हो सकीं। जब इटली ने सम्पूर्ण इथोपिया पर अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया।

2.5.10 स्पेन का गृह–युद्ध :

स्पेन के मामले में भी राष्ट्रसंघ को बुरी तरह से असफल होना पड़ा। जनरल फ्रांको ने नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी तत्वों ने स्पेन की उदारवादी गणतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया। जिससे स्पेन में गृह–युद्ध शुरू हो गया। हिटलर और मुसोलिनी ने जनरल फ्रांको को सहायता देनी शुरू कर दी। तब गणतन्त्रीय सरकार ने संघ को सहायता का अनुरोध किया परन्तु संघ ने तटस्थता की नीति अपनाई और सदस्य राष्ट्रों से दोनों पक्षो को अस्त्र–शस्त्र न देने का अनुरोध किया। हिटलर और मुसोलिनी ने संघ के सुझाव का पूर्ण रूप से बहिष्कार करते हुए जनरल फ्रांको को मदद जारी रखी। इसके बाद संघ ने सभी देशों को आदेश दिया कि वे स्पेन से अपनी फौजें हटा ले। परन्तु इटली और जर्मनी की सेनाएं फ्रांको की सहायता के लिए स्पेन में जमी रही। परिणामस्वरूप स्पेन की गणतंत्रीय सरकार का पतन हो गया और संघ कुछ न कर सका। इतना ही नही, संघ के प्रमुख सदस्यों ने फ्रांको की सरकार को मान्यता देकर संघ की घोर उपेक्षा की।

2.5.11 रूसी–फिनिश युद्ध :

अपने पतन के पूर्व राष्ट्रसंघ को एक और विफलता का मुंह देखना पड़ा। 1939 के अन्त में सोवियत रूस से फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से सहायता की मांग की। राष्ट्रसंघ ने सोवियत रूस को संघ से निष्कासित तो कर दिया परन्तु फिनलैण्ड को बचाने के लिये ठोस कार्यवाही न कर पाया। 1940 के शुरू में फिनलैण्ड पर रूस का अधिकार हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

2.6 राष्ट्रसंघ के कार्यों की समीक्षा :

राष्ट्रसंघ की स्थापना विश्व में शान्ति स्थापित करने एवं सुरक्षा प्रदान करने हेतु हुई थी। इससे पूर्व के विवरण से स्पष्ट है कि संघ अपने इन दोनों उद्देश्यों में ही असफल रहा और इसकी स्थापना के 20 वर्ष उपरान्त ही दूसरा विश्व युद्ध आरंभ हो गया। महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं, विशेषकर ऐसी समस्याएं जिनमें बड़े राज्यों के स्वार्थ निहित थे, को सुलझाने में यह संघ पूर्णतः असफल रहा। संघ की इन विफलताओं को ध्यान में रखते हुए अर्थशास्त्री पीटर ने लिखा कि इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में इतिहास की किसी अन्य संस्था से अधिक योगदान दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में उसकी असफलताओं की आलोचना करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि राष्ट्र संघ उतना ही क्रियाशील एवं प्रभावशाली बन सका जितना कि इसके सदस्यों ने इसे बनाने का प्रयास किया। सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियां उल्लेखनीय रही। उसने आस्ट्रिया व हंगरी की दयनीय आर्थिक अवस्था सुधारने का प्रशंसनीय कार्य किया। इसी प्रकार संघ ने युद्ध पीड़ित लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की व्यवस्था सन्तोषप्रद ढंग से की। संघ के स्वास्थ्य संगठन ने महामारियों की रोकथाम के लिए सक्रिय कदम उठाये। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के माध्यम से श्रमिकों की दशा सुधारने की दशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई। स्त्रियो, दासो एवं बच्चों के अनैतिक व्यापार का रोकने के लिए भी संघ ने समुचित प्रयास किया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी यथासंभव अपने निर्णयों द्वारा राष्ट्र संघ की गरिमा को बनाये रखा। इस प्रकार अराजनीतिक क्षेत्र में संघ की असफलताओं को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह अपने उद्देश्यों में पूर्ण असफल रहा।

लैंगसम के मतानुसार राष्ट्रसंघ की सबसे महान उपलब्धि तो अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का प्रसार है। यह भी कोई कम महत्व की बात नहीं थी कि जिनेवा में समय–समय पर संसार के विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधियों को एक स्थान पर एकत्रित करके उन आपस में विचारों का आदान–प्रदा कराया। उनके पारस्परिक विचार–विमर्श से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के प्रयास किये। वास्तव में राष्ट्र संघ का यह प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा भी ऐसी व्यापक राजनीतिक, सामाजिक, एवं आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में प्रथम परीक्षण था, जिसमें राष्ट्रीय, जातीय एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की भावना से कार्य किया गया।

2.7 राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण :

राष्ट्रसंघ लगभग 20 वर्ष तक कार्यशील रहा, लेकिन शान्ति स्थापित करने का उसका महान् ध्येय सफल नहीं हो सका। गम्भीर प्रयत्नों के बावजूद संघ निःशस्त्रीकरण का अपना स्वप्न साकार नहीं कर सका। यह केवल कुछ छोटे विवादों का समाधान करने में ही सफल हुआ। उन बड़े और महत्वपूर्ण विवादोंके हल में जिनमें महाशक्तियां उलझी हुई थी, असमर्थ रहा। जिन कारणों से राष्ट्रसंघ अपने उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह न कर सका, उनमें मुख्य इस प्रकार थे –

2.7.1. सांविधानिक दुर्बलता :

सांविधानिक रूप से राष्ट्रसंघ में अनेक दोष थे, जैसे

1. सदस्य राष्ट्र संघ की प्रार्थना मानने को बाध्य नहीं थे।

2. किसी भी राज्य को अपराधी घोषित करने का निर्णय परिषद् को सर्वसम्मति में लेना पड़ता था जो अत्यन्त कठिन था,

3. संघ की कार्यपद्धति बड़ी जटिल थी जिससे कोई भी बहस बहुत लम्बी खींची या स्थगित की जा सकती थी, एवं

4. संघ के संविधान में युद्ध का पूर्ण निषेध नहीं किया गया था और रक्षात्मक युद्ध को वैध माना गया था। संविधान की इन कमियों से महाशक्तियों ने पूरा लाभ उठाया।

2.7.2. अमेरिका का असहयोग :

अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन राष्ट्रसंघ का मुख्य संस्थापक थी, लेकिन सीनेट के विरोध के कारण दुर्भाग्यवश अमेरिका ही इसका सदस्य नहीं बन सका। अमेरिका की पृथकता ने संघ की जीवन–शक्ति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बुरा प्रभाव डाला। संघ की सदस्यता अमेरिका पर लागू न होने से संघ के आर्थिक प्रतिबंधों की व्यवस्था महत्वपूर्ण नहीं रही क्योंकि अपराधी अमेरिका की पृथकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के कारण राष्ट्रसंघ के आदर्शवाद का प्रभाव धूमिल पड़ गया। नई दुनिया के एक विशाल प्रदेश के निकल जाने से संघ की सार्वभौमिकता को गम्भीर आघात पहुंचा। गैथोर्न हार्डी के शब्दो में, "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथों की भांति छोड़ दिया गया।"

2.7.3. संघ की स्वरूप सम्बन्धी दुर्बलता :

राष्ट्रसंघ में यूरोपीय देशों का प्रभाव अधिक था जबकि विश्व के अन्य भागों के शक्तिशाली देशों का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ। विश्व राजनीति में गैर–यूरोपीय देशों के बढ़ते हुए प्रभाव की अवहेलना करके कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सफल होने की आशा नहीं कर सकती थी। अमेरिका प्रारम्भ से ही संघ का सदस्य नहीं बना। रूस और जर्मनी को दीर्घकाल के पश्चात् सदस्यता प्रदान की गई, लेकिन वे क्रमशः सन् 1933 और 1939 में संघ से पृथक हो गए। ब्राजील, कोस्टारिका, इटली आदि अनेक राष्ट्र एक–एक करके संघ से अलग हो गए। इस प्रकार संघ के आन्तरिक जीवन मे ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब वह सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता। वास्तव में संघ हमेशा ही कुछ विशिष्ट राष्ट्रों का गुट बना रहा।

2.7.4. वर्साय की सन्धि से जन्म :

राष्ट्रसंघ के लिए वर्साय की सन्धि में जन्म लेना अभिशाप सिद्ध हुआ। बदनाम मां की इस सम्मानित बेटी को पराजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रों द्वारा अपने स्वार्थ सिद्ध करने का यन्त्र समझते रहे।

2.7.5. सदस्य राज्यों के दृष्टिकोणों में आधारभूत अन्तर :

राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रोके दृष्टिकोणो में मौलिक अन्तरथे। जर्मनी की दृष्टि में राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का एक गुट था। इंग्लैण्ड राष्ट्रसंघ को साम्यवाद के विरोध में एक शक्तिशाली अस्त्र बनाना चाहता था। फ्रांस शान्ति व्यवस्था को स्थायी बनाने का हथियार समझता था। इन विभिन्न दृष्टिकोणो ने राष्ट्रसंघ की दशा उस गाड़ी जैसी कर दी जिसके सभी घोड़े अलग–अलग दिशाओ में खींच रहे हो।

2.7.6. अधिनायकवाद का उदय :

राष्ट्रसंघ की स्थापना इस विश्वास पर की गई थी कि इसके सभी सदस्य शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रवाद के संरक्षक होंगे लेकिन यूरोपीय देशों में अधिनायकवादी सरकार सत्तारूढ हो गई। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक लहू और लोहे की नीति में विश्वास करते थे अतः उन्होंने राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया।

2.7.7. आक्रांताओं का संरक्षक :

शक्तिशाली राष्ट्र सदैव आक्रान्ताओ को पक्ष में लेकर उनको बचा लेते थे। इस कारण छोटे राष्ट्रों पर आक्रान्ताओं का दबाव निरन्तर बढ़ता रहा, किन्तु राष्ट्रसंघ उनके विरूद्ध कोई कदम न उठा सका। आक्रांताओं का रक्षक समझकर संघ में अन्य राष्ट्रों का विश्वास उठ गया।

2.7.8. निःशस्त्रीकरण में असफलता :

राष्ट्रसंघ अपने संविधान की आठवीं धारा के अनुसार निःशस्त्रीकरण कराने में सफल नहीं हो सका। प्रत्येक राष्ट्र ने शस्त्रास्त्रों और सैन्य शक्ति में वृद्धि जारी रखी। राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के जो भी प्रयास किए गए वे वास्तव में निःशस्त्रीकरण के लिए न होकर शस्त्रों को सन्तुलित करने के लिए थे और इसमें भी संघ असफल रहा। 1930 ई. के बाद तो षस्त्रास्त्रों की भाषण प्रतियोगिता शुरू हो गई और जर्मनी आदि राष्ट्रों ने अपने यहां अनिवार्य सैनिक शिक्षा का प्रचार किया। स्वभावतः इस परिस्थिति में राष्ट्रसंघ विश्व शांति बनाए रखने के अपने उद्देश्य स में असफल हो गया।

2.7.9. महान् आर्थिक मन्दी :

सन् 1930 की महान् आर्थिक मन्दी ने राष्ट्रसंघ को अप्रत्यक्ष क्षति पहुंचाई। इसके फलस्वरूप लगभग सभी देशों मे आर्थिक राष्ट्रसंघ की शक्तियां प्रबल हो गई। इसने जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैनिकवाद को विकसित किया। शस्त्रों की होड़ लग गई। सामूहिक सुरक्षा आहत हो गयी, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की नींव ढह गयी और आक्रमणों की संख्या बढ़ने लगी।

2.7.10 . अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव :

राष्ट्रसंघ के सदस्यों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव था। लगभग सभी सदस्य देशों ने अपनी–अपनी डफली, अपना–अपना राग वाली कहावत चरितार्थ की। संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के नाम पर विश्वशान्ति की व्यवस्था और सुरक्षा का गला घोंट

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Tadhun

दिया गया। गूच ने सत्य ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं बिना अन्तर्राष्ट्रीय मस्तिष्क के वैसे ही खोखली है जैसे प्रजातन्त्र बिना जन भावना के ।''

2.7.11. उग्र राष्ट्रीयता :

उग्र राष्ट्रीयता के विचारों ने आरम्भ से ही राष्ट्रसंघ की विफलता के बीज बो दिए। प्रत्येक राज्य स्वयं को सम्प्रभु समझते हुए अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वयं को स्वतन्त्र मानता था। इस प्रकार राष्ट्रसंघ सम्प्रभु राज्यों का संगठन था, जिसमें कोई भी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिए अपनी प्रभुता पर किसी प्रकार का अंकुश लगाने को तैयार नहीं था।'' राज्यों का यह दृष्टिकोण संघ के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए घातक सिद्ध हुआ।

2.7.12. सदस्य राज्यों की सिद्धान्तहीनता और राष्ट्रसंघ में अनास्था :

राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यों ने संघ के संविधान पर हस्ताक्षर करके अनेक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व स्वीकार किए। अनुच्छेद 10,11,15 और 16 के अन्तर्गत अनेक वचन दिए और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का उत्साहपूर्वक स्वागत किया, लेकिन जब वचनों और उघर दायित्वों के पालन का समय आया तो बड़े राष्ट्र सिद्धान्तहीनता के शिकार हो गए। उन्होंने व्यवहारिक रूप से शान्ति की स्थापना के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। फ्रांस और ब्रिटेन ने गुप्त समझौते पर आचरण किया जिससे इटली के विरूद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति अप्रभावशाली सिद्ध हुई। जापान ने अपनी आक्रामक कार्यवाहियों से सिद्ध कर दिया कि वह राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों को मानने को तैयार नहीं था। महाशक्तियों के इस आचरण ने राष्ट्रसंघ को पतन की और धकेल दिया।

2.7.13. अन्तर्राष्ट्रीय सेना का अभाव :

राष्ट्रसंघ के पास अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना नही थी, अतः उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले देशों को उचित दण्ड नहीं दिया जा सकता था। अपनी प्रभाव जताने तथा अन्य राष्ट्रो के हृदयों मे भय पैदा करने के लिए उसके पास अपनी सेना होनी चाहिए थी। इसी कम के कारण शक्तिशाली राष्ट्रों पर राष्ट्रसंघ का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने निर्बल राष्ट्रों के अधिकार का हनन किया।

2.8 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – राष्ट्रसंघ की स्थापना कब हुई ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – राष्ट्रसंघ के उद्देश्य बताते हुए इसके असफलता के कारणों को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

इकाई – 3

संयुक्त राष्ट्र : स्थापना, संगठन एवं उपलब्धियाँ

3.0 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

3.1 संघ के उद्देश्य

3.2 संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्त

3.3 सदस्यता

3.4 संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग

3.4.1. महासभा

3.4.2. सुरक्षा परिषद्

3.4.3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.4.4. न्यास परिषद्

3.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

3.4.6 सचिवालय

3.5 बोध प्रश्न

3.0 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना :

इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के गठन के लिए विश्व की महान शक्तियों को कई सम्मेलन करने पड़ेगे। जिस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का बीजारोपण एक प्रकार से एटलाण्टिक चार्टर के साथ हो गया था वह 24 अक्टूबर 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय रंग मंच पर साकार रूप मे प्रस्तुत हुआ। सेन–फ्रांसिसको सम्मेलन अन्य सम्मेलनों से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी सम्मेलन में इसके सदस्य राष्ट्र उपस्थित हुए थे। इसी सम्मेलन में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर किए थे और संघ का महत्त्वपूर्ण चार्टर भी इसी सम्मेलन में तैयार हुआ था। 24 अक्टूबर 1945 को इसका चार्टर लागू किया गया। अतः इसका स्थापना दिवस 24 अक्टूबर को ही मनाया जाता है। इसकी प्रथम बैठक 10 फरवरी 1946 को लन्दन के वैस्टीमिनिस्टर हाल में हुई उसकी समाप्ति 16 फरवरी को हुई थी। वैसे संघ का प्रधान कार्यालय अमेरिका के न्यूयार्क नगर में है।

3.1 संघ के उद्देश्य :

चार्टर की धारा एक में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार उद्देश्य बताये गये है। वे निम्नलिखित है –

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को बनाये रखना। शान्ति के संकटों को प्रभावपूर्ण एवं सामूहिक प्रयत्नों से रोकना। शान्ति भंग करने वाली शक्तियों को दबाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाना।
2. व्यापक शान्ति को प्रोत्साहित करते हुए समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर राष्ट्र के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देना।
3. विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानसिक समस्याओं को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रता को बिना किसी भेद भाव के प्रोत्साहित करना।
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक ऐसा संघ बनाना जहां उपर्युक्त उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए राष्ट्रों के अलग–अलग कार्यो में समन्वय स्थापित किया जा सके।

इन उपर्युक्त उद्देश्यों के अलावा एक बात विशेष यह है कि संघ ने अपने चार्टर की दूसरी धारा में यह स्पष्ट कर दिया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने सदस्यों की समान सार्वभौमिकता को स्वीकार करता है। अतः वह किसी भी राज्य के आन्तरिक मामलों मं हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी प्रकार का आश्वासन इस संघ के कर्णाधार विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समय पर आयोजित सम्मेलनों में देते आये थे। विश्व शांति का उत्तरदायित्व सभी सदस्यों पर सामूहिक रूप से रखा गया है।

3.2 संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्त :

1. यह संघ अपने सदस्य राष्ट्रों मे समान प्रभुता का सिद्धान्त रखेगा।
2. प्रत्येक सदस्य राष्ट्र संघ के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझेगा तथा निभायेगा।
3. संघ के सदस्य राष्ट्र अपने झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझायेंगे।
4. एक राष्ट्र दूसरे सदस्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता का अतिक्रमण नहीं करेगा।
5. एक सदस्य राष्ट्र संघ के चार्टर के विरूद्ध आचरण करने वाले दूसरे सदस्य राष्ट्र को किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करेगा।
6. विश्व शान्ति को संकट उत्पन्न करने वाले गैर सदस्य राज्य के कार्यो पर यह संघ निगाह रखेगा।
7. संघ किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.3 सदस्यता :

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य के लिए सर्वप्रथम प्रस्ताव सुरक्षा परिषद में किया जाता है। सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों सहित बहुमत से सदस्य बनाने की सिफारिश महासभा को की जाती है। जब महासभा अपने दो–तिहाई बहुमत से सुरक्षा परिषद की सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तब कोई राष्ट्र सदस्य बन जाता है। सदस्य बनने के लिए किसी राष्ट्र का शान्तिप्रिय होना, चार्टर में उल्लेखित उद्देश्यों और सिद्धान्तों को स्वीकार करना तथा उन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों मे से कोई भी किसी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) ने संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है। इसके सभी सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते है और उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राज्यो पर चार्टर के दायित्व लागू नहीं होते, फिर भी यदि वे शान्ति भंग करते है तो संयुक्त राष्ट्रसंघ उनके विरुद्ध भी कार्यवाही कर सकता है। गैर सदस्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद के सामने ले जाने का अधिकार होता है।

3.4 संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग :

संयुक्त राष्ट्रसंघ में मुख्य छः अंग संगठित किये गये है जो क्रमशः (1) महासभा (2) सुरक्षा परिषद (3) आर्थिक व सामाजिक परिषद (4) संरक्षण परिषद (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और (6) सचिवालय।

3.4.1. महासभा :

चार्टर के इकाई चार में अनुच्छेद 9 से लेकर 22 तक महासभा की रचना, उसके कार्य तथा शक्तियों के सम्बन्ध में लिखा गया है। महासभा को संघ की व्यवस्थापिका सभा भी कहा जा सकता है। यद्यपि इसके प्रस्ताव बाध्यकारी नहीं है। संघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते है। प्रत्येक सदस्य–राज्य को महासभा में पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है किन्तु उनका मत एक ही होता है। महासभा का एक अध्यक्ष और सात उपाध्यक्ष होते है। महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर माह के तीसरे बृहस्पतिवार से आरम्भ होता है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसका विशेष अधिवेशन महामंत्री, सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है। विशेष अधिवेशन 15 दिन की अग्रिम सूचना देकर बुलाया जाता है। अधिवेशन मे कोई सदस्य राष्ट्र चार्टर की सीमाओ के अन्तर्गत किसी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है किन्तु वह निजी अथवा आंतरिक विषयों से सम्बन्धित नहीं होना चाहिये।

महासभा की शक्तियाँ एवं कार्य– मोटे रूप में महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के कार्यक्षेत्र में आने वाले सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख कार्य और शक्तियों को संक्षेप में निम्नानुसार रखा जा सकता है–

i. शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों के अनुसार सिफारिशें करना। इनमे निःशस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियम की सिफारिशें भी सम्मिलित है।

ii. शांति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाली समस्या पर विचार–विमर्श करना तथा उस पर सिफारिशें करना, बशर्ते कि उस समस्या पर तब सुरक्षा–परिषद् में विवाद न चल रहा हो।

iii. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और निर्माण, मानव–अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति तथा सांस्कृतिक–सामाजिक, आर्थिक–शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में आवश्यक अध्ययन को प्रेरित करना तथा इन सब बातों के विकास के लिए समुचित सिफारिशें करना।

iv. सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों से रिपोर्ट प्राप्त करना और उन पर विचार करना।

v. राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो पर आघात करने वाले किसी भी मामले के शांतिपूर्ण समाधान के लिए सिफारिशें करना।

vi. न्यास परिषद् के माध्यम से न्याय–समझौते के अनुपालन का निरीक्षण करना।

vii. सुरक्षा–परिषद् के दस अस्थायी सदस्यों, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के 27 सदस्यों और न्यास–परिषद् के निर्वाचित होने वाले सदस्यों को चुनना, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के न्यायाधीशों के निर्वाचन तथा सुरक्षा–परिषद् की सिफारिश पर महासचिव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की नियुक्ति करना। संयुक्त राष्ट्र संघ के नये सदस्यों को प्रवेश देना।

viii. संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट पर विचार करना और उसे स्वीकार करना, राष्ट्रों द्वारा देय चंदे की राशि नियत करना और विशिष्ट अभिकरणों के बजटों की जाँच करना।

1950 ई. में शांति एवं सुरक्षा प्रस्ताव पास हो जाने से साधारण सभा को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि यदि सुरक्षा परिषद् अपने सदस्यों के एकमत न होने पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करने में असफल रहती है तो सुरक्षा और शांति के मामले पर वह विचार कर सकती है। यही नहीं, साधारण सभा उस समय सामूहिक कदम उठाने का अनुरोध कर सकती है, जबकि सुरक्षा परिषद् किसी समस्या का समाधान नहीं कर पाती है। कोरिया के प्रश्न पर रूसी हस्तक्षेप के विरूद्ध साधारण सभा इस अधिकार का प्रयोग कर चुकी है।

मतदान प्रक्रिया– चार्टर के अनुच्छेद 18 मे महासभा की मतदान प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है और राष्ट्र संघ की सभा की भाँति राज्यों की समानता का यह सिद्धान्त उपर्युक्त अनुच्छेद में बनाये रखा गया है कि महासंघ के प्रत्येक सदस्य का एक ही मत होगा। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यो के दो–तिहाई बहुमत से होंगे। इस प्रकार राष्ट्र संघ की प्रसंविदा का सर्वसम्मति का नियम त्याग दिया गया।

महासभा की समितियाँ– संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा अपना अधिकांश कार्य समितियों द्वारा संपादित करती है। ये समितियाँ मुख्यतः चारप्रकार की है– 1. प्रमुख समितियाँ, 2. प्रक्रिया समितियाँ, 3. स्थायी समितियाँ और 4. तदर्थ समितियाँ।

3.4.2. सुरक्षा परिषद् :

संघ के चार्टर के पाँचवे इकाई में धारा 23 से 32 तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यो, अधिकारों तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। सुरक्षा परिषद्, संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे शक्तिशाली और सक्रिय अंग है। आरम्भ में इसके कुल 11 सदस्य थे, पर अब इसके 15 सदस्य है। इनमे पाँच सदस्य स्थायी है तथा 10 अस्थायी। अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा के सदस्यों में से दो वर्ष के लिए महासभा के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। ये अस्थायी सदस्य विभिन्न देशों से निर्वाचित होते है। एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों से 5 सदस्य निर्वाचित होते है। लैटिन अमेरिका से 2 तथा पश्चिमी यूरोप व अन्य देशों से 3 सदस्य निर्वाचित होते है। इस प्रकार की चुनाव व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि भौगोलिक संतुलन बना रहे। कोई सदस्य राष्ट्र तत्काल पुनर्निर्वाचन के योग्य नहीं माना जाता है।

परिषद् का संगठन इस प्रकार का है कि वह लगातार काम कर सके। इसलिए संघ मुख्यालय में परिषद के प्रत्येक सदस्य राज्य के प्रतिनिधि को हर समय रहना आवश्यक है। कार्यविधि के अनुसार परिषद् की बैठकों के बीच 14 दिन से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिये। सुरक्षा परिषद् मुख्यालय के अलावा अन्यत्र भी इच्छानुसार अपनी बैठकें आयोजित कर सकती है। अपने कार्यो के समुचित निर्वाह के लिए वह सहायक अगों की स्थापना भी कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियाँ है– अ. विशेषज्ञ समिति, जो कार्यविधि की नियमावली का काम देखती है, एवं ब. नवीन सदस्यो के प्रवेश का काम देखने वाली समिति। इनके अतिरिक्त परिषद् समय–समय पर तदर्थ समितियों और आयोगों की नियुक्ति भी करती रहती है। सैनिक आवश्यकताओं, शस्त्रों के नियंत्रण आदि पर स्वतंत्र परामर्श और सहायता के लिए एक सैन्य टास्क समिति की व्यवस्था भी करती है। परिषद् के अधीन एक निःशस्त्रीकरण आयोग भी है, जिसकी स्थापना जनवरी, 1952 ई. में की गई थी।

सुरक्षा परिषद् का सभापतित्व परिषद् के सदस्यों में से अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य–राष्ट्रो के नाम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त है। परिषद् के संदर्भ में चैज ने लिखा है कि, ''सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो या शांति का, संघ के दूसरे अंग कार्य कर रहे हो या न कर रहे हों, वर्ष का कोई भी समय हो ... सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती रहती है।''

कार्य एवं अधिकार– सुरक्षा परिषद् के कार्य अत्यन्त व्यापक है। संक्षेप में इन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते है–

1. चार्टर की धारा 24 के अनुसार, सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना है। इस सम्बन्ध मे संघ के सभी सदस्य सुरक्षा परिषद् के निर्णय को मानने को बाध्य है। सुरक्षा परिषद् समझौते द्वारा समस्या का समाधान न हो पाने पर सशस्त्र सैन्यबल का प्रयोग भी कर सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में लिये गये अपने निर्णयो को क्रियान्वित रूप देने का कार्य भी सुरक्षा परिषद् का ही है।

3. सुरक्षा परिषद् शांति एवं सुरक्षा भंग होने की संभावना पर झगड़े की जाँच कर इसकी रिपोर्ट साधारण सभा को देती है।

4. सुरक्षा परिषद् जिन कार्यों को करती है, उनकी योजना बनाना भी उसी का कार्य है।

5. नये सदस्यों को संघ में प्रवेश कराने का कार्य भी सुरक्षा परिषद् के पास है।

6. सुरक्षा परिषद् को अपनी वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभा को प्रेषित करनी होती है।

मतदान— सुरक्षा परिषद् किसी भी मामले में निर्णय सदस्यों का मतदान कराकर लेती है। प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में तो स्थायी सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है परन्तु महत्त्वपूर्ण मामलों में स्थायी सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि स्थायी सदस्यों में से किसी भी सदस्य देश ने निर्णय के विरूद्ध मत दे दिया तो निर्णय अमान्य माना जाता है। इसे सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को प्राप्त वीटो का अधिकार कहते है। इस वीटो के अधिकार को प्रदान करने का उद्देश्य यह था कि कहीं बहुमत के आधार पर सुरक्षा परिषद् के अन्य सदस्य राष्ट्र उनकी शक्ति को सीमित न कर दें।

3.4.3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् :

चार्टर के इकाई 10 मे अनुच्छेद 61 से 72, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् से सम्बन्धित है। महासभा के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा, सांस्कृतिक, स्वास्थ्यपरक तथा एतत्सम्बन्धी जितने भी प्रकार्य संयुक्त राष्ट्र के है, उन सबका कार्यान्वयन यह परिषद् करती है। अपने सहायक अंगों द्वारा यह मानव–जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर आवश्यक कदम उठाने की सिफारिशें पेश करती है।

संगठन एवं मतदान— आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में पहले महासभा द्वारा चुने हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के 18 सदस्य होते थे, किन्तु चार्टर में 1971 ई. के एक संशोधन के फलस्वरूप अब 54 सदस्य होते है। इसके एक–तिहाई सदस्य अर्थात् 18 सदस्य तीन वर्ष के लिए प्रतिवर्ष चुने जाते है और इतने ही सदस्य प्रतिवर्ष पदमुक्त हो जाते है। इस प्रकार यह निरन्तरता में अस्तित्वमान रहती है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक प्रतिनिधि होता है। इसमें न तो किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त होता है और नही स्थायी सदस्यता। महासभा अपनी इच्छानुसार किसी भी सदस्य राष्ट्र को इस परिषद् में चुन सकती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में सभी निर्णय उपस्थित सदस्यो के साधारण बहुमत द्वारा किये जाते है। परिषद् के हर सदस्य का एक वोट होता है। गैर–सदस्य राज्य को भी, यदि वह परिषद् में प्रस्तुत मामले से सम्बन्धित है, विचार–विमर्श में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है किन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा।

परिषद् के कार्य— परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है—

1. सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर किसी भी आक्रान्ता देश पर आर्थिक दण्ड लगाने में यह सुरक्षा परिषद् की सहायता करती है।

2. संघ के अधीन कार्य करने वाली सभी संस्थाओं मे आपस में सामंजस्य स्थापित कराना तथा संस्थाओं से परामर्श करना।

3. सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करना तथा तकनीकी सलाह देना।

4. अपनी कार्य–प्रणाली एवं नियमों को स्वयं बनाकर उन्हे स्वयं ही कार्यान्वित करना तथा अपने कार्य–क्षेत्र के भीतर किसी भी समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का अधिकार भी इसे है।

6. मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रता की रक्षार्थ सम्मान रखते हुए इनके विकास एवं प्रसार के लिए कार्य करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिषद् विभिन्न समितियों एवं आयोगों का गठन कर सकती है। अब तक इसने निम्न आयोगो का गठन किया है— 1. सांख्यिकी आयोग, 2. जनसंख्या आयोग, 3. सामाजिक विकास आयोग, 4. मानव अधिकार आयोग, 5. नारी अधिकार सम्बन्धी आयोग, 6. मादक पदार्थ आयोग, 7. आर्थिक एवं वृत्ति आयोग, 8. यातायात एवं संचार आयोग आदि का निर्माण किया है।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर निर्माताओं ने, जिन्हें आर्थिक एवं सामाजिक कुप्रबन्ध से युद्ध छिड़ जाने की संभावना अनुभव हुई, मनुष्य मात्र को इस आशंका से मुक्त करने का विचार किया गया और वास्तव में इन समस्याओं का हल विश्व में युद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की संभावनाओं को दूर ले जाता है।

3.4.4. न्यास परिषद् :

यह परिषद् राष्ट्र संघ के मेन्डेट कमीशन के स्थान पर स्थापित हुई। यह परिषद् उन प्रदेशों के शासन–प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है, जो 1. राष्ट्र संघ के शासनाधीन रहे हों, 2. केन्द्रीय शक्तियों द्वारा अपहृत किये गये हों और सुरक्षा परिषद् की अधीनता मे स्वेच्छा से आये हों। सभ्य व विकसित देशों के संरक्षण मे कुछ पिछड़े हुए देशों को रखा गया है। उन सभ्य देशों का यह पुनीत कर्त्तव्य होता है कि उन पिछड़े देशों के विकास में वे यथासंभव सहायता दें और उस समय तक उनके ट्रस्टी बने रहें, जब तक कि वे अपना शासन संभालने के योग्य न हो जावे। ये ट्रस्टी राष्ट्र भी उन पिछड़े राष्ट्रों के विषय मे प्रतिवर्ष महासभा व महासचिव के पास रिपोर्ट भेजते है। राष्ट्र संघ की संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत तो केवल जर्मनी व तुर्की के उपनिवेश ही सम्मिलित किये गये थे परन्तु संयुक्त राष्ट्र–संघ की व्यवस्था के अंतर्गत सभी गुलाम देशों को संरक्षण परिषद् के नेतृत्व में सम्मिलित कर लिया गया। इसके सदस्यों की संख्या निश्चित नही है। प्रत्येक सदस्य एक मत देने का अधिकारी होता है। परिषद् में बहुधा विशेषज्ञ भेजे जाते है। यह परिषद् अपने संरक्षित प्रदेशों के निवासियों का सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक अवस्था की रिपोर्ट महासभा के समक्ष प्रस्तुत करती है। इस परिषद् का वर्ष में दो बार अधिवेशन होता है और प्रत्येक अधिवेशन मे परिषद् के सभापति का निर्वाचन होता है। घाना, फ्रेंच केमरून, टॉगोगोलैण्ड, इटालियन सोमालीलैण्ड आदि संरक्षित प्रदेशों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना संरक्षण पद्धति की बहुत बड़ी सफलता है।

3.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय :

यह न्यायपालिका संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए अपने विधान की भाँति अभिन्न तथा महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में बना पिछला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका था। अतः एक नए न्यायालय की स्थापना की गई।फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित इस न्यायालय को एक नया न्यायालय कहना उचित नहीं है। केवल नाम परिवर्तन को छोड़कर और पुराने न्यायालय के विधान में कुछ शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त नए न्यायालय में कोई नवीनता नहीं है। वर्तमान न्यायालय सर्वप्रथम अप्रैल, 1946 को हेग में प्रारंभ हुआ। चार्टर की धारा 92 के अनुसार यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख न्यायिक अंग है। इस न्यायालय में कुल मिलाकर 15 न्यायाधीश होते है। सभी न्यायाधीश अपने सदस्यों में से ही एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष चुनते है। इन सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के पद के लिए उच्च नैतिक चरित्र एवं राष्ट्रीय कानून का विशेषज्ञ होना आवश्यक है। कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहिए। न्यायाधीशों का साधारण कार्यकाल नौ वर्ष का होता है और वे पुनः निर्वाचित हो सकते है। न्यायाधीशों की निर्वाचन प्रणाली कठिन है। राष्ट्रीय विधि–विशेषज्ञो द्वारा चार प्रसिद्ध विधिशास्त्रियो के नाम मनोनीत किए जाते है और उनमें से दो से अधिक नाम अपने राष्ट्र से सम्बन्धित नहीं होने चाहिए। चुनाव की तिथि से कम से कम तीन माह पूर्व महामंत्री राष्ट्रीय कानून विशेषज्ञ के नाम पर एक लिखित प्रार्थना पत्र भेजता है तथा विभिन्न राष्ट्रीय दलों के पास भी इस प्रकार की सूचनाएँ भेजता है। वे ऐसे लोगों के नाम भेजते है, जो इस पद के उपयुक्त हों तथा न्यायालय के सदस्य बन सके। कोई भी दल चार से अधिक नाम नहीं भेजता। महामंत्री इस प्रकार आए हुए सारे मनोनीत नामों की सूचना वर्णमाला के अनुसार बनाता है और तत्पश्चात् महासभा और सुरक्षा परिषद् एक–दूसरे से स्वतंत्र होकर न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन करती है। ऐसे प्रत्याशी जो महासभा तथा सुरक्षा परिषद् में शुद्ध बहुमत प्राप्त करते है, निर्वाचित माने जाते है।

इस न्यायालय का न्याय क्षेत्र उन सभी राज्यो पर व्याप्त है, जो न्यायालय की संविधि (Statute) को स्वीकार चुके है। न्याय क्षेत्र मुख्य रूप से तीन प्रकार के है– वैकल्पिक न्याय क्षेत्र, अनिवार्य न्याय क्षेत्र और परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र। वैकल्पिक न्याय क्षेत्र में वे सभी विवाद सम्मिलित है, जिन्हें दोनों पक्ष सहमत होकर न्यायालय के समक्ष अपना विवाद प्रस्तुत करते है। अनिवार्य न्याय क्षेत्र के अंतर्गत संविधि को स्वीकार करने वाला कोई राष्ट्र यह घोषित कर सकता है कि प्रस्तुत विचार को वह अनिवार्य न्याय क्षेत्र के अधीन मानता है। इससे सम्बन्धित दूसरे राष्ट्र को भी सहमत होना पड़ता है, किन्तु इसके लिए दोनों की स्वीकृति आवश्यक है। किसी राष्ट्र की इच्छा के विरूद्ध कोई अभियोग न्यायालय में नहीं चलाया जा सकता। परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र के अंतर्गत यह न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद् को न्याय सम्बन्धी परामर्श देता है, किन्तु इसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग भी न्यायालय से किसी वैधानिक विषय पर परामर्श ले सकते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.4.6 सचिवालय :

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संपादन के लिए एक सचिवालय की स्थापना की गई है। इस संगठन के सुगम और व्यवस्थित कार्य करने पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता निर्भर करती है। सचिवालय का मुख्य प्रशासन अधिकारी महांमंत्री (Secretary General) होता है, जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा पाँच वर्ष के लिए की जाती है। महामंत्री सचिवालय की सहायता से अपना सारा कार्य करता है। चार्टर के अनुसार महामंत्री के निम्नलिखित कार्य है–

1. यदि महामंत्री यह समझे कि किसी विचार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है तो वह उस विवाद की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार महामंत्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेकर विश्व शांति बनाए रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

2. संघ की सम्पूर्ण कार्यवाही के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष महासभा के अधिवेशन में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

3. अपने पद के कारण महामंत्री महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा संरक्षण परिषद् के अधिवेशनों में उपस्थित होता है तथा उनकी कार्यवाही में भाग लेता है।

4. महामंत्री, महासभा द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार संघ के पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। इन नियुक्तियों के समय उनकी कार्य–निपुणता, योग्यता और ईमानदारी पर ध्यान दिया जाता है। जहाँ तक संभव हो, अधिकांश देशों को सचिवालय सेवाओं में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इस प्रकार के पदाधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर किसी सत्ता से न तो कोई आदेश ही प्राप्त करेंगे और न उनके दबाव में आएँगे। संघ के सदस्यों ने भी यह तय किया कि सचिवालय उत्तरदायित्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय होगा और वे उन दायित्वों के निर्वाह में पदाधिकारियों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालेंगे। अतः यह कहा जा सकात है कि सचिवालय के कर्मचारी अपना राष्ट्रीय स्वभाव छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय विचार और व्यवहार करते है।

युद्धों के भय से मुक्ति के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाधान के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना मानव इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके चार्टर मे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन सभी बुराइयों को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया जिनके कारण राष्ट्रसंघ असफल हो गया था। इस संगठन को मूल्यांकन करने से पूर्व हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम निष्पक्ष रूप से इसकी कार्यवाहियों का पर्यवेक्षण करेंगे। न तो हम उन्हें ही दृष्टि से देखें और न अतिशयोक्ति द्वारा तिल का पहाड़ बनाये। यह व्यवहार अनिवार्य है।

सर्वप्रथम हम यह देखते है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद विश्व में तीन प्रधान विकास हुए है– (1) पांच बड़ी शक्तियों मे विरोध (2) परमाणु शक्ति का विकास, तथा (3) औपनिवेशिक प्रणाली का क्रमशः विसर्जन। इस प्रगति को देखते हुए यह एक सफल संस्था है। उपरोक्त नवीन परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर भी यह संगठन पर्याप्त रूप से सफल हुआ है। सन् 1946 मे ईरान विवाद मे मध्यस्थ बनकर रूस की सेनाएं वापस बुलवायी। हिन्देशिया में सहायता पहुंचाकर उसे स्वतंत्रता दिलवाने में सहायता की और संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया। इजरायल और अरब राज्यों के आपसी विरोध को रोककर विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करवायें। इसी संगठन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने कश्मीर में युद्ध विराम समझौता करवाया। यूनान की सीमा पर आयोग भेजकर शान्ति स्थापित की। 20 जून 1950 को जब उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण करने लगा तब अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था के लिए कार्यवाही कर शान्ति बनाये रखी। 1954 में इंग्लैण्ड व फ्रांस ने जब मिस्र पर आक्रमण किया तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना ने ही विदेशी सेनाओं से वह प्रदेश रिक्त करवाया। सीरिया ओर लेबनान, बर्लिन (ब्लोकेड) अर्थ प्रतिबन्ध तथा हिन्द चीन भी संयुक्त की दिशा में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्न प्रशंसनीय है। अबीसीनिया की स्वतंत्रता तथा इरीट्रिया का अबीसीनिया के साथ योग, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की एक महत्वपूर्ण घटना है। इटालियन सोमालीलैड, बेल्जियम, कांगो, यूगाण्डा तथा अन्य अफ्रीकी देश अभी हाल ही में स्वतंत्र बन दिया गया। मोरक्को एंव ट्यूनिशिया, जिसे फ्रांस नहीं छोड़ना चाहता था, और संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष कई बार विवाद का विषय रहा, अन्त में स्वतंत्र हो गये। इसी प्रकार घाना, मलाया आदि देश भी स्वतंत्र हुए है। इस प्रकार यह एक सफल संस्था है।

किन्तु अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो कई ऐसे स्थल है जहां यह संघ असफल रहा है। ईरान का तेल विवाद, दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा कश्मीर मुख्य रूप से गिने जा सकते है। तेल विवाद में यह संस्था इंग्लैण्ड और अमेरिका के हितों का सुरक्षित बनाये रख सकी, वहां की जनता के हितों को नहीं बचा सकी। दक्षिणी अफ्रीका संघ ने भारती और पाकिस्तान के साथ किसी प्रकार का समझौता करने से इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह उनका घरेलू प्रश्न है और संयुक्त राष्ट्र संघ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। कश्मीर के प्रश्न पर तो संघ बहुत अधिक असफल रहा। इसी प्रकार हंगरी और चेकोस्लोवाकिया पर साम्यवादी आक्रमण के समय भी यह संगठन कुछ न कर सका। हंगरी पर आक्रमण के समय जब विश्व लोकमत जांच के लिये उत्सुक हुआ तो यह प्रस्ताव किया गया कि महामंत्री श्री हेमरशोल्ड उसी स्थान पर जाकर जांच करे, किन्तु रूस द्वारा प्रेरित हंगरी ने आवश्यक अनुमति नहीं दी। बाद मे महासभा ने प्रिंसवान पैथेको की नियुक्ति एक सदस्थीय आयोग के रूप मे की और वहां जाकर जांच करने के पश्चात् प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि "यह आयोग सहयोग के अभाव में पूर्ण असफल रहा है।" इसी प्रकार लाल चीन की सदस्यता का मामला था। अमेरीका के षड़यंत्र के कारण विशाल शक्तिशाली साम्यवादी चीन काफी लम्बे समय तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका था।

3.5 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में प्रारम्भ में कितने सदस्य थे ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – संयुक्त राष्ट्रसंघ को सविस्तार से विवेचित किजिए?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 4

टर्की का आधुनिक राष्ट्र के रूप में अभ्युदय

4.0 टर्की का उत्कर्ष

4.1 मुस्तफा कमाल का प्रारम्भिक जीवन

4.1.1 राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व

4.2 आन्तरिक सुधार

4.3 राजनैतिक पुनर्निर्माण

4.4 आर्थिक पुनर्निर्माण

4.5 सामाजिक सुधार

4.6 शिक्षा में सुधार

4.7 विदेश नीति

4.8 रूसीकरण की नीति

4.9 ड्यूमा की घोषणा

4.10 बोध प्रश्न

4.0 टर्की का उत्कर्ष :

टर्की मध्यपूर्व में स्थित होते हुए भी अनेक दृष्टियो से इस क्षेत्र के देशों से भिन्न है और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावित है। यूरोप के कारण टर्की एक लम्बे समय तक यूरोप के महान् राज्यो में गिना जाता था। आज भी टर्की यूरोप के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इसलिए टर्की को अंशत: यूरोपीय और अंशत: मध्यपूर्वी राज्य कहना अनुचित न होगा। सामाजिक और राजनैतिक एकता तथा सैनिक शक्ति की दृष्टि से टर्की आज भी मध्यपूर्व की महानतम शक्तियों में से एक है।

एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में टर्की का इतिहास प्रथम महायुद्ध के बाद से प्रारम्भ होता है। मध्यपूर्व मे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ सर्वप्रथम टर्की में ही हुआ। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर टर्की एक दुर्बल और पतनोन्मुख देश था। सन् 1911 से चलने वाले अनवरत युद्ध ने उसे विनाश के कगार पर ला खड़ा किया था। प्रथम महायुद्ध में समस्त केन्द्रीय यूरोपीय देशों मे टर्की की पराजय प्रमुख थी। उसकी राजधानी पर मित्र राष्ट्रों का कब्जा हो गया। युद्धोपरान्त टर्की को उस अपमानजनक सेब्रे की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े जो अगस्त, 1920 को की गई। इस सन्धि के फलस्वरूप टर्की का विशाल साम्राज्य सिमट कर केवल अनातोलिया के पर्वतीय भाग और कुस्तुनतुनिया के आसपास के कुछ प्रदेश तक सीमित रह गया। सेब्रे की सन्धि पर टर्की–सुल्तान के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर अवश्य कर दिए, लेकिन यह सन्धि सम्पुष्ट और क्रियान्वित कभी नहीं हुई। सन्धि की घोर अपमानजनक शर्तों के प्रकाशन से टर्की मे एक गम्भीर उथल–पुथल मच गई। सेब्रे की सन्धि से टर्की में राष्ट्रीयता की भावना बाढ़ की तरह उमड़ आई। अपने लोगों को अपना स्वामी बनता देख तुर्को में आग लग गई। 23 मई को सुन्तान अहमद चौक में एक विराट प्रदर्शन हुआ। जगह–जगह सभाएं होने लगी। गुरिल्ला युद्ध जारी हो गया। इस वातावरण में मुस्तफा कमाल पाशा राष्ट्र के नेता के रूप में सामने आया।

4.1 मुस्तफा कमाल का प्रारम्भिक जीवन :

महायुद्ध के बाद तुर्की के राष्ट्रीय संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन करने वाले मुस्तफा कमाल को "आधुनिक तुर्की का पिता" अथवा "अतातुर्क" के नाम से पुकारा जाता है। उसका जन्म 1880 ई. में सालोनिका मे हुआ था। उसके पिता का नाम अली रजा एफंदी और माता का नाम जुबेद था। 1888 ई. में ही कमाल के पिता की मृत्यु हो गई और कमाल की माता ने ही उसका लालन–पालन किया। 1893 ई. में वह "सालोनिका सैनिक विद्यालय" मे भर्ती हुआ। बाद में 1899 ई. मे वह कुस्तुनतुनिया के "सैनिक महाविद्यालय" में भर्ती हुआ और वहाँ से 1905 ई. में एक सैनिक अधिकारी बनकर निकला। उसके एक शिक्षक ने उसके नाम 'मुस्तफा' के आगे 'कमाल' जोड़ दिया था जिसका आशय है–'पूर्णता'। आगे वह इसी नाम "मुस्तफा कमाल" से पुकारा जाने लगा।

1911–12 ई. में कमाल ने ट्रिपोली में युद्ध किया था। 1912–13 मे होने वाले बाल्कन युद्धों में उसने बड़ा नाम कमाया और उसकी गिनती तुर्की के दक्ष सेनानायकों में की जाने लगी। प्रथम महायुद्ध के काम में "गैलीपोली अभियान" में मित्र राष्ट्रों की असफलता में कमाल का प्रमुख हाथ था और इस अभियान के बाद वह राष्ट्रनायक के रूप में माना जाने लगा। उसे ब्रिगेडियर का पद और 'पाशा' की उपाधि दी गई। इसके बाद उसने काकेशस मे रूसी फौजों के विरूद्ध सफलता प्राप्त की और 1918 ई. में अक्टूबर में सीरिया में उसने शत्रु सेना की प्रगति को रोक दिया था। जब युद्ध समाप्त हुआ तब सारे देश में वह लोकप्रिय बन चुका था। मई, 1919 ई. मे सुल्तान ने उसे सेना का प्रधान निरीक्षक बनाकर अनातोलिया मे भेजा तथा यहीं से उसने राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया।

4.1.1 राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तुर्की का सुल्तान और उसकी सरकार जिस ढंग से मित्रराष्ट्रो की खुशामद कर रहे थे उससे कमाल को बहुत अधिक दुःख हुआ। उसने अंकारा नगर मे अवशिष्ट संसद का संगठन करने का प्रयास शुरू किया। इस पर 8 जुलाई, 1919 को सुल्तान ने उसे सैनिक पद से बर्खास्त कर दिया। परन्तु कमाल ने अपना काम जारी रखा। 23 जुलाई, 1919 को राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों का एजेरूम सम्मेलन हुआ जिसमें कमाल को अध्यक्ष चुना गया। बाद में, सितम्बर में ''सिवास सम्मेलन'' हुआ। इस सम्मेलन में पहले के निर्णय की पुष्टि की गई। इसके बाद 22 अप्रैल, 1920 को अनातोलिया की राजधानी अंकारा में महान् राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन बुलाया गया। सभा ने देश का शासन अपने हाथों में लेने की घोषणा की तथा मुस्तफा कमाल को सभा का अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय सेना का अध्यक्ष चुना गया। 20 जनवरी, 1921 ई. को राष्ट्रीय सभा ने देश के लिए सामयिक संविधान की घोषणा की। इस बीच कमाल ने फ्रांस, इटली, आर्मीनिया आदि से समझौते कर लिये थे। सकरिया नदी के युद्ध के बाद उसे 'मार्शल' का पद तथा 'गाजी' की उपाधि प्रदान की गई। मुस्तफा कमाल के प्रयासों से ही लोसान की सम्मानजनक संधि संभव हो पाई। अक्टूबर, 923 में तुर्की से तमाम विदेशी सेनाएँ हटा ली गईं और 29 अक्टूबर, 1923 ई. को तुर्की एक गणराज्य घोषित कर दिया गया। मुस्तफा कमाल को नये गणराज्य का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। वह अपनी मृत्युपर्यन्त (1923) तक इस पद पर बना रहा और अपने सुधारों के द्वारा तुर्की की कायापलट कर दी।

4.2 आन्तरिक सुधार :

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप तुर्की का पुराना ढांचा नष्ट हो गया और नया स्वरूप विकसित करना बाकी था। अब तुर्को के पास न तो अरब प्रदेश थे, न यूरोपीय प्रदेश थे और न ही गैर–तुर्की के पास न तो अरब प्रदेश के केन्द्र उनके पुनर्निर्माण की समस्या आसान नहीं थी। क्योंकि तुर्की की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो चुकी और देश पर विदेशी ऋणों का भारी बोझा था। आबादी का बहुत बड़ा भाग युद्ध में नष्ट हो गया था और लाखों यूनानी तुर्की छोड़कर चले गये थेअल्पसंख्यक कुर्दजाति स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील थी। ऐसी स्थिति में मुस्ताफा कमाल ने तुर्की के उत्थान के लिए एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसका मूल उद्देश्य तुर्की को पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगने तथा उसे एक औद्योगिक देश में परिणित करना था। इस कार्यक्रम में 6 सिद्धान्तों का नारा दिया गया, जो इस प्रकार थे –

1. गणतन्त्रवाद, 2. राष्ट्रवाद, 3. समानतावाद, 4. नियन्त्रित अर्थवाद, 5. धर्म निरपेक्षवाद और 6, क्रांतिवाद। इनके माध्यम से कमाल तुर्की को उसकी प्राचीन परम्परा से विमुख कर राष्ट्रीयता के आधार पर एक धर्म निरपेक्ष प्रगतिवादी स्वतन्त्र बनाना चाहता था। 1931 ई. में उसके राजनीतिक दल ने भी इन सिद्धान्तों को मान्यता दे दी तथा 1937 ई. मे ये संविधान के अंग बन गये थे। अपने इस कार्य में उसे दमन का सहारा भी लेना पड़ा। परन्तु उसकी लोकप्रियता और प्रबल सैनिक शक्ति के कारण कोई भी विरोधी अधिक समय तक नहीं टिक सका और अन्त में तुर्की का नवनिर्माण होकर ही रहा। आज तुर्की किसी भी पाश्चात्य देश से कम नहीं है।

4.3 राजनैतिक पुनर्निर्माण :

राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरूआत के साथ ही राजनीतिक पुनर्निर्माण की भूमि भी तैयार होने लग गई थी। जनवरी 1921 ई. में सामयिक संविधान की स्थापना ने सार्वभौमिक सत्ता राष्ट्रीय सभा को साफ कर सुल्तान की शासन सत्ता को खोखला बना दिया था। 2 नवम्बर, 1921 को महान राष्ट्रीय सीभा ने सुल्तान को पदच्युत कर दिया और सुल्तान के पद का अन्त कर दिया गया। सुल्तान के चचेरे भाई अब्दुल मजीद को सिर्फ इस्लाम धर्म के खलीफा का पद दिया गया। 19 अक्टूबर, 1923 ई. को तुर्की को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। 19 अक्टूबर 1923 ई. को तुर्की को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया और मुस्तफा कमाल को प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। नये संवधिान के अनुसार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का अधिकार राष्ट्रीय सभा के हाथ में रखा गया तथा उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रीय सभा की अवधि चार साल की रखी गई तथा इसके सदस्यों के लिए शिक्षित होना आवश्यक रखा गया। नये सविधान मे मूल अधिकारों को स्थान दिया गया एवं व्यक्तिगत, राजनैतिक, आर्थिक अधिकार और विचारो की स्तन्त्रता पर जोर दिया गया। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया। तुर्की को एक धर्म निरपेक्ष राज्य करार दिया गया तथा 1928 ई में एक संशोधन द्वारा इस्लाम धर्म को राज्य धर्म के स्थान से भी हटा दिया गया। अब राज्य के पदाधिकारियो को परमात्मा में विश्वास रखने की शपथ के स्थान पर गणराज्य के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करनी पड़ती थी।

इसके बाद प्रशासनिक सुधारों को लागू किया गया। 1926 ई. मे सम्पूर्ण देश को 62 प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रान्तों को 430 जिलों में और जिलों को छोटे मण्डलों में विभाजित कर दिया गया। देश की पुरानी न्याय व्यवस्था का भी अन्त कर दिया गया। उसके स्थान पर स्वीट्जरलैण्ड के नमूने का दीवानी कानून, इटालियन फौजदारी कानून एवं जर्मन नियमो पर आधारित व्यापारिक कानून लागू किये गये। 1926 में ग्रैग्रोरीय वर्ष अपना लिया गया और 24 घण्टो वाली घड़ी भी प्रयोग की जाने लगी। कुछ समय के बाद अरबी लिपि के स्थान पर लेटिन लिपि को अपनाने का प्रस्ताव भी पास किया। यूरोपीय अंक पद्धति और मीटरीक पद्धति को अपनाया गया। सैनिक सेवा की अवधि घटाकर अठारह मास कर दी गई।

मुस्तफा कमाल ने पाश्चात्य जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर दो में राजनैतिक दलों को भी प्रोत्साहन दिया। इस समय तुर्की में एक ही दल का शासन था। अप्रैल 1923 ई में कमाल ने अपने साथियों के सहयोग से जनता दल का संगठन किया था। 10 नवम्बर, 1924 ई. को इसका नाम बदल कर 'गणतन्त्रवादी दल की स्थापना की, परन्तु इसने प्रारम्भ से ही क्रियात्मक आलोचना के स्थान पर विध्वंसात्मक नीति अपनाई। 1925 ई. कुर्द विद्रोह मे इस दल का हाथ रहा और सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके बाद कमाल ने अपने एक मित्र फेथीबे को विरोधी दल संगठित करने को कहा। उसने अगस्त 1930 ई में ''उदार गणतन्त्रवादी दल' की स्थापना की। इस दल ने भी धीरे–धीरे कमाल के सुधारों की आलोचना तथा तोड़–फोड की नीति अपनानी शुरू करदी तथा और इसे भी भंग कर दिया गया। वस्तुतः तुर्की अभी इस अवस्था में नहीं पहुंचा था कि विभिन्न राजनीतिक दल का विकास हो सके।

4.4 आर्थिक पुनर्निर्माण :

महायुद्ध के परिणामस्वरूप तुर्की की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी थी और युद्ध के बाद की अनिश्चितता ने अर्थ व्यवस्था को चौपट कर दिया। कृषि, उद्योग धन्धे और व्यापार सभी क्षेत्रों की स्थिति दयनीय बन चुकी थी। इसलिए मुस्तफा कमाल को राज्य द्वारा नियंत्रित अर्थवाद के नाम से पुकारा जाता है। तुर्की की अर्थ एवं राजस्व व्यवस्था को सुधारने के लिए फ्रांसीसी विशेषज्ञों को नियुक्त किया गया। उनकी सलाह से राजस्व सम्बन्धी अनेक सुधार लागू किये गये तथा संतुलित बजट तैयार किया गया। विदेशी ऋणों की समस्या को हल करने के लिए सम्बन्धित देशों से वार्तालाप की गई और कमाल के विशेष आग्रह पर सभी देशों ने उसमें भारी कमी करना स्वीकार कर लिया। इससे तुर्की को काफी राहत मिल गई। राज्य की आय में वृद्धि करने की दृष्टि से शराब, तम्बाकू, नमक , अस्त्र–शस्त्र आदि में राज्य का एकाधिकार कायम किया गया तथा विदेशी कम्पनियों से रेलवे लाइनों को खरीद लिया गयां इसके बाद नये–नये कारखानो खोले नये। नई–नई सड़के बनाई गई तथा पुरानी सड़कों की मरम्मत की गई। इस प्रकार यातयात के साधनो को उन्नत बनाया गया, जिससे व्यापार वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला। 1934 ई. में कृषि के लिए चारवर्षीय योजना, उद्योग के लिए एक पंचवर्षीया योजना, खनिज के लिए तीन वर्षीय योजना तथा सड़क निर्माण के लिए दस वर्षीय योजना आरम्भ की गई। इस प्रकार भिन्न–भिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए अलग–अलग योजनाएं बनाई गई। इन सभी योजनाओं को सही रूप से लागू करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त की गई। नई सरकारों ने राज्य के संरक्षण में कई बैको को भी संचालित किया और उन्हें पृथक–पृथक कार्य सौपे गये। सेंट्रल बैंक को मुद्रा संचालन, सुमेर बैंक को उद्योग, इज बैंक को व्यावसाय तथा एंटी बैंक को खनिज क्षे. का उत्तरदायित्व सौपा गया। विदेशी व्यापार को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया तथा चेम्बर ऑफ कामर्स की स्थापना की गई। श्रमिकों के कल्याण के लिये 1936 ई. में अनेक श्रम कानून बनाये गये तथा अंकारा ने केन्द्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना की गई। इस प्रकार मुस्तफा कमाल ने तुर्की का औद्योगिक विकास करने तथा उसे एक सुदृढ़ अर्थ व्यवस्था प्रदान करने का अथक प्रयास किया।

आर्थिक सुधार : देश की आर्थिक अवस्था के सुधार के लिए व्यापार विकसित करना आवश्यक था। व्यापार विकसित तभी हो सकता था जबकि देश में यातायात के साधन विकसित हो। 1921 ई. मे रेलवे लाईनों का राष्ट्रीय जागरण आरम्भ हुआ और देश भर में रेलवे लाइने बिछाई जाने लगी। विदेशी गाडियां बढ़ गई तथा यातायात के साधनों के विकास हेतु एक अलग विभाग खोला गया। रेल व तार की भी व्यवस्था की गई। 1933 ई. में देश में पंचवर्षीय योजना चालू की गई। इसके अन्तर्गत देश में कपड़ा, ऊन, रेशम व चीनी उत्पादन के लिए बड़े कारखाने सरकार की तरफ से खोले गये। सार्वजनिक हित के कारखानो पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित किया गया। टर्की में राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई। सरकारी नियन्त्रण में चलाये जाने वाले उद्योगों के लिए सूमर बैंक खोला गया। देश के व्यापार में वृद्धि करने की नियत से इटली, जर्मनी और अमेरिका के साथ व्यापारिक सन्धियां की गई। देश की भूमि से प्राप्त विभिन्न धातुओं की खुदाई के लिए ईटी बैंक की स्थापना की गई। परन्तु आर्थिक क्षेत्र में वह विकास नही कर सका। इसका प्रमुख कारण देश की गरीबी था और विदेशी पूंजी देश में लगाना नहीं चाहता था उसकी धारणा थी कि यदि विदेशी पूंजी देश में लगेगी तो वे देश का शोषण करेंगे इसके अलावा वह स्वयं भी एक अच्छा अर्थशास्त्री नहीं था।

परन्तु भारत की भांति टर्की की भी अधिक जनसंख्या किसानों की है कृषि के वैज्ञानिक साधनों से अनभिज्ञ थे। इसलिए

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुस्तफा कमाल पाशा ने कृषि के विकास की ओर भी ध्यान दिया। कृषि के सन्दर्भ मे किसानो को प्रशिक्षण दिया जाने लगा। अंकारा के समीप एक आदर्श कृषि–फार्म की स्थापना की गई। किसानों में सहकारी–कृषि के लिए भी रूचि उत्पन्न की गई। किसानों को आर्थिक सहायता देने हेतु कृषि बैक की स्थापना की गई। सिंचाई साधन उपलब्ध कराये गये। इन साधनों के अपनाने से यह हुआ कि देश का कृषि उत्पादन बढ़ा। किसानों व देश की आर्थिक अवस्था में सुधार हुआ।

4.5 सामाजिक सुधार :

सामाजिक क्षेत्र में भी मुस्तफा कमाल पाशा के सुधार क्रांतिकारी सिद्ध हुए। उसके सामाजिक सुधार इस बात के स्पष्ट प्रतीक है कि कमाल पाशा टर्की का पूर्णतः आधुनिकीकरण करना चाहता था। समाज में सबको समान समझा गया। मस्जिद के सामने ध ार्मिक पोशाक पहिनना वर्जित कर दिया गया। उसके स्थान पर पश्चिमी पौशाक पर जोर दिया गया। फेज टोपी व पगड़ी पहिनना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। टोपी के स्थान पर टोप निर्धारित किया गया। पुरानी टर्की पौशाक के स्थान पर पाश्चात्य वेश भूषा को प्रोत्साहन दिया गया। कमाल पाशा की धारणा थी कि इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि के समकक्ष बनने के लिए पश्चिमी वेश–भूषा भी आवश्यक है। पश्चिमी पोशाक से कमाल पाशा तुर्की लोगों में स्फूर्ति भी लाना चाहता था। उसकी धारणा थी कि पश्चिमी पोशाक से शरीर चुस्त रहता है। फेज टोपी के स्थान पर हेट निर्धारित करने के आशय के विषय में बर्नार्ड लेवी लिखते है– 'इसका वास्तविक उद्देश्य सिर की पौशाक को बदलना नहीं था वरन् लोगों के मस्तिष्क में परिवर्तन लाना था।''

स्त्री समाज में कमाल पाशा ने पुरूषों से भी अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। बहु–विवाह को उसने गलत बताया तथा शनैःशनै कानून की सहायता से इस प्रथा को उसने समाप्त करने का प्रयास किया। तलाक देना उसने सुगम बना दिया और स्वयं ने प्रथम इस दिशा में अपनी स्त्री लातिफे को तलाक दे अपना उदाहरण प्रस्तुत किया। स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में पुरूषों के समान स्थान दिया गया। इस्लामी स्त्री पुरूष की दासी मात्र समझी जाती थी। वे किसी उच्च पद पर नियुक्त नही की जा सकती थी। उन्हे कड़े परदे में रहना पड़ता था। जहां कहीं भी वे जाती–काले बुर्के मे कानून से स्त्रियों को पुरूषों के समान किया गया। वे एसेम्बली का चुनाव लड़ सकती थी। यहां तक कि कमाल पाशा ने उनके लिए सैनिक सेवा के भी द्वार खोल दिए। वे अपनी इच्छानुसार व्यवसाय अपना सकती थी। बुर्का पहिनकर उन्होंने बाहर निकलना बन्द कर दिया। शिक्षा की उनके लिए उचित व्यवस्था की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों मे आत्म–विश्वास की भावना जागृत हो गई। वे डाक्टर वकील व वैज्ञानिक व्यवसाय अपनाने लगी। पुरूषों की भांति उन्हे भी पश्चिम पोशाक के लिए जाने की छूट दी गई और इसके लिए समुचित व्यवस्था भी की गई। उन्हें यूरोपीय नृत्य सीखने को प्रोत्साहित किया गया क्योंकि कमाल पाशा देश के पश्चिमीकरण के लिए यह आवश्यक समझता था। इस्लामी दुनिया में स्त्रियों के लिए इस प्रकार के परिवर्तन करना वास्तव में मुस्तफा कमाल पाशा के अदम्य उत्साह का ही प्रतीक कहा जा सकता है।

4.6 शिक्षा में सुधार :

मुस्तफा कमाल पाशा इस तथ्य से भलीभांति परिचित था कि शिक्षा के अभाव में उसके सुधार सफल नहीं हो सकते। समाज में वह जो परिवर्तन लाना चाहता था – वे बिना शिक्षा–प्रसार के नहीं आ सकते थे। अतः उसने शिक्षा प्रसार के लिए भी पर्याप्त ध्यान दिया। ग्रामों में प्राथमिक पाठशालाएं तथा नगरो में माध्यमिक विद्यालय खोले गये। अंकारा तथा इस्तनबल उच्च शिक्षा के केन्द्र बन गये। शिक्षा को पूर्णतः सरकार के नियन्त्रण में रखा गया। प्रौढ़ शिक्षा पर ध्यान दिया गया। इसके प्रसार में स्वयं मुस्तफा कमाल ने रूचि ली। वह स्वयं ग्रामों में चला जाता और वहां लोगों को पढ़ाने लगता था। 1929 ई. में अरबी वर्णमाला के स्थान पर रोमन लिपि को अपनाया गया। रोमन लिपि के प्रसार में भी उसने व्यक्तिगत सहयोग दिया। स्कूल व कॉलेजो की संख्या में वृद्धि की गई। शिक्षा देने में पश्चिमी ढंग अपनाया गया। विज्ञान व चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया गया। तुर्की भाषा में अरबी, फारसी भाषा के शब्द निकाले गये और 1930 ई. में तुर्की भाषा का शुद्धिकरण करके उसने राष्ट्रीय भाषा को जन्म दिया। बुनियादी व व्यावहारिक शिक्षा का भी प्रचलन किया गया। इतिहास विषय के अध्ययन में भी रूचि ली गई और उसके लिए एक अलग इन्स्टीट्यूट खोली गई। अध्यापकों का वह आदर करता था। उसका कहना था कि टर्की का भविष्य उज्जवल बनाना उनके ही हाथ में है। देश को सभ्य वे ही बना सकते थे।

इन सबसे अधिक आश्चर्यजनक कार्य उसने बच्चों में आत्मसम्मान की भावना को जागृत करने का किया। उन्हें विभिन्न प्रकार से आत्मनिर्भर बनने तथा सुनागरिक बनाने का प्रयास किया गया। बच्चों का सप्ताह नामक एक संस्था की स्थापना की गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके अन्तर्गत वर्ष में सात दिन बच्चों को विभिन्न प्रशासनिक विभागों में ले जाकर उनको व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता था।

शिक्षा में खेल–कूदों को भी उचित स्थान दिया गया। स्काउटिंग का प्रचलन तुर्की मे ही किया गया। दशमलव प्रणाली टर्की में लागू की गई। ग्रिगेरियन कलेण्डर प्रयोग में लाया जाने लगा। गिनती में भी अंग्रेजी पद्धति अपनाई गई। शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग कॉलेज खोले गये। उसने अपने समय में सात हजार पाठशालाएं खोली। लड़कियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध अलग किया गया। समाचार पत्रो की उपयोगिता को जानते हुए उसने जन–साधारण मे समाचार पत्रों का भी प्रसार किया। इन सब प्रयोगों का परिणाम यह निकला कि देश में शिक्षा का प्रसार होने लगा और 1939 ई. की गणना के अनुसार देश में अशिक्षितों की संख्या आधी रह गई।

4.7 विदेश नीति :

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद 23 अप्रेल, 1920 ई. को राष्ट्रीय सभा ने देश के शासन को अपने हाथ में लेने की घोषणा कर दी थी। उस समय तुर्की चारों तरफ शत्रुओं से घिरा हुआ था। केवल नवोदित सोवियत संघ से ही थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती थी। मुस्तफा कमाल ने सभी सम्भव उपायो की सहायता से अपने सभी शत्रुओ को सन्धि करने के लिए विवश कर दिया और अन्त में लोसान की सन्धि से शांति स्थापित हुई। तुर्की एक स्वतन्त्र गणराज्य मान लिया गया। गणराज्य की स्थापना के बाद कमाल को अपना सम्पूर्ण ध्यान तुर्की की आन्तरिक स्थिति को सुधारने में लगाना पड़ा। अतः उसने शान्तिपूर्ण वैदेशिक नीति अपनाना अधिक उचित समझा।

गणतांत्रिक तुर्की के सामने मुख्य समस्या ईराक और सीरिया के साथ अपनी सीमा को तय करना तथा खाड़ियों पर अपना प्रभुत्व एवं नियन्त्रण स्थापित करना था। लोसान संधि के अनुसार तुर्की का मोसुल क्षेत्र ईराक को सौप दिया गया और ईराक इंग्लैण्ड के संरक्षण में था। तुर्की में इंग्लैण्ड से लड़ने की शक्ति न थी। इसी बीच इंग्लैण्ड मोसुल के मामले को राष्टसंघ में ले लिया गया, जहां ईराक के पक्ष में निर्णय हुआ। इससे खिन्न होकर तुर्की ने सोवियत संघ के साथ एक दस–वर्षीय मित्रता एवं सहयोग का समझौता सम्पन्न कर लिया। इंग्लैण्ड तुर्की में सोवियत संघ के बढ़ते हुए प्रभाव को पसन्द नही कर सकता था, अतः 1926 ई में उसके तुर्की के साथ समझौता कर लिया और मुसुंल के तेल का दसवां भाग देना स्वीकार कर लिया। 1930 ई. में तुर्की ने अपने शत्रु यूनान के साथ एक समझौता कर लिया जिसके अनुसार दोनों देशों के विस्थापितों की सम्पत्ति तथा भूमध्यसागर ने दोनों की स्थिति का मसला हल हो गया। 1932 ई. में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया।

इटली मे मुसोलिनी के उदय से तुर्की के लिए खतरा पैदा हो गया था। जर्मनी में हिटलर के उदय ने इस खतरे को और अधिक बढ़ा दिया। परिणामस्वरूप 1933 ई. में तुर्की बाल्कन मित्र संघ का सदस्य बन गया। इसके दूसरे सदस्य थे – युगोस्लाविया, रूमानिया और यूनान। इस सदस्य देशों ने एक–दूसरे की स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने तथा आपसी सहयोग स्थापित करने का वचन दिया। 1935 ई. में जब इटली ने असीसिनिया पर आक्रमण किया तो तुर्की ने राष्ट्रसंघ का पक्ष लिया। हिटलर द्वारा जर्मनी के शस्त्रीकरण की घोषणा से तुर्की को अपनी सुरक्षा की चिन्ता लग गई, परिणामस्वरूप तुर्की, इंग्लैण्ड और फ्रांस के खेमे में चला गया। इसका एक लाभप्रद परिणाम यह निकला कि इन दोनों देशों के साथ विवाद के जो मामले थे, उनका अब निपटारा हो गया। 20 जुलाई, 1936 ई. को मोट्रों सन्धि सम्पन्न की गई, जिसके अनुसार लोसान की सन्धि में संशोधन किये गये तथा खाड़ियों के क्षेत्र में तुर्की को किलेबन्दी करने के अधिकार दे दिये गये। शान्तिकाल में सभी देशों के जहाजों को गरजने देने की स्वीकृति दे दी गई परन्तु युद्धकाल में तुर्की को अपने शत्रु देशों के जहाजों के आने–जाने पर रोक लगाने का अधिकार दिया गया। इस सन्धि से तुर्की ने अपना खोया हुआ अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। इसके बाद अलेक्जेड्रिया के सम्बन्ध में फ्रांस से बातचीत की हुई। सितम्बर, 1936 ई. में फ्रांस ने इसे सीरिया को सौपने का निश्चय किया और तुर्की इस मामले को राष्ट्रसंघ में ले गया। राष्ट्रसंघ ने इस क्षेत्र को स्वराज्य, निःशस्त्रीकरण एवं तुर्कों के विशेषाधिकारों को मान्यता देने की बात स्वीकार कर ली। परन्तु इससे इस क्षेत्र के तुर्कों को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में 1938 ई. में इस क्षेत्र में जनमत संग्रह करवाने का निश्चय किया गया। सितम्बर 1938 में हुए जनमत संग्रह में लोगों ने तुर्की के पक्ष में भारी मतदान किया और तुर्कों ने यहां पर एक स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित करने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप 'हायटी गणराज्य' अस्तित्व में आया। परन्तु एक साल बाद ही एक गणराज्य को तुर्की में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार, शांतिपूर्ण प्रयासों के द्वारा मुस्तफा कमाल को अपने समस्त वैदेशिक मामलों को हल करने में सफलता मिल गई मुस्तफा कमाल ने अपने पड़ौसी एशियाई देशों के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध प्रथम किये। जुलाई, 1937 ई. में तुर्की, ईराक और अफगानिस्तान के मध्य फासीवाद की सन्धि सम्पन्न हुई, जिसके अनुसार तीनो देशों ने सीमाओं की सुरक्षा का आश्वासन दिया तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आपसी समस्याओं के शांतिपूर्वक आपसी वार्तालाप के द्वारा हल करने का निश्चय प्रकट किया। इसी प्रकार की सन्धि बाल्कन राज्यों के साथ साथ ही सम्पादित की जा चुकी थी। 10 नवम्बर, 1938 ई. को मुस्तफा कमाल का स्वर्गवास हो गया। अपनी मृत्यु के पूर्व वह तुर्की की आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं का समाधान करने में सफल रहा था।

4.8 रूसीकरण की नीति :

रूस के शासकों ने रूसीकरण की नीति अपनाकर अपनी प्रतिक्रियावादी नीति का ही परिचय दिया। अपनी इस नीति से उन्होंने यहूदियों को नाराज कर दिया। फिनलैण्ड भी रूस का शत्रु उसी रूसीकरण की नीति के कारण ही हुआ। पोलैण्ड भी रूस से इसी कारण नाराज था। यहूदियों पर अत्याचार करके रूस की सरकार ने यहूदियों को रूस से निष्काषित तो कर दिया, परन्तु बाद मं रूस की आर्थिक अवस्था को उनके जानेसे महान आघात पहुंचा था। इसी प्रकार आर्मिनियनों के साथ अत्याचार कर उनको राज्य का विरोधी बना दिया। इसी रूसीकरण की नीति के कारण 19वीं सदी के अन्त में मध्य एशिया की किरगीज और उजबेग जातियों ने विद्रोह किया तो 1905 में जार्जिया, पोलैण्ड और बाल्टिक प्रान्तों में भयानक विद्रोह हुए। निकोलस द्वितीय की कठोर एवं अमानुषिक नीति के कारण अरूसी सरकार विरोधी ही बने रहे।

4.9 ड्यूमा की घोषणा :

1905 की क्रांति के उपरान्त निकोलस द्वितीय ने ड्यूमा की घोषणा तो कर दी थी परन्तु उसके अनुसार संवैधानिक सुधार करने को वह तत्पर नहीं था। निर्वाचन क्षेत्र सीमित रखा तथा वह भी अप्रत्यक्ष विधि से रखा। श्रमिक व किसान वर्ग को उसमें उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पा रहा था। अतः इसकी घोषणा व इसके निरन्तर अधिवेशनबुलाने पर भी रूस का मजदूर व किसानवर्ग उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ था। यही कारण था कि इसकी घोषणा के उपरान्त भी ये दोनों वर्ग क्रांति के मार्ग पर ही अग्रसर रहे। इसके अलजावा ड्यूमा को रक्षा तथा वैदेशिक मामलों पर विचार करने का अधिकार ही नहीं था। उसे केवल विधेयकों पर स्वीकृति देने का ही अधिकार दिया गया था। मंत्रियों को ड्यूमा के प्रति उत्तरदायित्व भी नहीं रखा था। अतः मंत्री जार की आज्ञानुसार जनता के भले–बुरे का विचार किये बिना किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा सकते थे। इन सब बातों के होते हुए भी जार ड्यूमा की बैठकों को निरन्तर भंग करता रहा क्योंकि उसमे उसके समर्थक स्पष्ट बहुमत मे नहीं आ पाते थे। 1912 मे चौथी ड्यूमा का चुनाव हुआ। उसमें 93 प्रतिशत लोग पूंजीवाद के समर्थक आ गये। वे भी जनता के सही प्रतिनिधि नहीं थे। इस कारण ड्यूमा की घोषणा उल्टी क्रांति का कारण बन गई।

4.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 – सेव्रे की सन्धि कब हुई ?

उत्तर – .....

प्रश्न 2 – कमाल पासा के शिक्षा में सुधारों पर टिप्पणी लिखिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – .....

प्रश्न 3 – टर्की के अभ्युदय में कमाल पासा के योगदान को समझाईये ?

उत्तर – .....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) तृतीय वर्ष

विषय : इतिहास

द्वितीय पत्र : आधुनिक विश्व इतिहास के इतिहास की रूपरेखा

(1453 ई.–1950 ई.)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग

संवर्ग–1	पुनर्जागरण ए वं सुधार आन्दोलन
संवर्ग–2	विभिन्न क्रान्ति एवं यूरोप की संयुक्त व्यवस्था
संवर्ग–3	इटली एवं जर्मनी का एकीकरण
संवर्ग–4	प्रथम विश्वयुद्ध : कारण एवं परिणाम
संवर्ग–5	द्वितीय विश्वयुद्ध : कारण एवं परिणाम

विशेषज्ञ समिति

1. श्रीमती संतोष व्यास
2. श्रीमती स्वाति चतुर्वेदी
3. डॉ. अरुणा सोनी
4. श्रीमती कंचन भार्गव

लेखक

डॉ अरुणा सोनी

कॉपीराइट
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 200

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान,, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

संवर्ग – 1 : पुनर्जागरण ए वं सुधार आन्दोलन

इकाई – 1	पुनर्जागरण	1
इकाई – 2	धर्म सुधार आन्दोलन	11
इकाई – 3	प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन	19
इकाई – 4	अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम	25

संवर्ग – 2 : विभिन्न क्रान्ति एवं यूरोप की संयुक्त व्यवस्था

इकाई – 1	औद्योगिक क्रान्ति	39
इकाई – 2	फ्रांस की राज्य क्रान्ति	42
इकाई – 3	नेपोलियन बोनापार्ट	46
इकाई – 4	वियना सम्मेलन	58
इकाई – 5	यूरोप की संयुक्त व्यवस्था	68

संवर्ग – 3 : इटली एवं जर्मनी का एकीकरण

इकाई 1	1848 की फ्रांसीसी क्रांति	78
इकाई – 2	इटली का एकीकरण	88
इकाई – 3	जर्मनी का एकीकरण	100
इकाई – 4	पूर्वी समस्या विशेषतः क्रीमिया युद्ध और बर्लिन समझौता के सन्दर्भ में	112

संवर्ग – 4 : प्रथम विश्वयुद्ध : कारण एवं परिणाम

इकाई – 1	अफ्रीका में साम्राज्यवाद : कारण एवं परिणाम	121
इकाई – 2	प्रथम विश्व युद्ध : कारण एवं परिणाम	126
इकाई – 3	बोल्शेविक क्रांति : कारण और परिणाम	138
इकाई – 4	वर्साय समझौता	146
इकाई – 5	इटली में फासीवाद	153
इकाई – 6	जर्मनी में नाजीवाद	159

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग – 5 : द्वितीय विश्वयुद्ध : कारण एवं परिणाम

इकाई – 1	द्वितीय विश्व युद्ध : कारण एवं परिणाम	165
इकाई – 2	राष्ट्रसंघ : उद्देश्य, उपलब्धियाँ एवं अफसलता के कारण	174
इकाई – 3	संयुक्त राष्ट्र : स्थापना, संगठन एवं उपलब्धियाँ	185
इकाई – 4	टर्की का आधुनिक राष्ट्र के रूप में अभ्युदय	192

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun